संस्कृत साहित्य का इतिहास

ओम्प्रकाश सिंहल
महेन्द्र कुमार

6

संस्कृत साहित्य का इतिहास

संस्कृत-साहित्य का इतिहास

लेखक

ओम्प्रकाश सिंहल
एम.ए., पी-एच.डी

महेन्द्र कुमार सिंहल
एम.ए., पी-एच.डी.

प्रकाशक

हिन्दी साहित्य संसार

दिल्ली - ६ :: पटना-४

Sanskrit Sahitya Ka Itihas
By Dr. Mahender Kumar Sinhal
Om Prakash Sinhal
Price : Rs. 10-00

प्रकाशक । हिन्दी साहित्य संसार
१५४३, अमीर चन्द्र मार्ग, दिल्ली-११०००६
ब्रांच : खजांची रोड, पटना-४
मूल्य : दस रुपये (१०-००)
मुद्रक : अशोक कुमार रावत
अशोक प्रिंटर्स, ८०७/१६ए/५/३
रतन गली, धर्मपुरा, गांधीनगर, दिल्ली-३१

पंचम संस्करण की भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक के चार संस्करणों का अत्यल्प अवधि में बिक जाना इस बात का यथेष्ट प्रमाण था कि पाठक-पाठिकाओं ने इसे मनोनुकूल पाया है। परन्तु हमारे लिए केवल इतने से ही संतोष कर लेना ठीक न था। हमारी यह हार्दिक इच्छा थी कि इसका नया संस्करण पिछले चारों संस्करणों से कहीं अधिक उपयोगी होना चाहिए। यह तभी सम्भव था जब इसमें उन सभी विषयों का समावेश कर दिया जाता जो किन्हीं कारणों से पिछले संस्करणों में सम्मिलित नहीं किए जा सके थे। खेद है कि अनेक कारणों से यह कार्य ठीक समय पर सम्पन्न न हो सका जिसके फलस्वरूप यह पुस्तक लगभग दो वर्षों तक अप्राप्य रही। अब भी मनोनुकूल रूप देने के लिए अपेक्षित समय नहीं मिल पाया। इधर शुभचिंतकों, मित्रों, पाठकों तथा पुस्तक विक्रेताओं का आग्रह था कि पुस्तक को अविलम्ब प्रकाशित किया जाये। परिणामतः मनोनुकूल संशोधन न कर पाने पर भी हमें अपनी इस कृति को प्रकाशित करने के लिए बाध्य होना पड़ रहा है।

प्रस्तुत संस्करण में सारी सामग्री को नये सिरे से नियोजित किया गया है तथा जहां कहीं शृंखला टूटी हुई प्रतीत हुई वहां नई सामग्री जोड़ दी गई है। कतिपय नये किन्तु महत्त्वपूर्ण विषयों यथा रूपक के तत्त्व, कालिदास और शूद्रक की नाट्यकला, संस्कृत साहित्य के अध्ययन-अन्वेषण में अत्यन्त उत्साह और परिश्रमपूर्वक निरन्तर कार्यरत रहने वाले कतिपय विदेशी विद्वानों आदि का भी समुचित विवेचन कर दिया गया है। इस प्रकार इस संस्करण को पिछले संस्करण से अधिक उपादेय बनाने का यथासम्भव पूरा प्रयास किया गया है।

प्रस्तुत संस्करण की पाण्डुलिपि तैयार करते समय हमें अनेक हितैषियों यथा सर्वश्री धर्मपाल वर्मा, श्री नित्यानन्द शर्मा, डा० देवकन्या, डा० राजेन्द्र कुमार शर्मा आदि से अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव मिले हैं। हम इन तथा अन्य सभी व्यक्तियों के हृदय से आभारी हैं तथा हमारा यह पूर्ण विश्वास है कि पाठकवृन्द इस संस्करण को पिछले संस्करण से उपादेय पायेंगे।

—लेखकवृन्द

विषय-सूची

१ | विषय-प्रवेश

प्रश्न १—संस्कृत भाषा और साहित्य के महत्त्व पर एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए।

संस्कृत भाषा विश्व की प्राचीनतम एवं श्रेष्ठतम भाषा है। इसका साहित्य आज भी साहित्य-रसिकों का कण्ठहार बना हुआ है। आज भी स्वल्प मात्रा में ही सही, संस्कृत-वाङ्मय का प्रणयन हो रहा है, पत्रिकाएँ प्रकाशित होती हैं, नाटक अभिनीत होते हैं और धाराप्रवाह भाषण दिये जाते हैं। इतना ही नहीं काश्मीर से कन्याकुमारी तक भारतीयों के सांस्कृतिक और धार्मिक कृत्यों, पूजा-पद्धतियों एवं संस्कारों में संस्कृत भाषा का समानरूपेण प्रयोग होता है।

संस्कृत भाषा की मूल विशेषता इसके शब्द-भण्डार का अक्षय और अनन्त होना है। इस भाषा का यौगिक शब्द-निर्माण यन्त्र इतना वैज्ञानिक और समर्थ है कि उसके द्वारा आवश्यकतानुसार प्रत्येक विषय के नवीन शब्दों का निर्माण सरलता से सम्पन्न हो जाता है। फलतः इस भाषा में शब्दों का अभाव तनिक भी नहीं है।

वस्तुतः भिन्न-भिन्न अवस्थाओं, प्रसंगों, वस्तुओं, भावों और रसों की व्यंजना के लिए तदनुकूल वर्णों, शब्दों और क्रियाओं के प्रयुक्त करने की सुविधा एकमात्र संस्कृत भाषा में ही है। एक या दो अक्षरों द्वारा सम्पूर्ण श्लोक का निर्माण करना, एक ही श्लोक से प्रसंग-संगतिपूर्वक दो-दो और तीन-तीन कथाओं का आदि से अन्त तक निर्वाह करना संस्कृत भाषा की आश्चर्यजनक और कौतूहलपूर्ण विशेषता है।

संस्कृत भाषा के प्रत्येक शब्द का निर्माण किसी विशेष अर्थ को लेकर हुआ है। प्रत्येक शब्द के पीछे इतिहास है, विकास क्रम है, प्रयोजन है, निरुक्ति है, व्युत्पत्ति

है और है वैज्ञानिक वर्गीकरण। उदाहरण के लिए संस्कृत भाषा में पत्नी के लिए अनेक शब्द हैं, यथा पाणिगृहीती, द्वितीया, सहधर्मिणी, भार्या, जाया और दारा; किन्तु यहाँ प्रत्येक शब्द का अर्थ क्रमिक विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का अभिद्योतक है, यथा—पाणिग्रहण होने के समय पाणिगृहीती और उसके अनन्तर द्वितीया। द्वितीया होने पर सहधर्मिणी और सहधर्मिणी रूप में घर का भरण-पोषण करने के उपरान्त भार्या। तदनन्तर जाया और अन्ततः विशाल परिवार की स्वामिनी होने के उपरान्त दारा। इस प्रकार पत्नी से दारा तक सभी नाम स्त्री के होते हुए भी अवस्था-भेद से स्वतन्त्र अर्थ रखते हैं। इसी प्रकार मनुष्य के जन, लोक, पुरुष, नर आदि शब्दों में मानव की उत्पत्ति से उच्चतम अवस्था में पहुँचने तक का इतिहास अन्तर्निहित है।

संस्कृत भाषा की सर्वोत्कृष्ट विशेषता इसकी शास्त्रीय उच्चारण-पद्धति है। स्वर-शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् भारतीय ऋषियों ने नाद-विज्ञान का गम्भीर गवेषण किया था जिसकी महत्ता का उद्घोष प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् ई० एच० जोनस्टन इन शब्दों में करते हैं, "प्राचीन भारतीय विद्वानों को नाद और ध्वनि तरंगों के विविध प्रकार का असाधारण और अति सूक्ष्म ज्ञान था। शब्दोच्चारण और उसके अर्थों के मधुर संगम से जो महान अलौकिक आनन्द उत्पन्न होता है, वह अन्य भाषा और साहित्य में सर्वथा असम्भव है।"

केवल भाषा की दृष्टि से ही नहीं साहित्य की दृष्टि से भी संस्कृत साहित्य संसार के सभ्य साहित्यों में अनुपम और अद्वितीय है। प्राचीनता, व्यापकता, सांस्कृतिक मूल्य और सौन्दर्य-सृष्टि सभी क्षेत्रों में यह विश्व के किसी भी साहित्य से टक्कर ले सकता है।

प्राचीनता—पाश्चात्य विद्वानों ने विश्व का प्राचीनतम साहित्य मिस्र देश के साहित्य को माना है, किन्तु यह भी विक्रम के चार हजार वर्ष पूर्व से अधिक प्राचीन नहीं है; लेकिन बाल गंगाधर तिलक की निर्भ्रांत ज्योतिष गणना के अनुसार वेदों का रचना-काल विक्रम के छः हजार वर्ष से भी पूर्व का है और तब से लेकर अब तक यह निरन्तर वृद्धि करता जा रहा है।

व्यापकता—व्यापकता की दृष्टि से भी संस्कृत साहित्य अत्यन्त गौरवशाली है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों के ऊपर ग्रन्थ प्रस्तुत करने का श्रेय इसे ही प्राप्त है। विज्ञान, ज्योतिष, वैद्यक, स्थापत्य, कला-कौशल

और पशु-पक्षी सम्बन्धी लक्षण-ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं।

सांस्कृतिक मूल्य—सांस्कृतिक दृष्टि से भी संस्कृत साहित्य विश्व-साहित्य में गौरवपूर्ण स्थान रखता है। भारतीय इतिहास तथा संस्कृति के अध्ययन के लिए सबसे अधिक सामग्री यहीं उपलब्ध होती है।

सौन्दर्य-सृष्टि—विशुद्ध कलात्मक दृष्टि से भी संस्कृत साहित्य अपनी विशेषता रखता है। पं० बलदेव उपाध्याय के शब्दों में, "जिस साहित्य में कमनीय कविता के स्रष्टा कालिदास हुए, मानव हृदय के परम पारखी सरस्वती के अनुपम लास्य दिखाने वाले भवभूति जैसे नाटककार हुए, त्रिलोकसुन्दरी कादम्बरी की कमनीय कथा सुना-सुनाकर श्रोताओं को भक्त बनाने वाले बाणभट्ट जैसे लब्धप्रतिष्ठ लेखक हुए, कोमल-कांत पदावली के द्वारा विद्वानों के हृदय में मधुर रस की वर्षा करने वाले जयदेव जैसे गीति काव्य के लेखक हुए और जिसे काव्य और दर्शन का अपूर्व सम्मिलन दिखाने वाले श्रीहर्ष जैसे कवि पंडित ने अपनी सुन्दर शब्द-तूलिका से चित्रित कर रम्य आकार प्रदान किया, उस साहित्य की कलात्मक दृष्टि से उपयोगिता बतलाना नितान्त उपहासास्पद व्यापार होगा।" केवल पं० बलदेव उपाध्याय ही नहीं अपितु अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस साहित्य के कलात्मक सौन्दर्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। यदि डॉ० कीथ के शब्दों में संस्कृत साहित्य की महत्ता इस प्रकार है, "भारत के महान् कवियों ने व्युत्पन्न रसिकों के लिए काव्य निबद्ध किये हैं। वे अपने समय के पाँडित्य के अधिपति थे, भाषा के प्रयोग में अभ्यस्त थे और अभिव्यञ्जना की सूक्ष्मता के द्वारा, प्रभाव की सरलता के द्वारा नहीं, श्रोताओं को अनुरञ्जित करना चाहते थे। उनके पास अत्यधिक कमनीय भाषा-शैली थी और विचित्र प्रभावोत्पादक छन्दों पर उनका पूर्ण अधिकार था।" तो विंटरनित्ज का कथन है—"लिटरेचर (साहित्य) अपने व्यापक अर्थ में जो कुछ भी सूचित कर सकता है वह संस्कृत में विद्यमान है। धार्मिक और इतिहासपरक रचनाएँ, महाकाव्य, लिरिक, नाटकीय और नीति-सम्बन्धी कविता वर्णनात्मक, अलंकृत और वैज्ञानिक गद्य सब-कुछ इसमें भरा पड़ा है।"

प्राचीनता, व्यापकता, कलात्मकता आदि की दृष्टि से ही नहीं अपितु धर्म

एवं दर्शन के विकास के परिचय की दृष्टि से भी संस्कृत साहित्य बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान मेक्डोनल ने इस सम्बन्ध में लिखा है, "भारोपीय वंश की केवल भारत-निवासिनी शाखा ही इसमें ऐसी है, जिसने वैदिक धर्म नामक एक बड़े जातीय धर्म और बौद्ध धर्म नामक बड़े सार्वभौम धर्म की रचना की। अन्य शाखाओं ने इस क्षेत्र में मौलिकता न दिखलाकर बहुत पहले से एक विदेशीय धर्म को अपनाया। इसके अतिरिक्त भारतीयों ने स्वतन्त्रता से अनेक दर्शन सम्प्रदायों को विकसित किया, जिनसे उनकी ऊंची चिन्तन-शक्ति का प्रमाण मिलता है।" केवल इतना ही नहीं यूरोपीय संस्कृति और विचारों के क्रमिक विकास को समझने के लिए भी संस्कृत साहित्य के अध्ययन की आवश्यकता है। विंटरनिट्ज का कथन है, "यदि हम अपनी ही संस्कृति के प्रारम्भिक दिनों की अवस्था को जानने की इच्छा रखते हों, यदि हम सबसे पुरानी भारोपीय संस्कृति को समझना चाहते हों तो हमें भारत की शरण लेनी होगी, जहाँ एक भारोपीय जाति का सबसे पुराना साहित्य सुरक्षित है।"

अन्ततः संस्कृत भाषा और साहित्य की महत्ता के सम्बन्ध में डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में इतना ही कहा जा सकता है—"संस्कृत साहित्य को एक सरसरी निगाह से देखने पर हजारों वर्षों से निरन्तर प्रवाहमान मानव-चिन्तन का एक विराट स्रोत प्रत्यक्ष दिखाई दे जाता है। हम हजारों वर्ष के मनुष्य के साथ एक सूत्र में आबद्ध हो जाते हैं।

प्रश्न २—'पाश्चात्य जगत में संस्कृत का प्रचार कैसे हुआ' इस विषय पर एक आलोचनात्मक लेख लिखिए।

मध्यकाल अर्थात् ६०० से १५०० ई० तक में यूरोप पंचतंत्र तथा आर्यों की विद्वत्ता के सम्बन्ध में नानाविध कथाएँ प्रचलित हो गई थीं, किन्तु इतने होने पर भी यूरोपवासियों को आर्यों की भाषा अथवा संस्कृत के विपुल साहित्य के सम्बन्ध में तनिक भी ज्ञान न था। १७वीं शताब्दी में कुछ यूरोपियन प्रचारकों ने संस्कृत सीखी और सन् १६५१ ई० में भर्तृहरि के शतकों का डच भाषा में अनुवाद किया गया। परन्तु यूरोपवासी संस्कृत-साहित्य से अब भी अपरिचित ही रहे। १७वीं शताब्दी में ही किसी यहूदी प्रचारक ने यजुर्वेद की एक बनावटी प्रति तैयार की और १८वीं शताब्दी के मध्य में मि० वाल्टेयर ने इसे

ही असली प्रति समझकर इसका बड़ा आदर किया। किन्तु इस प्रति के कारण यूरोप में अनेक भ्रमों का पोषण भी हुआ। यूरोपीय विद्वानों की धारणा हो गई कि संस्कृत साहित्य ही नहीं अपितु संस्कृत भाषा भी एक कृत्रिम भाषा है जिसे सिकन्दर के आक्रमण के उपरान्त ग्रीक भाषा की नकल पर ब्राह्मणों ने गढ़ लिया था। इसी धारणा की पुष्टि उन्नीसवीं शताब्दी की चौथी दशाब्दी में डब्लिन के एक प्रोफेसर के द्वारा भी की गई।

अठारहवीं शताब्दी में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारियों ने भारतीयों पर शासन करने के लिए भारत की भाषा, साहित्य, धर्म और प्रथाओं के ज्ञान की आवश्यकता का अनुभव किया। फलतः तत्कालीन गवर्नर जनरल वारन हेस्टिंग्ज ने इस दिशा में कार्य करने के लिए दृढ़ संकल्प कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि १७१६ ई० में फारसी अनुवाद के माध्यम से संस्कृत की कानूनी पुस्तकों का एक सार-संग्रह अंग्रेजी भाषा में तैयार किया गया। वारन हेस्टिंग्ज की प्रेरणा के फलस्वरूप चार्ल्स विल्किंस ने बनारस में संस्कृत का पर्याप्त अध्ययन किया और तदुपरान्त १७८५ ई० में भगवद्गीता तथा १७८८ ई० में हितोपदेश का सुन्दर अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया। इस प्रकार उसने पाश्चात्य साहित्य-जिज्ञासुओं को भारतीय रचनाओं का सर्वप्रथम आस्वादन कराया।

विल्किंस के अनन्तर संस्कृत के अध्ययन में पर्याप्त अभिरुचि दिखाने वाला व्यक्ति सर विलियम जोंस है। इन्होंने पर्याप्त श्रम और धन के व्यय करने के उपरान्त संस्कृत विषयक अध्ययन किया। तदुपरान्त उन्होंने सन् १७८४ में एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल की स्थापना की तथा प्राचीन भारतीयता से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण निबन्ध प्रकाशित किए। इतना ही नहीं सन् १७८९ में इन्होंने अभिज्ञान शाकुन्तलम् और मनुस्मृति के अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किए तथा सन् १७९२ में ऋतुसंहार का मूल संस्कृत पाठ प्रकाशित कर संस्कृत पुस्तक के सर्वप्रथम प्रकाशन का श्रेय प्राप्त किया।

इसके अनन्तर संस्कृत भाषा और साहित्य के अध्ययन में अत्यधिक अभिरुचि का परिचय देने वाला व्यक्ति हेनरी टामस कोलब्रुक है। इन्होंने ही इससे पहले अपनी गम्भीरता और उद्योगशीलता से संस्कृत भाषा और साहित्य के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग किया। इन्होंने संस्कृत वाङ्मय के

लगभग सभी क्षेत्रों से सम्बन्धित निबन्धों का प्रकाशन किया। इन्होंने संस्कृत के कतिपय महिमाशाली ग्रन्थों का मूल पाठ और अनुवाद भी प्रस्तुत किया। इनके द्वारा प्रस्तुत की गई सामग्री परवर्त्ती विद्वानों के लिए बहुत उपकारिणी सिद्ध हुई।

इसी काल में अलेक्जेण्डर हैमिल्टन (१७६५—१८२४ ई०) ने भी संस्कृत का अच्छा अध्ययन किया था। १८०२ ई० में जब ये अपने घर —इंग्लैण्ड को— लौट रहे थे तो इंग्लैण्ड और फ्रांस में नए सिरे से लड़ाई छिड़ गई और इन्हें बंदी बना लिया गया। बंदी की अवस्था में ये पेरिस में रहे। वहाँ इन्होंने फ्रांसीसी विद्या-प्रेमियों और प्रसिद्ध जर्मन कवि फ्रेडरिक श्लैगल (Friedrich Schlegel) को संस्कृत पढ़ाना आरम्भ कर दिया। इस महत्वपूर्ण कार्य का यह परिणाम हुआ कि १८०८ ई० में श्लैगल ने 'भारतीयों की भाषा और विद्वत्ता' (On the Language and Wisdom of Indians) नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का प्रकाशन किया। इस ग्रन्थ के प्रकाशन के परिणामस्वरूप यूरोप में संस्कृत-विद्या के अध्ययन में एक क्रांति उत्पन्न हो गयी। भाषाविज्ञान की तुलनात्मक और ऐतिहासिक शैली भी इसी पुस्तक ने प्रदान की। इस ग्रन्थ ने जर्मनी में संस्कृत भाषा और साहित्य के अध्ययन के प्रति बड़ा भारी उत्साह उत्पन्न किया और इसी पुस्तक से प्रेरित होकर सन् १८१६ ई० में एफ. बॉप (F. Bopp) ने ग्रीक, लेटिन, जर्मन और फारसी संधि प्रकरण के साथ तुलना करते हुए संस्कृत के संधि प्रकरण पर एक पुस्तक लिखी जिससे तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का सूत्रपात हुआ।

आरम्भ में पश्चिमी विद्वानों का अध्ययन लौकिक संस्कृत संवन्धी भाषा और साहित्य तक ही सीमित था। कोल्ब्रुक ने यद्यपि वेदों का एक प्रामाणिक विवरण दे दिया था और इसके उपरान्त जर्मन विद्वान भी अधिक गम्भीरता से वैदिक ग्रन्थों के अध्ययन में जुट गए थे, किन्तु इस प्राचीनतम साहित्य को पश्चिम में अधिक प्रचलित करने का श्रेय एफ. रोज़न (F. Rosen) नामक विद्वान् को ही प्राप्त है। इन्होंने ही प्रथम वार ऋग्वेद संहिता का सम्पादन किया, जिसके प्रथम आठ मण्डल इनकी मृत्यु के शीघ्र वाद ही १८३८ ई० में प्रकाशित हुए।

एफ. रोजन के उपर्युक्त कार्य को आगे बढाने वालों में आर. रॉथ का नाम

विशेषरूप से उल्लेखनीय है। इन्होंने सन् १८४६ ई० में वैदिक साहित्य और इतिहास (On the Literature and History of the Vedas) नामक ग्रन्थ का प्रकाशन किया। इस पुस्तक के प्रकाशन ने यूरोप में वैदिक साहित्य के अनुशीलन को तेज करने में और अधिक सहायता प्रदान की। इतना ही नहीं इन्होंने वैदिक भाषा के गम्भीर विवेचन-विश्लेषण की नींव डाली।

आर. रॉथ के अथक परिश्रम और अद्भुत कार्य-क्षमता ने अनेक यूरोपीय विद्वानों का उत्साहवर्द्धन किया। वीयाना के प्रो० बूह्लर ने विश्व के विभिन्न देशों के लगभग तीस विद्या-विशारदों की सहायता के बल पर समग्र वैदिक और लौकिक संस्कृत साहित्य का एक विशाल विश्वकोष प्रकाशित करने का बीड़ा उठाया। १८९८ ई० में उनका स्वर्गवास हो जाने पर गोटिंजन के प्रोफेसर कीलहार्न ने इस परम वृहदाकार ग्रंथ को पूर्ण करने का संकल्प किया। लगभग इसी समय में ए० कुह्न (A. Kuhn) और मैक्समूलर (Max Muller) ने बड़े उत्साह और परिश्रम के साथ वैदिक धर्म को अपने अध्ययन का विषय बनाया। इसके अनुसंधानों के परिणामस्वरूप तुलनात्मक पुराण-विद्या के अनुशीलन का श्रीगणेश हुआ।

इस प्रकार वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ होने तक पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत के प्रायः सभी वैदिक और लौकिक ग्रंथों का सम्पादन तथा अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का अनुवाद कर लिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि अनुसंधान के लिए अपेक्षित सामग्री एवं क्षेत्र का निर्माण हो गया। अनेक अन्य विद्वान् भारतीय आर्यों के प्राचीन साहित्य आदि के अनुसंधानों में और अधिक परिश्रम के साथ लग गए। मेक्डोनल, हॉपकिंस, हॉविट्ज, विंटरनिट्ज, पार्जिटर, पीटर्सन, हर्टल, ऐजर्टन, रिजवे, कीथ आदि विद्वानों ने वैदिक और लौकिक संस्कृत साहित्य से सम्बद्ध अनेक महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्रदान की हैं।

अन्ततः कहा जा सकता है कि पश्चिम में जिस संस्कृताध्ययन का श्रीगणेश हुआ उसकी देन बहुविध है। संस्कृत साहित्य के अनुशीलन के लिए तुलनात्मक, ऐतिहासिक और वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान करने में उनका बहुत बड़ा हाथ है। ग्रन्थों के सम्पादन, पाठों के संशोधन, परिशिष्ट आदि के प्रचलन, इतिहास-लेखन तथा सुन्दर संस्करणों को प्रस्तुत करने में पाश्चात्य विद्वानों का महत्त्वपूर्ण

योगदान है। फलतः संस्कृत साहित्य के भारतीय पाठक और विद्वान उनके चिर-ऋणी रहेंगे।

प्रश्न ३—निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :—

(क) डॉ० बूलर, (ख) वेबर, (ग) मेक्डोनल, (घ) कीथ।

डॉ० जे० जी० बूलर : संस्कृत साहित्य के अनुशीलन में अपना जीवन समर्पित कर देने वाले प्रतिभासम्पन्न मनस्वियों में जर्मन विद्वान् बूलर, विशेष-रूपेण उल्लेखनीय हैं। आपका जन्म जर्मनी के हनोवर राज्य के वोरटेल नामक ग्राम में हुआ था। आपके पिता पादरी थे, फलतः आपके मन पर बचपन से ही धार्मिक विचारों का अत्यधिक प्रभाव था। आपकी आरम्भिक शिक्षा-दीक्षा अपने गाँव की पाठशाला में हुई तथा उच्च-शिक्षा गोटिंजन विश्वविद्यालय में। यहीं पर आप प्रसिद्ध विद्वान् वेनफे के सम्पर्क में आए। वेनफे के सम्पर्क ने आपकी संस्कृत-ज्ञान-सम्बन्धी जिज्ञासा को निरन्तर जागृत किया। जिसके फलस्वरूप आपके मन में दिन-प्रतिदिन यही चिन्ता रहने लगी कि किस प्रकार भारतीय साहित्य का अनुशीलन कर उससे लाभान्वित हुआ जाए। एक ओर आप इस चिन्ता से चिन्तित थे किन्तु दूसरी ओर पारिवारिक एवं आर्थिक कठिनाइयाँ व्यग्र बनाए हुए थीं। परन्तु आपके ज्ञान-पिपासु मन ने आर्थिक कठिनाइयों की तनिक भी चिन्ता न की और आपने भारतीय हस्तलिखित ग्रन्थों का अन्वेषण कार्य आरम्भ कर दिया। इसी सम्बन्ध में आपको पेरिस, लन्दन, ऑक्सफोर्ड आदि स्थानों का भ्रमण करना पड़ा। संयोगवश लन्दन में आपकी भेंट प्रसिद्ध विद्वान् मैक्समूलर से हो गई। आपने मैक्समूलर के समक्ष अपनी योग्यता प्रस्तुत की तथा उन्होंने आपके कार्य में यथासम्भव सहायता की।

लंदन में रहते हुए ही आपकी नियुक्ति विंडसर के राजकीय ग्रंथालय में सह-पुस्तकालयाध्यक्ष के रूप में हो गई। यहाँ आपने लगभग तीन वर्ष तक कार्य किया तथा निरन्तर अध्ययन करते रहे। तदुपरांत आप गोटिंजन के विश्वविद्यालय पुस्तकालय में सह-पुस्तकालयाध्यक्ष के रूप में कार्य करने लगे लेकिन निरन्तर अध्ययनरत रहते हुए आपके मन में भारत आने तथा भारतीय विद्वानों के संपर्क से ज्ञान-लाभ प्राप्त करने की इच्छा अधिकाधिक बलवती होने लगी। आपने अपनी इस मनोकामना से मैक्समूलर को भी परिचित कराया। मैक्समूलर भी

वेद्याव्यसनी थे तथा अध्ययनशील व्यक्तियों की निरन्तर सहायता करते रहते
, फलतः उन्होंने बम्बई शिक्षा-विभाग के तत्कालीन अध्यक्ष हार्वर्ड महोदय को
क सिफारिशी पत्र लिखा और डॉ० बूलर की भारत-यात्रा का प्रबन्ध कर दिया।
म्बई आने पर डॉ० बूलर को विदित हुआ कि उन्हें जिस स्थान के लिए
ारत बुलाया गया था उसकी पूर्त्ति उनके आने से पूर्व ही हो चुकी थी। यह
ात होने पर आपको अत्यधिक दुःख हुआ। परन्तु जब मैक्समूलर को इस बात
ी सूचना मिली तो उन्होंने अलेक्जेंडर महोदय को एक पत्र लिखा जिसके
लस्वरूप उन्होंने आपको अपने कॉलेज में स्थान दे दिया। इस प्रकार से कार्यो-
लब्धि होने के उपरांत आपने १७ वर्ष तक बम्बई-शिक्षा-विभाग में कार्य किया।
शिक्षा विभाग में कार्य करते समय आपने अध्ययन भी जारी रखा तथा समय-
मय पर भारतीय पंडितों से विचार-विनिमय करते हुए भारतीय स्मृति ग्रंथों
ा विशेष रूप से अनुशीलन किया।

अध्यापन कार्य से निवृत्ति पाने के अनन्तर आपने लेखन-कार्य आरम्भ किया।
दिक साहित्य तथा भाषा विज्ञान पर आपने अनेक गवेषणापूर्ण लेख लिखे।
चतन्त्र, दशकुमारचरित, विक्रमांकदेवचरित आदि के सम्पादन द्वारा आपने
स्कृत-साहित्य के अध्येयताओं की बहुत सेवा की। परन्तु आपका सर्वाधिक
हत्त्वपूर्ण कार्य वे खोज रिपोर्ट हैं जिनके द्वारा आपने लगभग २३०० मूल्यवान्
ाशोन्मुख पोथियों को प्राणदान दिया और इस प्रकार साहित्यानुरागियों के
ानभण्डार की अभिवृद्धि करने के लिए अद्वितीय प्रयास किया। आपका एक
न्य महत्त्वपूर्ण कार्य वीयाना में 'ओरियेण्टल इन्स्टीट्यूट' की स्थापना तथा
िश्व के तीस विभिन्न विद्वानों के सहयोग से 'एन्साइक्लोपीडिया ऑफ इंडो-आर्यन
िसर्च' नामक ग्रंथ का सम्पादन है।

आपके निधन की कथा अत्यन्त कारुणिक है। सन् १८९८ में ईस्टर पर्व
ाने के लिए आपने वीयाना से ज्यूरिच के लिए प्रस्थान किया। मार्ग में पड़ने
ली कैंस्टैन्स झील को देखकर आपके मन में नौका-विहार की इच्छा जागृत हो
ी और आप अपने पुत्र तथा पत्नी सहित वहीं पर रुक गए। परन्तु नियति का
िधान कुछ और ही था। ८ अप्रैल को झील में नौका-विहार करते समय आप
ूसा जल-समाधिस्थ हो गए।

वेबर :—जीवन-पर्यन्त संस्कृत भाषा और साहित्य के अध्ययन-अनुशीलन

में दत्तचित्त रहने वाले विद्वानों में जर्मन विद्वान् वेबर का नाम चिरस्मर रहेगा। आपका सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य शुक्ल यजुर्वेद का सम्पादन है। आ दूसरी महत्त्वपूर्ण कृति 'इण्डिशयन स्टूडियन' (Indishen Studien) सत्रह खण्डों में विभक्त इस ग्रन्थ में भारतीय साहित्य का विवेचनात्मक इति प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ की रचना में आपको ३५ वर्ष तक घोर परि करना पड़ा। ग्रन्थ-प्रणयन का कार्य १८५० में आरम्भ हुआ तथा सन् १८८ सम्पन्न हुआ। आपका तीसरा महत्त्वपूर्ण कार्य है—बर्लिन के राजकीय वि विद्यालय में संगृहीत संस्कृत की हस्तलिखित पोथियों का बृहत् सूची पत्र तै करना। साहित्य के शोधार्थियों के लिए वेबर द्वारा संपादित ये सूची पत्र अत्य महत्त्वपूर्ण हैं। शतपथ ब्राह्मण का सायण, हरिस्वामी और गंगाचार्य की टीक सहित सम्पादन, कात्यायन-श्रोतसूत्र का प्रकाशन आदि आपकी कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाएँ है।

मेक्डोनल : आपका जन्म ११ मई, १८५४ ई० को मुजफ्फरपुर में हुआ आपके पिता का नाम अलेक्जेण्डर मेक्डोनल था तथा वे भारतीय सेना में उच्च पदाधिकारी थे। इस प्रकार जन्म-स्थान की दृष्टि से आपको भारतीय जा सकता है और यह अनुमान किया जा सकता है कि आपने संस्कृत-साहित्य अनुशीलन भारत में ही किया होगा। परन्तु वास्तविकता इसके नितान्त रीत है। आपकी शिक्षा-दीक्षा गोटिंजन (जर्मनी) तथा ऑक्सफोर्ड में स हुई। हां, यह अवश्य है कि भारतीय साहित्य तथा संस्कृताचार्यों के प्रति मन में प्रभूत श्रद्धा थी। आपने सन् १९०७ में छः-सात मास के लिए यात्रा की थी तथा कुछ अनुपलब्ध ग्रंथों को अत्यन्त परिश्रमपूर्वक खोज नि था।

आपने वैदिक साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया था। वैदिक सा की अनुपलब्ध पुस्तकों को खोजकर उपयुक्त पाठ प्रस्तुत करने के लिए सं साहित्यानुरागी आपके सदा ऋणी रहेंगे। इस दिशा में ऋग्वेद पर का कृत सर्वानुक्रमणी की पाठशोध आपकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति है। कृति पर आपको लिपजिक विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि की गई थी। आपकी दूसरी महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट है। यद्यपि यह ग्रन्थ सन् १९०० में लिखा गया था किन्तु संस्कृत साहि

अध्येताओं के लिए आज भी बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है। वैदिक रीडर, वैदिक ग्रामर तथा वैदिक इन्डेक्स, वैदिक माइथोलॉजी आदि आपकी अन्य महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं।

कीथ : विद्याव्यसनी तथा भारतीय साहित्यानुरागी विद्वानों में कीथ का नाम विशेपरूपेण उल्लेखनीय है। आपका पूरा नाम आर्थर वेरिडोल. कीथ था तथा आपका जन्म सन् १८७९ में ब्रिटेन के डैनावार नामक प्रदेश में हुआ था। आपकी शिक्षा-दीक्षा एडिनवरा तथा ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में हुई थी तथा संस्कृत साहित्य एवम् भाषाविज्ञान नाम्नी दिशाओं में आपने विशेष अध्ययन किया था। विश्वविद्यालीय शिक्षा सम्पन्न हो जाने के उपरान्त आप एडिनवरा विश्वविद्यालय में प्राध्यापक के रूप में तीस वर्ष तक कार्य करते रहे। आपकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति 'हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर' है जो सन् १९२८ में लिखी जाने पर भी आज सर्वाधिक प्रामाणिक मानी जाती है 'संस्कृत ड्रामा', 'रिलिजन एण्ड फिलासफी ऑफ वेद ऐण्ड उपनिषद्स', 'बुद्धिस्ट फिलासफी इन इण्डिया ऐण्ड सीलोन' आपकी कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं।

प्रश्न ४—'संस्कृत एक बोलचाल की भाषा थी' विवेचना कीजिए।

संस्कृत भाषा पर विचार करते समय यह जानना आवश्यक है कि लोक-व्यवहार में उसका रूप क्या था। वह बोलचाल की भाषा थी अथवा नहीं। इस सम्वन्ध में विद्वानों की प्रमुखतः दो धारणाएँ हैं। एक धारणा के अनुसार तो प्राकृत ही बोलचाल की भाषा थी, संस्कृत केवल साहित्यिक भाषा थी और दूसरी धारणा के अनुसार संस्कृत बोलचाल की भाषा भी रही है। अब हम इन्हीं दोनों धारणाओं में से उचित मत की प्रस्थापना कर उसका विवेचन करेंगे।

महर्षि यास्क ने निरुक्त नामक महत्वपूर्ण ग्रन्थ का प्रणयन किया जिसमें कठिन वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति दिखलाई गई। इस ग्रन्थ से यह प्रमाणित होता है कि संस्कृत बोलचाल की भाषा थी। वैदिक संस्कृत से भिन्न साधारण जनता की जो बोली थी उसको यास्क ने स्थान-स्थान पर भाषा कहा है। उन्होंने वैदिक कृदंत शब्दों की व्युत्पत्ति उन धातुओं से की है जो लोक-व्यवहार में आते थे। उस समय विभिन्न प्रांतों में संस्कृत शब्दों के जो रूपान्तर तथा विशिष्ट प्रयोग काम में लाये जाते थे उन सवका उल्लेख यास्क ने किया है। उदाहरण

के लिए 'शवति' क्रियापद का प्रयोग कंबोज देश (वर्तमान पंजाब का पश्चिमो प्रांत) में जाने के अर्थ में किया जाता था परन्तु इसका संज्ञापद 'शव' (मुर्दा) प्रयोग आर्य लोग करते थे। पूर्वी प्रांतों में 'दाति' क्रियापद का प्रयोग काटने अर्थ में होता था परन्तु उत्तर के लोगों में इसी से बने हुए 'दात्र' शब्द का प्र हँसिया के अर्थ में होता था। इससे स्पष्ट है कि यास्क के समय में (विक्रम लगभग सात सौ वर्ष पूर्व) संस्कृत बोलचाल की भाषा थी।

यास्क के अतिरिक्त पाणिनि ने भी ऐसे अनेक नियमों का उल्लेख किया जो केवल जीवित भाषा के सम्बन्ध में ही सार्थक हो सकते हैं।

पातंजलि (ई० पू० द्वितीय शताब्दी) ने संस्कृत को लोक-व्यवहृत कहा और अपने शब्दों के सम्बन्ध में यह कहा है कि वे लोक-प्रचलित हैं।

जनश्रुति है भिक्षुओं ने बुद्ध के सामने विचार रखा था कि आप अपनी बो चाल की भाषा संस्कृत को बना लें। इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि बु के समय में संस्कृत बोलचाल की भाषा थी।

प्रसिद्ध बौद्धकवि अश्वघोष (द्वितीय शताब्दी ई०) ने बौद्ध धर्म के सिद्धा के प्रचार हेतु अपने ग्रन्थ संस्कृत भाषा में लिखे। इससे यह अनुमान करना सु है कि संस्कृत प्राकृत की अपेक्षा जनसाधारण को अपनी ओर अधिक खींचती तथा संस्कृत ने कुछ समय के लिए खोए हुए पद को फिर प्राप्त कर लिया था

ई० पूर्व दूसरी शताब्दी और उसके उपरांत के शिलालेख संस्कृत में अधिक मिल रहे हैं। इसी प्रकार से छठी शताब्दी के बाद के शिलालेख भी संस्कृ में ही मिलते हैं (जैन शिलालेखों को छोड़कर)। इनमें संस्कृत का बोलचाल भाषा होना ही सिद्ध होता है क्योंकि शिलालेख प्रायः उसी भाषा में लिखे जाते जिसे सर्वसाधारण पढ़ और समझ सकते हैं।

उत्तर भारत के बौद्धों के ग्रन्थ प्रायः संस्कृत में ही चले आ रहे हैं। इस सूचित होता है कि बौद्ध लोग तब जीवित भाषा संस्कृत की उन्नति के विरोध सफल नहीं हो सके।

प्रसिद्ध यात्री ह्यूनसांग का कथन है कि सातवीं शताब्दी में बौद्ध लो धर्मशास्त्रीय मौखिक वाद-विवाद में संस्कृत का ही व्यवहार करते थे। जैन ने प्राकृत को बिल्कुल छोड़ तो नहीं दिया था पर वे भी संस्कृत का व्यवहार कर लगे थे।

संस्कृत नाटकों में पात्र के बोलचाल के योग्य नाना प्राकृतों का भी प्रयोग रहता है। नायक एवं उच्च पद के अधिकारी पात्र (जिनमें तपस्विनियाँ भी सम्मिलित हैं) संस्कृत बोलते हैं किन्तु स्त्रियाँ और निम्न वर्ग के पात्र प्राकृत ही बोलते हैं। इससे सिद्ध होता है कि जो पात्र संस्कृत नहीं बोलते थे वे भी संस्कृत समझते अवश्य थे। इसके अतिरिक्त पर्याप्त प्रमाणों से यह संकेत भी मिलता है कि संस्कृत नाटक खेले भी जाते थे और इसका यही अर्थ है कि दर्शक संस्कृत के वार्तालाप को समझते और उसके सौन्दर्य का रसानुभव भी करते थे।

साहित्य में ऐसे उल्लेख भी पाये जाते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि जनता के सामने रामायण और महाभारत के मूलमन्त्र पढ़कर सुनाए जाते थे। तब तो जनता वस्तुतः संस्कृत के श्लोकों का अर्थ समझ लेती होगी।

अनेक प्रकारेण यह ज्ञात होता है कि हिमालय और विंध्य के बीच फैले हुए सम्पूर्ण आर्यावर्त्त में संस्कृत बोलचाल की भाषा थी। इसका प्रयोग ब्राह्मण ही नहीं अन्य लोग भी करते थे। पातंजलि ने एक कथा लिखी है जिसमें कोई सारथी किसी वैयाकरण से सूत शब्द की व्युत्पत्ति पर वादविवाद करता है।

जनश्रुति है कि राजा भोज ने एक लकड़हारे के सिर पर बोझ देखकर परदुःखकातर हो उससे संस्कृत में पूछा कि तुम्हें यह बोझ कष्ट तो नहीं पहुँचा रहा और 'बाधति' क्रिया का प्रयोग किया। इस पर लकड़हारे ने उत्तर दिया, "महाराज ! मुझे इस बोझ से उतना कष्ट नहीं हो रहा जितना 'बाधते' के स्थान पर आपके बोले हुए 'बाधति' पद से हो रहा है।" इसी प्रकार से उस जुलाहे की बात हम कभी नहीं भूल सकते जिसने संस्कृत में अपना परिचय देते समय कहा था—

काव्यं करोमि नहि चारुतरं करोमि, यत्नात् करोमि यदि, चारुतरं करोमि।
भूपाल-मौलिमणि-मण्डितपादपीठ ! हे साहसांक ! कवयामि वयामि यामि॥

अन्ततः कहा जा सकता है कि जिस भाषा को रथ हाँकने वाला, लकड़ी का बोझा उठाने वाला (लकड़हारा) और कपड़ा बुनने वाला (जुलाहा) समझे और बोले उसे बोलचाल की भाषा न कहना महान् अपराध है।

२ | वैदिक साहित्य

प्रश्न ५—वैदिक साहित्य का संक्षिप्त किन्तु सर्वांगपूर्ण विवरण प्र
कीजिए।

विश्व-साहित्य की प्राचीनतम प्राप्य कृति ऋग्वेद है। संस्कृत साहित्य
श्रीगणेश भी इसी ग्रन्थ से होता है। इसी ग्रन्थ को आधार मानकर विद्वानों
संस्कृत साहित्य के इतिहास को दो भागों में विभाजित किया है—(क) वै
साहित्य और (ख) लौकिक साहित्य। भाव और विषय-भेद आदि की
से वेदों के चारभाग माने गए हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद।

ऋग्वेद—ऋग्वेद में मन्त्र हैं जिनको ऋचा कहते हैं। ये मन्त्र पद्य में
प्रायः चार पंक्तियों के हैं। कहीं-कहीं पर दो या तीन पंक्तियों वाले मंत्र भी
मंत्रों की रचना गायत्री, अनुष्टुप, जगती आदि प्रसिद्ध छन्दों में हुई है। ये
प्रायः देवताओं की प्रार्थना के रूप में हैं, किन्तु कुछ में यज्ञ-सम्बन्धी एवम् दा
निक भाव भी सम्मिलित हैं।

यजुर्वेद—यजुर्वेद का अधिकांश भाग गद्य में लिखा गया है। पद्य-भाग
कुछ मन्त्र ऋग्वेद के भी सम्मिलित हैं। इस वेद की दो शाखायें शुक्ल यजुर्वेद
कृष्ण यजुर्वेद हैं; किन्तु दोनों का ही उद्देश्य है पौरोहित्य शिक्षा, विभिन्न यज्ञों
महत्त्व को स्पष्ट करना और उसका वर्णन करना।

सामवेद—सामवेद गानयुक्त वेद है। इसके गान दो प्रकार के हैं
(१) ऊहगान, (२) उह्यागान। इन्हें क्रमशः ग्राम-गान और आरण्य-गान
कहते हैं। इसमें ऋग्वेद के मन्त्रों का संकलन भी पर्याप्त मात्रा में मिलता
किन्तु उन्हीं का जो गेय हैं।

अथर्ववेद—भारतीय अनुश्रुतियों से ज्ञात होता है कि अथर्ववेद की ग
पहले वेदों में नहीं की जाती थी। वेदत्रयी के नाम से जो ग्रन्थ प्रचलित थे उ

ऋक्, यजु तथा साम की ही गणना होती थी। पुरुष सूक्त में भी ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद का उल्लेख है, अथर्ववेद का नहीं। किंतु बाद में अन्य तीन वेदों के साथ इसकी गणना भी की गई और इसको चौथा वेद माना गया। इसमें दिए गए मन्त्र आयु वृद्धि, प्रायश्चित तथा पारिवारिक एकता के लिए हैं। दुष्ट प्रेतात्माओं के निवारण के लिए तथा राक्षसों के शाप के लिए भी इसमें मन्त्र दिए गए हैं। इसमें आध्यात्मिक भावों से युक्त मन्त्र भी हैं। तथा कुछ मन्त्र ऋग्वेद से भी लिये गए हैं। यह वेद यज्ञों के सम्बन्ध में विशेष उपयोगी नहीं है।

कालांतर में वेद-मन्त्र का महत्त्व बढ़ा। अतः वेद-मन्त्रों का संकलन किया गया। इन संकलनों को संहिता के नाम से पुकारा गया। यद्यपि इन संहिताओं के वास्तविक स्वरूप के सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है किन्तु इनकी संख्या के सम्बन्ध में प्रायः सभी विद्वान् एकमत हैं। प्रायः सभी विद्वान् चार संहिताएँ बताते हैं—

ऋक् संहिता, यजुः संहिता, साम संहिता और अथर्व संहिता।

कालांतर में वेद-मन्त्रों के विस्तृत व्याख्यान की आवश्यकता अनुभव की गई। फलतः ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। इन ग्रन्थों में वैदिक पदों की याज्ञिक व्याख्या का वर्णन ही माना जाता है, किंतु यह वस्तुस्थिति के अनुकूल नहीं है। ब्राह्मण ग्रन्थों में शतपथ और जैमिनीय ब्राह्मणों में वेदार्थ की परम सम्पन्नता पाई जाती है। ये व्याख्यान विभिन्न प्रकरणों से सम्बन्ध रखते हैं।

प्रत्येक वेद के अपने-अपने ब्राह्मण हैं तथा ऋग्वेद के दो ब्राह्मण हैं—ऐतरेय ब्राह्मण और कौषीतकि। इसी प्रकार से यजुर्वेद का शतपथ ब्राह्मण प्राप्य है। कृष्ण यजुर्वेद का तैत्तिरीय ब्राह्मण और सामवेद का जैमिनीय ब्राह्मण भी उल्लेखनीय हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों में मूलतः यज्ञ एवं ब्राह्मण धर्म का ही वर्णन किया गया है, वैसे ब्राह्मणों और यजमानों का कर्त्तव्य, सृष्टि-उत्पत्ति सम्बन्धी सिद्धान्त, शब्द-व्युत्पत्ति एवं शब्दों का व्याख्यात्मक इतिहास एवम् ऐसी जन-कथाओं का उल्लेख भी है जिनमें तत्कालीन सामाजिक जीवन की झाँकी विद्यमान है।

ब्राह्मणों के अन्तिम भाग आरण्यक कहलाते हैं। इन आरण्यकों के पाठ बड़े रहस्यमय हैं। इनमें वेदों के अध्यात्म-पक्ष का विवेचन है। यज्ञों की क्रिया और अनुष्ठानों की विधि के साथ-ही-साथ, यज्ञों के रहस्यादि और पुरोहितों

के कार्यों का विवेचन भी इन ग्रन्थों में किया गया है।

आरण्यकों का विस्तार उपनिषदों में पाया जाता है। ये संख्या में १० किन्तु निम्नलिखित ११ उपनिषद् वेदांत के प्रसिद्ध आचार्यों द्वारा वि किए जाने के कारण नितांत महत्त्वपूर्ण एवं प्रसिद्ध माने हैं—(१) ईश, (२) (३) कंठ, (४) प्रश्न, (५) मुण्डक, (६) माण्डूक्य, (७) तैत्तिरीय, (ऐतरेय, (९) छान्दोग्य, (१०) वृहदारण्यक और (११) श्वेताश्वतर।

इन उपनिषदों में कुछ पद्यात्मक हैं, कुछ गद्यात्मक और कतिपय पद्यात्मक उभयरूप। इन उपनिषदों में भी छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक भाषा सिद्धान्त की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्राचीन माने जाते हैं।

उपनिषदों में प्रधान रूप से तर्क का स्थान है। युक्ति के द्वारा आत्मा स्वरूप का परिचय कराया गया है। उपासना का विचार भी इनमें है किन्तु रूप से तथा वह भी आत्मा के साक्षात्कार के लिए है। गुरु-शिष्य के कथोपक के रूप में ज्ञान की बातें सिखाई गई हैं।

उपनिषदों में अविद्या-नाश के उपाय कहे गए हैं और विद्या या परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप का निरूपण है। किस प्रकार उस परब्रह्म का साक्षात्कार सकता है तथा दुःख की चरम निवृत्ति एवं आनन्द की प्राप्ति हो सकती है सभी बातें उपनिषद् के प्रतिपाद्य विषय हैं। इनमें शिष्यों को समझाने के युक्तियाँ दी गई हैं तथा उन्हें इन युक्तियों का प्रामाण्य भी बतलाया गया है। से यह भी स्पष्ट है कि उपनिषद् के सिद्धान्तों की शिक्षा देने वाले आचार्य ज्ञानी थे तथा शिष्य ब्रह्म-विद्या को ग्रहण करने के अधिकारी थे। ये बातें कठोपनिषद् में यमराज और नचिकेता के कथोपकथन से स्पष्ट हो हैं।

वैदिक साहित्य का अन्तिम सोपान सूत्र-ग्रन्थों में पाया जाता है। ये वे ग्रन्थ जिनका निर्माण वेदों के अध्ययन, उनका अर्थ ठीक जानने, उनकी ठीक व्यव करने तथा यज्ञभेद के समय उनका ठीक विनियोग करने के लिए हुआ। ग्रन्थों को वेदांग की संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है। वे वेदांग संख्या छः हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष। इनमें व्याक वेद का मुख है, ज्योतिष नेत्र, निरुक्त श्रोत, कल्प हाथ, शिक्षा नासिका

छन्द दोनों पाद। इस प्रकार वेदांग का सम्बन्ध वेदों के साथ पूर्णतः जुड़ जाता है। वेदांगों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है।

शिक्षा—इसमें वैदिक संहिताओं के ठीक-ठीक उच्चारण का विवेचन किया गया है। वेदपाठ में स्वरों का बड़ा महत्त्व है। स्वर की अशुद्धि से महान् अनर्थ हो जाता है। अतः स्वर की सही शिक्षा के लिए पृथक् वेदांग की रचना की गई है।

छन्दस—वेद के मन्त्र छन्दोवद्ध हैं; अतः छन्दों का ज्ञान प्राप्त किए विना वेद-मन्त्रों का ठीक-ठीक उच्चारण नहीं हो सकता। इसलिए छन्दों के पर्याप्त विवेचन के लिए अलग ग्रन्थ रचे गए। इनमें ऋग्वेद का प्रातिशाख्य सूत्र, सामवेद का निदान सूत्र, पिंगल का छन्द सूत्र तथा कात्यायन के श्रौतसूत्रों का एक भाग प्रमुख है। इन सव ग्रन्थों में वैदिक छन्दों का ही विशेष-रूप से विवेचन किया गया है, किन्तु पिंगल नामक किसी आचार्य द्वारा रचे गए पिंगल ग्रन्थ में वैदिक और लौकिक दोनों प्रकार के छन्दों का वर्णन मिलता है।

निरुक्त—निरुक्त में वेदों की व्याख्या के प्रथम प्रयास का उल्लेख है। सबसे प्राचीन निरुक्त यास्क का ही प्राप्य है। उसने अपने पूर्ववर्त्ती १७ निरुक्तकारों का उल्लेख किया है परन्तु उनके ग्रन्थ उसको भी उपलब्ध नहीं हुए थे। उन्हें तो अपने पूर्व विद्यमान वैदिक शब्दों की सूची ही उपलब्ध हुई थी जिसे निघण्टु के नाम से सम्बोधित किया जाता है। यास्क ने इसी निघण्टु पर निरुक्त नाम की टीका की है।

व्याकरण—इस वेदांत का एकमात्र उद्देश्य वेदों के अर्थ को समझाना और वेदार्थ की रक्षा करना है। आजकल इस पर सवसे प्राचीन ग्रन्थ पाणिनि कृत अष्टाध्यायी है, किन्तु उसने अपने पूर्ववर्ती गार्ग्य, स्फोटायन, शाकटायन, भारद्वाज आदि अनेक आचार्यों का उल्लेख किया है। इनसे भी पूर्व प्रातिशाख्य नामक ग्रंथ थे जिनमें स्वर, छन्द के साथ व्याकरण का भी विशेष वर्णन था।

इन वैय्याकरणों (पाणिनि और उसके पूर्ववर्त्ती) ने जो कार्य किया है वह वहुत उच्चकोटि का है। इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् मेक्डोनल का कथन है, "भारतीय वैय्याकरणों ने ही विश्व में सर्वप्रथम शब्दों का विवेचन किया है, प्रकृति और प्रत्यय का अंग पहचाना है, प्रत्ययों के कार्य का निर्धारण किया है।

सब प्रकार से परिपूर्ण और अति-विशुद्ध व्याकरण पद्धति को जन्म दिया है, जिसकी तुलना विश्व के किसी देश में प्राप्य नहीं है।"

ज्योतिष—इसका जन्म यज्ञों की विशेष आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुआ और वेद के विभिन्न अंगों में इसने महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया। इसका कारण यह है कि वेद यज्ञ के प्रतिपादन के लिए ही प्रवृत्त हुए हैं और काल के उचित निर्देश से यज्ञ का सम्बन्ध है। इसकी प्रतिनिधि रचना 'वेदांग ज्योतिष' है जिसमें २७ नक्षत्रों, चन्द्रमा, सूर्य आदि ग्रहों पर विचार किया गया है।

कल्पसूत्र—कल्पसूत्र की उत्पत्ति वेदों के ब्राह्मण ग्रंथों से हुई है। इस विषय से सम्बन्धित ग्रन्थ सूत्र रूप में हैं। इन सूत्रों का अर्थ व्याख्याओं के द्वारा ही समझा जा सकता है। ब्राह्मण ग्रंथों में जो लम्बे और क्लिष्ट विवरण दिए गए हैं वे यज्ञों के समय पूर्ण रूप से स्मरण नहीं रह सकते थे, फलतः इसके लिए सूत्ररूप को अपनाया गया। कल्पसूत्र को विद्वानों ने चार भागों में विभाजित किया है—(१) श्रौत, (२) गृह्य, (३) धर्म और (४) शुल्व।

श्रौतसूत्रों में दक्षिण, आहवनीय और गार्हपत्य इन तीन अग्नियों की पूजा और दर्शपूर्णमास, सोम आदि यज्ञों के करने का वर्णन किया गया है। गृह्यसूत्रों में गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक समस्त संस्कारों का वर्णन किया गया है। साथ ही समाज में प्रचलित प्रथाओं आदि का भी वर्णन है। धर्मसूत्रों में नीति, धर्म, रीति और प्रथाएँ, चारों वर्णों और आश्रमों के कर्त्तव्यों आदि का वर्णन है। शुल्व-सूत्रों में यज्ञवेदी के निर्माण से सम्बन्धित नाप आदि का तथा वेदी के बनाने आदि के नियमों का वर्णन है।

वेदांग के साथ-साथ वेद की सुरक्षा के लिए पद-पाठ, क्रम-पाठ, जटा-पाठ, और धन-पाठ तथा ऋषि, देवता और छन्दों की अनुक्रमणियों की रचना भी की गई।

अनेनप्रकारेण हम कह सकते हैं कि वेद और उनका साहित्य अत्यन्त विशाल है।

प्रश्न ६—'वेदों के अध्ययन से भारतीय आर्यों के सामाजिक और राजनीतिक जीवन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।' इस विषय पर विवेचनात्मक निबन्ध प्रस्तुत कीजिए।

वैदिक साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भारतीय आर्य आरम्भ में ही वीर और शक्तिशाली जाति के थे। वे सुन्दर आकृति के थे। उनका रंग सफेद था और शरीर विशाल था। वे सदा प्रसन्नचित्त रहते थे। उनका सिर लम्बा था। नाक पतली और लम्बी थी। उनके कंधे चौड़े थे और भुजाएँ लम्बी थीं। वे कविता करते थे और उनका हृदय उदार था। वे अकेले नहीं रहते थे किन्तु बड़े-बड़े दल बनाकर रहते थे। एक दल में अनेक परिवार थे और प्रत्येक परिवार में पिता का पद ही प्रधान था। धीरे-धीरे ये परिवार गाँव बनाकर रहने लगे। धीरे-धीरे किलेबन्दी की रीति पड़ गई। वे केवल युद्ध करने में ही व्यस्त नहीं रहते थे। उनकी आजीविका का साधन खेती-बाड़ी भी था। जीवन-निर्वाह का दूसरा साधन पशु-पालन था। पशुओं की संख्या अधिक थी। उनसे नाना प्रकार के काम लिए जाते थे। भेड़ और बकरी प्रचुर संख्या में थे। गधे माल ले जाने के काम आते थे। घोड़े भी मिलते थे। उनका उपयोग सवारी में होता था। वे युद्ध के काम में भी आते थे। आखेट भी उन्हें बहुत अच्छा लगता था। कुत्तों को शिकार के काम में लाया जाता था। शिकार जीवन में आनन्द का एक अच्छा साधन था। उससे मनबहलाव होता था तथा भोजन भी प्राप्त होता था। आखेट में बल तथा पौरुष का प्रदर्शन करने का अवसर भी प्राप्त होता था। उस युग में गाय और बैल भी पाये जाते थे। गाय बड़ी ही उपकारिणी थी। उससे दूध प्राप्त होता था। बैल खेती के काम में आते थे। हल चलाते थे, और गाडियाँ चलाने में भी उनका उपयोग होता था। खेती उन्नत दशा में थी। नाना प्रकार के फल, तरकारी और अनाज उत्पन्न होते थे। सिंचाई के बहुत से साधन थे। कुएँ, तालाब और छोटी-छोटी नहरें भी थीं। कभी-कभी वर्षा का अभाव हो जाता था और सूखा पड़ जाता था। ऐसे अवसर पर बड़े जोर का अकाल पड़ जाता था तथा निर्धन मनुष्यों के जीवन के लाले पड़ जाते थे।

आर्य लोग मकानों में रहते थे। मकान बहुत सुन्दर लकड़ी के बनते थे और बड़े होते थे जिनमें बहुत से कमरे होते थे। यद्यपि आर्य भिन्न-भिन्न स्थानों में रहते थे किंतु उनके रीति-रिवाज फिर भी समान ही थे। ऋग्वेद के समय तक

जात-पाँत का भेद-भाव न था, किन्तु बहुत से कारणों से भिन्न-भिन्न वर्ग बन थे जो भावी जात-पाँत के अंकुर थे।

विवाह के पूर्व सगाई पक्की होती थी। सगाई होने पर विवाह की एक तिथि निश्चित की जाती थी। निश्चित तिथि पर वर बड़े ठाट-बाट से बारात लेकर वधू के घर जाता था। नियत मुहूर्त्त पर वर-वधू को एक पत्थर पर चढ़ाकर उसका पाणिग्रहण करता था। अग्नि की परिक्रमा की जाती थी। विवाह की प्रथा समाप्त होने पर बड़ा भारी उत्सव मनाया जाता था। उत्सव में युवक-युवतियाँ, स्त्री-पुरुष सब भाग लेते थे। अच्छे से अच्छे वस्त्र धारण करते और आभूषणों से अपने शरीर को सुसज्जित करते थे। उनकी शोभा और सुन्दरता अपार हो जाती थी। उत्सव समाप्त होने पर वर वधू को रथ पर बैठाकर अपने साथ घर ले जाता था। विवाह की प्रथा आजकल की प्रथा से बहुत-कुछ मिलती-जुलती थी। यथा आजकल की तरह उस समय भी केवल एक विवाह करने की प्रथा थी। केवल राजा-महाराजा या बड़े पुरोहित एक से अधिक विवाह करते थे। उनका जीवन दुःखमय रहता था। घरेलू झगड़े रहते थे। शांति भंग हो जाती थी। आर्थिक कारणों से भी साधारण श्रेणी के मनुष्य केवल एक ही विवाह करते थे।

ऋग्वेद की ऋचाओं का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि विधवा विवाह का निषेध न था, किन्तु एक बात का पता ठीक रीति से नहीं लगता कि विधवा केवल अपने देवर के साथ विवाह कर सकती थी अथवा किसी अन्य पुरुष के साथ भी विवाह कर सकती थी।

ऋग्वेद के दसवें मण्डल में एक ऋचा है जो 'आर्य सभ्यता में विधवाओं का स्थान' पर कुछ प्रकाश डालती है। मरघट में अपने पति के पास लेटी हुई विधवा से कहते हैं, "उठो स्त्री ! तुम उसके पास पड़ी हो जिसका जीवन समाप्त हो गया है। अपने पति से दूर हटकर जीवितों के संसार में आओ और. उसकी पत्नी बनो जो तुम्हारा हाथ पकड़ता है और तुमसे विवाह करने को राजी है।"

अथर्ववेद में लिखा है कि "यह स्त्री (अर्थात् विधवा) पुराने धर्म का पालन करती हुई, तुम्हारे पास जो मर गए, पड़ी है (पर) इसको मही, सन्तान

और सम्पत्ति दो। उठो स्त्री! जीवितों के संसार में आओ........ (पूर्ववत्)।"

वैदिक साहित्य के अनुशीलन से भारतीय आर्यों के राजनीतिक जीवन पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। यद्यपि शासन-प्रणाली के विषय में ऋग्वेद से पूर्ण ब्यौरा प्राप्त नहीं होता किन्तु ऐसा ज्ञात होता है कि राजा का पद पैतृक होता था। राजा का पद बड़ा ही उच्च माना जाता था। समाज में उसका बड़ा मान और आदर होता था। प्रजा को उसकी आज्ञाओं का पालन करना पड़ता था। जो व्यक्ति राजाज्ञा की अवहेलना करता था उसके साथ बलप्रयोग का व्यवहार किया जाता था। इससे प्रकट होता है कि राजा की शक्ति बड़ी मानी जाती थी और समाज में उसका आदर होता था।

राजा का भी यह कर्त्तव्य था कि वह अपनी प्रजा पर कृपा रखे। उदाहरण के लिए राजा लोगों को उपहार देते थे। एक ऋषि कहता है कि देवता उस राजा की रक्षा करते हैं जो रक्षा चाहने वाले ब्राह्मण की सहायता करता है। एक अन्य स्थान पर भी इसी बात का उल्लेख मिलता है कि सोम पवमान राजा की तरह सेनाओं के ऊपर बैठता है। इससे प्रकट होता है कि सेना का नेतृत्व राजा का धर्म था। इन्द्र एक के बाद दूसरी लड़ाई लड़ता था और एक के बाद दूसरे पुरु को तोड़ता था।

राजा के कार्य को सुचारु रीति से चलाने के लिए राजा के बहुत से सहायक हुआ करते थे। राज्य में बहुत से पदाधिकारी भी हुआ करते थे जैसे—पुरोहित, हरकारे, सेनानी, ग्रामीण, वज्रपति इत्यादि। पुरोहित राज्य का एक बड़ा पदाधिकारी माना जाता था और राजा के साथ रहता था। वह राज-काज में सहायक होता था और युद्ध में साथ रहता था। उसकी मन्त्रणा के बिना विशेष महत्त्व का कोई भी कार्य नहीं हो सकता था। हरकारे सच्चे, बुद्धिमान तथा परिश्रमी होते थे। वे चारों ओर देख-भाल करने का काम करते थे। रक्षा का प्रबन्ध करना तथा समाचारों का लाना इन्हीं का कर्त्तव्य था। सेनानी के पद को राजा नियुक्त करता था। यह सेना का नायक होता था और युद्ध के समय बड़ा ही उपयोगी माना जाता था। ग्रामीण ग्राम के मुखिया या नेता को कहते थे, उसका पद पैतृक था।

गाँव के मनुष्य उसको निर्वाचित करते थे अथवा राजा उसे नियुक्त करता था। तो पता नहीं चलता, किन्तु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ग्रामीण का पद बड़ा माना जाता था। वह राज्य के मुख्य अधिकारियों में गिना जाता था। ऋग्वेद में व्रजपति का वर्णन आया है, किन्तु ऐसा मालूम होता है कि उसका आशय ग्रामीण से ही है।

वैदिककाल में राजा निरंकुश न होते थे। वे अपनी इच्छानुसार मनमा राज्य न कर सकते थे। उन्हें जनता की बात माननी पड़ती थी और जनता के बहुत अधिकार हुआ करते थे। वैदिक साहित्य में सभा और समिति का उल्ले बहुत बार आता है। भिन्न-भिन्न विद्वानों के इसके विषय में अलग-अलग मत जो इस प्रकार हैं—

(१) लुड्विग्—समिति में सब लोग रहते थे, पर सभा में केवल बड़े आद अर्थात् मघवन और ब्राह्मण ही बैठते थे।

(२) सिमिर—सभा तो केवल गाँव के लोगों की थी और समिति सा जनता की।

(३) हिलीब्रांट और मेक्डोनल—सभा और समिति में कोई विशेष नहीं था।

(४) कीथ—सभा और समिति में कोई ऐसा भेद नहीं प्रतीत हो जिससे हम दोनों को अलग-अलग मान सकें। समिति का अर्थ जनता से है सभा का अर्थ बैठने के स्थान से है।

अथर्ववेद में सभा और समिति को दो पुत्रियाँ कहा गया है। इससे प्रतीत होता है कि ये दोनों संस्थाएँ एक दूसरे से मिलती-जुलती अवश्य थीं, नाम अलग-अलग थे। डा० जायसवाल के मतानुसार समिति सब प्रजा की सभा होती थी। इसमें प्रजा के सब मनुष्य भाग लेते थे। समिति ही राजा निर्वाचन करती थी। समिति में एकत्रित होने वाले लोग एकमत होकर राजा निर्वाचन करते थे और उससे शासनाधिकार ग्रहण करने की प्रार्थना करते उससे यह आशा की जाती थी कि वह अपने पद से च्युत न होगा, शत्रुओं दलन करेगा और कर्त्तव्य का पालन करेगा। राजा के निर्वाचन के स निम्नलिखित गीत गाया जाता था—

"आ त्वाहार्षमन्तरभूध्रुवस्तिष्ठाविचाचलत् ।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत् ।। १।।
इहैवधि माप च्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलत् ।
इन्द्रेहैव ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमुधारय ।।२।।
इन्द्र एतमदीधरद-ध्रुवं ध्रुवेण हविषा ।
तस्मै सोमो अधिब्रवदयं च ब्रह्मणस्पति ।।३।।"

... ...

"ध्रुवाद्यौध्रुवा पृथिवी ध्रुवं विश्वमिदं जगत् ।
ध्रुवासः पर्वता इमे ध्रुवो राजा विशामयम् ।।१।।
ध्रुवंते राजा वरुणो ध्रुव देवो बृहस्पतिः ।
ध्रुवंतइन्द्रस्याग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ।।२।।
ध्रुवोऽच्युतः प्रमृणीहि शत्रूं छत्रूयतोऽधरान् पादयस्व ।
सर्वादिशः संमनसः सध्रुचीः ध्रुवायते समितिः कल्पतामिह ।।३।।"

अर्थात् "तुम हर्षपूर्वक हम लोगों में आओ, अविचल रूप से स्थिर हो, सब लोग तुम्हें चाहते हैं, तुम राष्ट्र से भ्रष्ट न हो ।"

"तुम यहाँ पर्वत के समान दृढ़ रहो और तुम्हारा पतन न हो । तुम यहाँ इन्द्र के समान अविचल रहो और राष्ट्र को धारण करो ।"

"इन्द्र ने हवि के कारण इस राष्ट्र को दृढ़तापूर्वक किया है । इसके लिए ब्रह्मणस्पति ने भी ऐसा कहा है ।"

"प्रजा का यह राजा वैसा ही ध्रुव हो जैसा ध्रुव स्वर्ग है, जैसी ध्रुव पृथ्वी है, जैसा ध्रुव विश्व है और जैसे ध्रुव पर्वत हैं ।"

"तुम इस राष्ट्र को धारण करो, राजा वरुण और देवता बृहस्पति इन्द्र तथा अग्नि इसे ध्रुव करें ।"

"तुम दृढ़ता और निश्चयपूर्वक शत्रुओं को पराजित करो और जो लोग शत्रुता का आचरण करें उन्हें अपने पैरों से कुचल डालो। सब दिशाएँ एकमत होकर तुम्हारा सम्मान करती हैं और ध्रुवता (दृढ़ता) के लिए समिति यहाँ तुम्हारी कल्पना (नियुक्ति) करती है ।"

समिति की बैठकों में राजा का भाग लेना आवश्यक समझा जाता था। राजनीतिक कार्यों के अतिरिक्त समिति के अन्य दूसरे कर्त्तव्य भी होते थे।

सभा में केवल बुद्धिमान पुरुष ही भाग लिया करते थे। सभा का एक मुख्य कार्य न्याय करना था। इसके अतिरिक्त और भी बहुत से कर्त्तव्य होते थे। जातक में एक स्थान पर ऐसा वर्णन किया गया है कि जिस सभा में बुद्धिमान पुरुष न हों वह सभा ही नहीं है। बुद्धिमान पुरुषों की परिभाषा इस प्रकार की गई है कि वे अपने भावों तथा विचारों की चिन्ता नहीं करते और केवल न्याय-संगत बात ही कहते हैं।

वैदिक साहित्य के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उस समय केवल समिति और सभा ही सार्वजनिक संस्थाएँ नहीं थीं, अपितु निरथ और सेना आदि अन्य संस्थाएं भी थीं। उस समय सभ्यता का आदर्श बहुत ही ऊंचा था। राजा न्यायपूर्वक शासन करता था और प्रजा सुख-चैन से जीवन व्यतीत करती थी।

०

३ | पुराण

प्रश्न ७ —पुराणों के परम्परागत लक्षण क्या हैं ? पुराणों की संख्या का
[ul]लेख करते हुए उनके प्रतिपाद्य पर प्रकाश डालिए ।

भारतीय साहित्य में पुराणों का विशेष महत्व है। भारतीय सभ्यता तथा [सं]स्कृति को जनता में प्रचारित करने का श्रेय इन्हीं को है। इतना ही नहीं वैदिक [सा]हित्य के उपरान्त हिन्दू धर्म को जिन ग्रन्थों ने सर्वाधिक प्रभावित किया है [उ]नमें भी पुराणो का ही प्रथम स्थान है। प्राचीनता की दृष्टि से भी पुराणों के [आ]ख्यान वैदिक-कालीन कथाओं को लिए हुए हैं।

पुराण शब्द अथर्ववेद और ब्राह्मणों में सृष्टि-मीमांसा के अर्थ में प्रयुक्त हुआ [है]। महाभारत में इस शब्द का प्रयोग प्राचीन आख्यानों के लिए किया गया है [यथ]ा—'पुराणमाख्यानम्'। भारतीय साहित्य में इस शब्द का प्रयोग आख्यान के [अति]रिक्त इतिहास के लिए भी हुआ है; किन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने पुराणों को [इति]हास के रूप में स्वीकार नहीं किया है। वे उन्हें पुरातन कथा (Mythology) मानते हैं और इन पर तनिक भी विश्वास नहीं करते। वस्तुतः इतिहास उन्हीं [घट]नाओं का वर्णन करता है जो भूतकाल में कही गई हैं परन्तु पुराण का विषय [इति]हास से अधिक व्यापक और विस्तृत है।

भारतीय परम्परा के अनुसार पुराणों में पाँच बातें होनी चाहिएँ, अर्थात् [सृष्]टि की उत्पत्ति, सृष्टि का संहार, देवों की वंशावली, मन्वन्तरों का वर्णन तथा [सूर्य]वंशी तथा चन्द्रवंशी राजाओं का वर्णन। विष्णु आदि पुराणों में भी यही [लक्ष]ण दिया गया है, यथा—

> सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंश मन्वन्तराणि च।
> सर्वेष्वेतेषु कथ्यन्ते वंशानुचरितं च यत्॥
>
> (विष्णु पुराण ३-६-२५)

यद्यपि यही लक्षण साधारणतया सभी पुराणों के लिए दिया गया है ध्यान से देखने पर पता चलता है कि पुराणों में इतनी ही बातों का नहीं है प्रत्युत इनसे भी बहुत अधिक बातें हैं। विष्णु पुराण को छोड़कर पुराणों में पृथ्वी, प्रार्थना, उपवास, पर्व और तीर्थ-यात्राओं का वर्णन भी कुछ पुराणों में ज्योतिष, शरीर-विज्ञान औषधि-विज्ञान, व्याकरण और के प्रयोग आदि नियमों का भी वर्णन है।

पुराणों के समय के सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सक इन पुराणों के कुछ स्थल बहुत प्राचीन हैं और कुछ बहुत नवीन हैं। कुछ में राज-वंशावलियाँ दी गई हैं, उनमें हर्ष और ६०० ई० के बाद वाले का उल्लेख नहीं है। अतः यह कहा जा सकता है कि पांचवीं शताब्दी पुराण निश्चित-रूप धारण कर चुके थे।

पुराणों की संख्या के सम्बन्ध में भी निश्चित रूप से कुछ नहीं क सकता। इसका कारण यह है कि वायु पुराण में एक स्थान पर कि पहले केवल पांच पुराण थे, किन्तु आज अट्ठारह पुराण प्राप्त हैं और सभी विद्वानों ने इसकी संख्या को स्वीकार कर भी लिया है। इन पुराणों इस प्रकार हैं—

(१) ब्रह्म, (२) विष्णु, (३) अग्नि, (४) वायु, (५) मत्स्य, (६) (७) कूर्म, (८) लिंग, (९) भविष्य, (१०) पद्म, (११) (१२) ब्रह्मांड, (१३) गरुड़, (१४) मार्कण्डेय, (१५) ब्रह्मवैवर्त्त, (१६) (१७) वराह, (१८) शिव।

इन अठारह पुराणों में कुल मिलाकर चार लाख से भी अधिक किसी में सात हजार हैं तो दूसरे में इक्यासी हजार। विष्णु पुराण में, जो धिक सुरक्षित समझा जाता है, सात हजार से भी कम श्लोक हैं।

प्रतिपाद्य की दृष्टि से विष्णु की भक्ति से सम्बद्ध विष्णु, नारद, गरुड़, पद्म और वराह नामक ये छः पुराण सात्विक पुराण माने गए हैं। की भक्ति से सम्बद्ध ब्रह्मांड, ब्रह्मवैवर्त्त, मार्कण्डेय, भविष्य, वामन और छः राजस पुराण माने गए हैं। शिव की भक्ति से सम्बद्ध मत्स्य, कूर्म, लिं स्कन्द और अग्नि ये छः तामस पुराण माने गए हैं।

पुराणों की कोई एक शैली नहीं है। लेकिन सभी पुराण दो या अधिक व्यक्तियों के बीच में वार्तालाप के रूप में हैं और इस प्रकार से महाभारत के समान हैं। पुराणों में श्लोकों और प्रकरणों के लिए 'श्रुति', 'ऋक्', 'सूक्त' जैसे शब्दों का व्यवहार किया गया है।

पुराणों की मुख्य देन आस्तिकवाद का प्रबल समर्थन है। उनमें बहुत से देवताओं का वर्णन है, किन्तु वे किसी एक देवता के महत्त्व की ही स्थापना करते हैं। वे किसी एक देवता की उपासना करने के लिए तो कहते हैं किन्तु किसी अन्य देवता की उपासना का निषेध नहीं करते। वे घोषित करते हैं कि सभी देवता समान हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से भी पुराण बहुत महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि उनसे जो सामग्री उपलब्ध होती है उनके आधार पर प्राचीन भारत का इतिहास तैयार किया जा सकता है। उनमें शिशुनाग, नन्द, मौर्य, शुंग, आन्ध्र, गुप्त आदि प्रमुख राज-वंशों का उल्लेख प्राप्त होता है।

पुराण स्वरूपतः नीति-ग्रंथ हैं और लक्ष्य की दृष्टि से साम्प्रदायिक हैं। इनमें बहुत से अत्युपयोगी नीति और कर्त्तव्य सम्बन्धी उपदेश हैं। ये कर्त्तव्य शिक्षा के रूप में दिए गए हैं।

१८ पुराणों के अतिरिक्त १८ उप-पुराण भी माने गए हैं जिनमें से अधिकांश के नाम वही है जो मुख्य पुराणों के हैं। इन सबके लेखक व्यास माने जाते हैं। इनके अतिरिक्त और भी ग्रंथ हैं जो पुराणों के रूप में हैं किन्तु जिनकी गणना पुराणों में नहीं होती है। उनमें से विष्णु-धर्मोत्तर, काश्मीरी वैष्णव धर्म का वर्णन करता है, नीलमत पुराण काश्मीरी नागों के धार्मिक नेता राजा नील के सैद्धान्तिक उपदेशों का वर्णन करता है और बृहद्धर्म पुराण का मत है कि कपिल, वाल्मीकि, व्यास और बुद्ध विष्णु के अवतार हैं।

प्रश्न ८—'पुराणों में राजनीति, धार्मिक अवस्था, साधारण रीतिरिवाज, छुआछूत, सत्य, स्त्री, भक्ति, सृष्टि की उत्पत्ति आदि विषयों से सम्बद्ध सामग्री पर्याप्त मात्रा में मिलती है,' इस कथन की समीक्षा कीजिए।

पुराण राजनीति, धार्मिक अवस्था, साधारण रीति-रिवाज, भक्ति, सृष्टि की उत्पत्ति आदि पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं और आगामी पंक्तियों में इन्हीं विभिन्न दृष्टियों से पुराणों का अध्ययन करेंगे।

राजनीति—पुराणों से राजनीति की दशा का ज्ञान होता है। यह अतिशयोक्ति न होगी कि पुराण राजनीति का भंडार हैं किन्तु उनमें राज स्वतन्त्र रीति से वर्णित नहीं हुई है। उसका आधार अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र, सूत्र और स्मृतियाँ हैं। अग्नि पुराण में इस बात का स्पष्ट रीति से उल्लेख गया है कि अपनी प्रजा के लिए राजा के क्या कर्तव्य हैं। राजा का धर्म और कर्त्तव्य है कि वह समस्त जीवन प्रजा की उन्नति के अर्पित कर दे। उसके जीवन का यही लक्ष्य होना चाहिए कि उसकी प्र किसी प्रकार का कष्ट न हो, प्रजा से प्रतिदिन भेंट करने का अ निकालना आवश्यक है। कुमारों की शिक्षा पर विशेष रीति से ध्यान चाहिए।

धार्मिक अवस्था—वृहन्नारदीय पुराण के अध्ययन से यह ज्ञात कि प्रत्येक युग में धर्म की मर्यादा तथा व्यवस्था भिन्न-भिन्न थी। कलि समुद्रयात्रा, वानप्रस्थ, अन्तर्वर्ण विवाह का निषेध है। पुराणों के अध्ययन भी स्पष्ट है कि उस समय परमात्मा के तीन रूप माने जाते थे और वह विष्णु तथा महेश थे। इसके पश्चात् यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति न हुई कि विष्णु के १० या २४ अवतार हुए। इस समय पूजा के भाव हृदय में प्रवलता से स्थान पा रहे थे। अग्नि-पुराण के अध्ययन विदित होता है कि विष्णु और अन्य देवताओं की मूर्ति बनोंने तथा मन्दि निर्माण के सम्बन्ध में क्या नियम थे। समाज की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में वर्तन होना आरम्भ हो गया था। ब्रह्म-भोज और दान की महिमा मानव-हृदय में विशेष स्थान पाने लगे थे। जात-पाँत के बन्धन और भी हो रहे थे। समाज इस ओर अग्रसर हो रहा था कि विवाह आदि के नि कठोरता के साथ पालन किया जाए और रोटी-बेटी के सम्बन्ध में किसी की शिथिलता न दिखलाई जाए।

बौद्ध धर्म का प्रभाव शनैः-शनैः कम हो रहा था और हिन्दू धर्म उन्नति के र्ग में अग्रसर हो रहा था। ब्राह्मणों ने समय के अनुसार अपनी स्थिति में रिवर्तन करने में तनिक भी आना-कानी न की। उन्होंने अपने सिद्धान्तों में भी मयानुसार परिवर्तन कर दिया। इस समय जिस ब्राह्मण धर्म का प्रचार आरम्भ आ, वह स्वतः अपना प्रभाव लिए हुए था किन्तु उसमें अन्य धर्मों के सिद्धान्त मिश्रित थे। उदाहरण के लिए प्राचीन वैदिक धर्म और दर्शनों के कुछ सिद्धान्त में सम्मिलित कर लिए गए थे। कोई एक सिद्धान्त निज की सत्ता न रखता । यह भी संघ शासन की भाँति एक प्रकार का शासन था। इस संसार में म लेने वाले प्रत्येक प्राणी का यह अधिकार है कि वह ईश्वर, आत्मा, कर्म, जन्म आदि अन्य बातों में विश्वास रख सकता है।

किसी भी देवता की पूजा करने के लिए कोई रुकावट न थी। यज्ञ, धर्म, कर्म, , ज्ञान, पूजा और तीर्थ करने में सब व्यक्ति स्वतन्त्र थे। इस समय सहन-लता पराकाष्ठा को पहुँच गई थी। कोई भी ऐसा क्षेत्र न था जिसे ब्राह्मण धर्म कार करने में तनिक भी आपत्ति हो अथवा उसका किसी से विरोध हो और का प्रतिकार करने के पक्ष में हो। इस समय तो उसका मुख्य तत्त्व सहन-ता ही था।

साधारण रिवाज—इस संसार में वही मनुष्य जीवित रहने के अधिकारी ो निज कर्त्तव्य से च्युत न हुए हों। पतित मनुष्य को इस संसार में जीवित का कोई भी अधिकार नहीं। उनकी दशा तो मृतक पुरुष से भी क शोचनीय है। उसका श्राद्ध कर देना ही श्रेयस्कर है। उसे निजी सम्पत्ति के ग करने का कोई अधिकार नहीं। उसकी सम्पत्ति को दूसरे मनुष्यों में बाँट देना चित है।

छूतछात—छूतछात के विषय में कर्म के बन्धन थे और उनका उल्लंघन पर कुछ व्रत धारण करने पड़ते थे। यदि ब्राह्मण अन्य जातियों के छुए हुए न को ग्रहण कर ले तो उसे भिन्न-भिन्न प्रायश्चित व्रतों का पालन करना था। प्रत्येक पुरुष के लिए मूर्ति का स्पर्श करना वर्जित था। यदि शूद्र या जाति का कोई पुरुष मूर्ति का स्पर्श कर ले तो ऐसी दशा में भक्त का यह य था कि उस देवता के मंत्र का सौ बार जप करे।

सत्य की महिमा—मार्कण्डेय पुराण में सत्य की महिमा का विशद से वर्णन किया है और इस बात का उल्लेख मिलता है कि राजा हरिश्चन्द्र ने राज-पाट तथा सर्वोच्च दान करके भी सत्य की रक्षा की। नाना प्रकार आपत्तियाँ सत्य के कारण ही सहन कीं। सत्य की महिमा से ही उसने विश्व ऋषि पर भी विजय प्राप्त की। देवताओं ने उसकी विजय पर दुन्दुभि और पुष्प वर्षा की।

स्त्री—वृहन्नारदीय पुराण में यह स्पष्ट रीति से वर्णित है कि स्त्री त्याज्य है। केवल पवित्र स्त्री का ही सहयोग उचित है। इसके अ जो स्त्री अपने पति तथा पुत्रों के साथ निर्दयता का व्यवहार करे उसे भी ही त्याग देना चाहिए। ऐसी स्त्री को त्यागने में किसी प्रकार का दोष होता।

भक्ति—मनुष्य-जन्म का ध्येय ही मुक्ति प्राप्त करना है किन्तु मुक्ति भक्ति के सुलभ नहीं। भगवत् भजन ही कल्याण और मुक्ति का एकमात्र है और कृष्ण भगवान के चरण-कमलों में मस्तक नत करते ही मुक्ति की होती है। यज्ञ करने से कृष्ण भगवान इतने प्रसन्न नहीं होते जितने कि प्रे प्रेम ही उनको प्रसन्न करने तथा उनसे वरदान प्राप्त करने का सहज उ वे प्रेम के नाते शीघ्र ही वशीभूत हो जाते हैं।

सृष्टि—वायु पुराण में सृष्टि का वर्णन अति मनोहर तथा रोचक किया गया है। यह मन को मुग्ध करने की शक्ति रखता है। इससे ज्ञात कि उस समय वर्ण-व्यवस्था का लेश-मात्र भी भेद न था। आश्रमों का था। उच्च तथा निम्न श्रेणियों में समानता ही का व्यवहार था तथा का चिन्ह भी न था। अवस्था, सौन्दर्य और अन्य गुणों में कोई प्राणी स्पर्धा न करता था। कल्प-वृक्ष मनोवांछित फल देने में समर्थ थे, इच्छाएँ के साधन थे। मनमाने और इच्छित पदार्थ बिना प्रयास तथा प्रयत्न के हो जाते थे—किन्तु समय के चक्र ने पलटा खाया और भावनाओं में अ गया, उस समय कल्प-वृक्षों का लोप हो गया। वस्त्र, गृह, गाँव, नगर इत्य आवश्यकता हुई और उनका निर्माण कर दिया गया। वर्ण-व्यवस्था का न्यास हुआ। सत्यव्रतधार्य पुरुष ब्राह्मणों की श्रेणी में विभाजित किए

पुरुषों ने कृषि व्यवसाय स्वीकार किया उन्हें वैश्यों की श्रेणी में रक्खा , जिन पुरुषों में तेज का अभाव था और वृत्ति ही जिनकी आजीविका उन्हें शूद्रों की श्रेणी में रखा गया। ब्राह्मणों ने इनके भिन्न-भिन्न धर्म-म बनाये और फिर आश्रमों की स्थापना हुई। गृहस्थ-आश्रम ही सब मों में मुख्य माना गया।

नारायण—वराह पुराण के अध्ययन से विष्णु की प्रधानता के विषय में प्राप्त होता है। यदि कोई प्राणी कार्यों में लिप्त होने से मुक्त होना चाहे केवल उसका एक ही उपाय है कि वह अपने सब कर्मों को नारायण के कर दे।

कलियुग—अन्य पुराणों में कलियुग विषयक विवरण दिए गए हैं। कर्म में कलियुग का अत्यन्त भयानक चित्र प्रस्तुत किया गया है। उसमें बत-गया है कि इस युग में सब कर्मों का नाश हो जाता है तथा प्रत्येक बात होती है।

४ | रामायण और महाभारत

प्रश्न ६—रामायण के रचना-काल और प्रक्षिप्त अंश की समीक्ष हुए उसके काव्य कौशल पर प्रकाश डालिए ।

संस्कृत साहित्य में रामायण आदि काव्य और उसके प्रणेता महर्षि वा आदि कवि के रूप में प्रतिष्ठित हैं। संस्कृत के परवर्ती साहित्य पर इस का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। भास, कालिदास तथा संस्कृत के अन्य कवि इसी से प्रभावित होकर अपने महाकाव्यों की रचना की है। भवभूति दामोदर मिश्र प्रभृति नाटककारों ने भी रामायण की कथा के आधार अपनी रचना का ठाठ खड़ा किया है। जैन साधु विमलसूरि का ग्रन्थ य यण के आधार पर ही लिखा गया है। बौद्ध ग्रन्थों के तिब्बती तथा ची वादों में भी राम के शौर्य की कथाएँ विद्यमान हैं जो सम्भवतः रामाय देन हैं; किन्तु इतना होने पर भी यह एक विवादास्पद विषय है कि राम रचना-काल क्या है, उसके प्रक्षिप्त अंश कौन-कौन से हैं? आगामी में हम इन्हीं विषयों पर विचार करते हुए अपने मन्तव्य की स्थापना क

रामायण का रचना काल—किसी भी कृति का रचना-काल करने के लिए दो आधार हुआ करते हैं—(१) बाह्य साक्ष्य, (२) आ साक्ष्य; और रामायण के रचनाकाल का निर्णय भी हम इन्हीं दोनों के पर करेंगे।

बाह्य साक्ष्य—रामायण महाकाव्य के विकास एवं रचनाकाल प निक्षेप करने के अनन्तर यह ज्ञात होता है कि वैदिक साहित्य में रा उल्लेख कहीं नहीं है। वैसे रामकथा का कुछ आभास वैदिक साहित्य प्राप्त हो जाता है, किन्तु इतना होने पर भी यह निश्चयरूपेण नहीं सकता कि उपनिषदों में प्रसिद्ध राजा जनक रामायण में वर्णित मिथि

ही हैं। ऋग्वेद में सीता का देवी रूप में वर्णन मिलता है तथा सूत्र ग्रंथों में सीता की प्रार्थना मिलती है। इसी प्रकार से वेबर ने रामायण का सम्बन्ध यजुर्वेद से जोड़ने का प्रयास किया है तथा जेकोबी ने तो इन्द्र और वृत्रासुर के युद्ध को राम-रावण का युद्ध ही बतला दिया है। किन्तु वास्तविकता यह है कि वैदिक साहित्य की अस्पष्ट एवं रहस्यपूर्ण भाषा के कारण किसी निश्चय पर पहुँचना कठिन है।

रामायण की प्राचीनतम प्रति महाभारत की प्राचीनतम प्रति से अधिक पुरानी है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। इसका कारण यह है कि रामायण में महाभारत के किसी पात्र का उल्लेख नहीं हुआ है किन्तु महाभारत के सातवें पर्व में रामायण के छठे काण्ड से दो श्लोक उद्धृत हैं। इतना ही नहीं महाभारत के तीसरे पर्व में २७७ से २९१ तक के अध्यायों में वर्णित रामोपाख्यान रामायण पर आधृत प्रतीत होता है। वस्तुतः इस प्रसंग को पढ़कर तो यह लगता है मानो महाभारत के रामोपाख्यान का वक्ता इस तथ्य का विश्वासी है कि महाभारत के श्रोताओं को रामकथा पूर्णतः ज्ञात है।

बौद्ध साहित्य के अनुशीलन से भी यह ज्ञात होता है कि रामायण का प्रणयन बौद्ध-काल से पहले हुआ होगा। रामायण के बौद्ध-काल से पूर्ववर्ती होने के प्रमाण रूप में निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते हैं :—

(क) पालि जातकों में दशरथ जातक किंचित परिवर्तन के उपरान्त आया है। इतना ही नहीं रामायण का एक श्लोक (६,१२८) भी उस जातक में भाषारूपान्तर के उपरान्त उद्धृत है।

(ख) प्रोफेसर सिलवन लेवी के मतानुसार बौद्धग्रन्थ सद्धर्मस्मृत्युपस्थान निःसन्देह वाल्मीकि का ऋणी है। इसका कारण यह है कि इस ग्रन्थ के जम्बुद्वीप वर्णन तथा रामायण के दिग्वर्णन में तनिक भी असमानता नहीं है। इस ग्रन्थ में नदियों, समुद्रों, देशों और द्वीपों के उल्लेख भी उसी शैली में हैं जिस शैली में ये रामायण में हैं। वे पुनः कहते हैं कि यदि यह कहा जाए कि शायद वाल्मीकि ने ही बौद्ध स्मृतियों से कुछ लिया तो यह बात इसलिए ठीक नहीं है क्योंकि ब्राह्मण धर्म के बारे में इतने कट्टर थे कि उनके द्वारा बौद्ध ग्रन्थों से कुछ लेने का प्रश्न ही नहीं उठता।

(ग) एच० जैकोबी के मतानुसार भाषा के आधार पर भी यह निश्चित

रूप से कहा जा सकता है कि रामायण बौद्ध-काल से पहले की रचना है।

आभ्यन्तरिक साक्ष्य—आभ्यन्तरिक साक्ष्यों के आधार पर भी रामायण रचना-काल बौद्ध-काल से पहले ही ठहरता है क्योंकि—

(१) रामायण में राम सोन और गंगा के संगम से होकर जाते हैं पर पाटलिपुत्र का उल्लेख नहीं मिलता। वास्तव में पाटलिपुत्र नगर की स्था ५०० ई० पू० में मगध-नरेश अजातशत्रु ने की। पहले यह साधारण ग्राम था, जिसका उल्लेख बौद्ध ग्रन्थों में 'पाटलिग्राम' से प्राप्त होता है। अजात ने शत्रुओं के आक्रमण से अपनी रक्षा करने के निमित्त गंगा-सोन के संगम पर ग्राम में किला बनवाया। कहा जा सकता है कि रामायण ५०० ई० पू० से लिखी गई।

(२) कौशल जनपद की राजधानी रामायण में अयोध्या बतलाई किन्तु जैन और बौद्ध-ग्रन्थों में वह अयोध्या के स्थान पर साकेत नाम से विख्यात है। लव ने अपनी राजधानी 'श्रावस्ती' में स्थिर की। अतः राम की रचना उस समय की गई होगी जब अयोध्या को छोड़ कर श्रावस्ती में धानी नहीं लाई गई थी। बुद्ध के समय में कौशल के राजा 'प्रसेनजित' श्राव में ही राज्य करते थे। अतः रामायण की रचना बुद्ध से पहले हुई।

(३) गंगा पार करने के उपरान्त राम 'विशाला' में पहुँचे। इसके अधि का नाम सुमति था। इसने इन लोगों की बड़ी अभ्यर्थना की—गं निविष्टास्ते विशालां ददृशु पुरीम्। इक्ष्वाकु की 'अलम्बुसा' नामक रा उत्पन्न 'विशाल' नामक पुत्र ने इस नगरी को बसाया था। इसलिए यह वि के नाम से प्रख्यात थी। रामायण में 'विशाला' और 'मिथिला' दो स्वतन्त्र का उल्लेख किया गया है किन्तु बुद्ध के समय में ये दोनों राज्य पृथक् स्वत होकर वैशाली राज्य के रूप में सम्मिलित कर दिए गए थे और विधान भी गणतन्त्र राज्य के समान था। अतः रामायण बुद्ध-युग से पू रचना होनी चाहिए।

(४) रामायण में भारत के दक्षिणी अंग को एक विराट् अरण्य में चित्रित किया गया है। वहाँ बन्दर, भालू आदि असभ्य या अर्ध-सभ्य जा को निवास करते हुए दिखाया गया है। इन देशों में आर्य-सभ्यता के प्रसा

पूर्व यही अवस्था थी। फलतः रामायण का निर्माण-काल दक्षिणी-भारत के आर्य बनने से पूर्व का ही मानना चाहिए।

(५) रामायण के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उत्तरी भारत कौशल, अंग, कान्यकुब्ज, मगध, मिथिला आदि अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँटा था। लेकिन इस प्रकार की राजनीतिक अवस्था बुद्ध-पूर्व भारत में ही दृष्टिगत होती है।

(६) रामायण पाणिनि से पूर्ववर्ती है, इसमें कोई सन्देह नहीं क्योंकि रामायण पर पाणिनि के व्याकरण का कोई प्रभाव दिखाई नहीं देता जबकि परवर्ती काव्य पाणिनि के व्याकरण से प्रभावित हुए विना न रह सका। उदाहरणार्थ हम रामायण के मूल श्लोक—

"मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः"

को ले सकते हैं। इस श्लोक में 'न माङ्योगे' सूत्र के अनुसार 'अगमः' न होकर 'गमः' होना चाहिए। पाणिनि का काल छठी शताब्दी के लगभग माना जाता है। इसी प्रकार से अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जहाँ बाल्मीकि ने पाणिनि के नियमों का उल्लंघन किया है।

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि रामायण की रचना बुद्ध-जन्म से पूर्व हुई अर्थात् रामायण को ५०० ई० पू० से पहले की रचना मानना न्यायसंगत है।

प्रक्षिप्त अंश—रामायण सदैव एक लोकप्रिय रचना रही है। फलतः उसमें समय-समय पर अनेक क्षेपक जुड़ते रहे हैं। आज प्रायः सभी आलोचकों की यह धारणा है कि बालकाण्ड और उत्तरकांड मूल ग्रन्थ में नहीं थे, उन्हें बाद में जोड़ा गया है। प्रो० मेक्डोनल के शब्दों में, "मूल में प्रक्षिप्त अंश की काफी फँट-छाँट होती रही। इसका प्रमाण यह है कि अयोध्याकांड से लेकर युद्धकांड तक काव्य भाग में जो श्रीराम एक मानवीय सत्ता के रूप में सर्वसमक्ष आते हैं, वे बालकांड तथा उत्तरकांड में दिव्य चरितनायक हो जाते हैं और साथ ही विष्णु से उनका तादात्म्य दर्शाया जाता है, अवतारवाद की स्थापना की जाती है। स्वयं बाल्मीकि मुनि की कोटि में बैठा दिए जाते हैं।" वस्तुतः इस दशा में सर्वप्रथम दृष्टि डा० याकोबी की पड़ी। उन्होंने यह माना कि रामायण के मूल पाठ में

पाँच ही कांड थे—अयोध्याकांड से युद्धकांड तक। इस मान्यता का आधार
युद्धकांड के अन्त में दी गई फल श्रुति है। वस्तुत: युद्धकांड के अन्त में दी
फल-श्रुति से ही रामायण की इतिश्री हुई जान पड़ती है।

बालकाण्ड के क्षेपक होने का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इसमें अनेक
कथाएँ आई हैं जिनका रामचरित से तनिक भी सम्बन्ध नहीं है। इतना ही
इसमें अनेक ऐसी उक्तियों का भी समावेश है जो शेष पांच कांडों से
भी मेल नहीं खातीं। उदाहरणार्थ बालकांड में लक्ष्मण और उर्मिला का वि
वर्णित है, किन्तु अरण्यकांड में शूर्पणखा-प्रसंग में लक्ष्मण को अकृतदारः
अविवाहित बतलाया गया है।

बालकांड के समान ही उत्तरकांड भी क्षेपक ही ज्ञात होता है क्योंकि
कांड के अधिकांश अंश का रामचरित से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसकी
कथा तो सीता-वनवास तथा लवकुश को राज्य देकर राम का स्वर्गारोह
किन्तु इसके साथ ही ययाति, नहुष, इन्द्र, वृत्रासुर, वशिष्ठ, अगस्त्य की
कथा, पुरुरवा-उर्वशी आदि के कितने ही उपाख्यान और मिलते हैं। इतना ही
जो प्रसंग रामकथा से सम्बन्ध भी रखते हैं उनमें भी एकसूत्रता का अभा
साथ ही पुनरुक्ति-दोष तथा विरोधी बातें भी मिलती हैं। उदाहरणार्थ चा
सर्ग के उस प्रसंग को लिया जा सकता है जहाँ युद्धकांड के अन्तिम सर्ग में
विभीषण आदि के चले जाने का स्पष्ट उल्लेख करने के बाद उत्तरकांड में
उनके प्रस्थान का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार से उत्तरकांड के १७वें
में समाविष्ट वेदवती के कथा-प्रसंग द्वारा सीता अपने पूर्वजन्म में वेदवती ब
गई है किन्तु यदि यह प्रसंग प्रक्षिप्त न होता तो रामायण के अन्य
में—सीता-जन्म प्रसंग के समय—इसका उल्लेख अवश्य होता। इतना ही
महाभारत के रामोपाख्यान तथा संस्कृत के अनेक राम-काव्यों में उत्तर
की कथा का वर्णन नहीं है।

केवल कथा-प्रसंगों की दृष्टि से ही नहीं अपितु शैली की दृष्टि से भी
कांड और उत्तरकांड क्षेपक ही प्रतीत होते हैं। इन दोनों ही कांडों की
शेष कांडों से मेल नहीं खाती। इसी प्रकार से इन दोनों की कथा में
प्रवाह नहीं मिलता जितना कि अन्य कांडों में विद्यमान है। वस्तुत: इन
में आए हुए उपाख्यानों से कथा-प्रवाह अत्यन्त क्षीण हो गया है।

वालकांड और उत्तरकांड के क्षेपक होने का एक और प्रमाण यह है कि इन दोनों कांडों में राम को विष्णु का अवतार बतलाया गया है। जबकि शेष कांडों (कुछ प्रक्षिप्त अंशों को छोड़कर, क्योंकि युद्धकांड के अन्त में सीता के अग्नि-प्रवेश करने पर सब देवता घटना-स्थल पर आकर राम की विष्णु-रूप में स्तुति करते हैं) में उन्हें केवल माननीय महापुरुष के रूप में ही चित्रित किया गया है।

लेकिन उपर्युक्त कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि रामायण में अन्यत्र कहीं प्रक्षिप्त अंशों का समावेश ही नहीं है। वस्तुतः अयोध्याकाण्ड से लेकर युद्धकाण्ड तक में भी अनेक क्षेपकों की भरमार है, अन्तर है तो केवल इतना कि वहाँ पर केवल मर्मस्पर्शी प्रसंगों का ही विस्तार किया गया है।

काव्य-कौशल— संस्कृत साहित्य का आदि-काव्य होने पर भी रामायण एक अनुपम रचना है। इसमें महाकाव्य के सभी प्रमुख लक्षणों यथा रसाभिव्यंजना, विषय की उदात्तता, घटनाओं का वैचित्र्यपूर्ण विन्यास तथा भाषा-सौष्ठव का समाहार है। रचना-शैली, विचारों की मनोहारिता तथा रमणीय दृश्यों के आकलन में तो इसका प्रणेता इतना सफल है कि विद्वानों ने अलंकृत शैली के महाकाव्यों में इसे प्रथम स्थान प्रदान किया है।

रामायण का प्रणेता शैली, चरित्र-चित्रण तथा वर्णन की शक्ति में अपूर्व है। उसकी शैली सरल, उत्कृष्ट, अलंकृत और सुसंस्कृत है। अप्रचलित शब्दों का उसमें अभाव है। लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं है कि सरल होने के कारण यह ग्रन्थ काव्य-गौरव की दृष्टि से मूल्यहीन हो। वस्तुतः कवि ने सरल शब्दावली को लेकर जहाँ एक ओर पाठक को असाधारण रूप में प्रभावित किया है, वहाँ दूसरी ओर रस-व्यंजना, छन्द-योजना और अलंकारों के प्रयोग द्वारा अपने ग्रन्थ को अति रमणीय बना दिया है। उसकी रचना में सभी रसों का समुचित परिपाक है। उपमा, रूपक और स्वभावोक्ति का अत्युत्तम रीति से प्रयोग है। डॉ० शांतिकुमार नानूराम व्यास के शब्दों में 'रामायण में होमर, वर्जिल और मिल्टन की अपेक्षा कहीं अधिक भाषा का गाम्भीर्य छन्दों का औचित्य, और रस का परिपाक है।'

रामायण के प्रणेता ने अपने पात्रों का चरित्रांकन भी बहुत सफलतापूर्वक किया है। उसने अयोध्या-नरेश दशरथ की तीनों रानियों के मनोभावों का अति

सूक्ष्म अध्ययन किया है और अपने उसी अनुभव के आधार पर तीनों के स्वभाव में वैषम्य प्रदर्शित किया है। राम के वनवास के समय तथा दशरथ की मृत्यु के समय कौशल्या के विचार, स्वभाव और व्यवहार का बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है। राम और सीता के साथ लक्ष्मण को भेजते समय सुमित्रा का चरित्र चित्रण दशरथ के वरदान माँगते समय और उसके बाद तथा भरत के द्वारा राज्य को अस्वीकार करने पर, कैकेयी के दुःखित होने पर उसके विचार और व्यवहार का चित्रण अत्यधिक मर्मस्पर्शी बन पड़ा है।

रामायण के अध्ययन से लेखक की अपूर्व वर्णन-शक्ति का परिचय भी प्राप्त होता है। वनप्रदेशों, आश्रमों, सेनाओं, युद्धों, राजप्रासादों, नगरों, मनुष्यों और उनके व्यवहारों का जो वर्णन रामायण में किया गया है वह वास्तविकता से परि-पूर्ण है। ऋतुओं के वर्णन तो पाठक और श्रोताओं पर असाधारण प्रभाव डालते हैं। ऐसा गम्भीर और वास्तविकता से युक्त प्रभावकारी वर्णन अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता।

रामायण में काव्य-कला के विभिन्न अवयवों का जहाँ सम्यक् प्रस्फुटन हुआ हैं वहाँ उससे असंख्य सुभाषित भी संगृहीत हैं। सुभाषित मनुष्य को भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग की शिक्षा देते हैं। अत्यधिक धनलिप्सा मनुष्य के जीवन को नष्ट कर देती है, यह कैकेयी और बाली के जीवन से स्पष्ट है। इसी प्रकार अत्यधिक कामुकता भी मनुष्य को नष्ट कर देती है, यह बात भी रामायण के प्रणेता ने बड़ी कुशलता से दिखाई है। वस्तुतः बाल्मीकि ने जीवन की पवित्रता पर बहुत बल दिया है। उन्होंने सिद्ध किया है कि आचार ही मानव-जीवन का सर्वोत्तम गुण हैं, विवाह एक पवित्र बन्धन है, कर्त्तव्यनिष्ठा परम धर्म है और यही मनुष्य को गौरव से युक्त करता है।

रामायण का महत्त्व काव्यशास्त्रियों और जनसाधारण के लिए ही नहीं अपितु इतिहासज्ञों के लिए भी यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसी के आधार पर हम प्राचीन भारत की सामाजिक अवस्था का अनुमान कर सकते हैं। इसी के अध्ययन से हमें ज्ञात होता है कि उस समय अयोध्या और लंका दोनों ही स्थानों पर प्रजातन्त्र राज्य की व्यवस्था थी। राजा यद्यपि राज्य का अध्यक्ष होता था किन्तु राज्य की नीति का निर्धारण अधिकतर प्रजा की इच्छा के अनुसार होता

करता था। व्यापार में अनुचित प्रतिस्पर्धा तथा सवलों द्वारा निर्वलों के उत्पीड़न को रोकने के लिए प्रयत्न किया जाता था। निर्माण-कार्य के लिए वृक्षों को यन्त्रों की सहायता से हटाया और काटा जाता था। अयोध्यावासी धार्मिक विधियों का अनुष्ठान भी करते थे। राक्षस उनकी इन विधियों में विघ्न डालते थे। नैतिक नियमों का पालन अयोध्या में कुछ कठोरता तथा किष्किन्धा में कुछ शिथिलता के साथ होता था। मृत व्यक्ति का शव तेल से परिपूर्ण हौज में रखा जाता था।

रामायण का परवर्ती साहित्य पर प्रभाव—भारतीय ग्रन्थकार रामायण को आदि-काव्य और इसके प्रणेता बाल्मीकि को आदि-कवि कहते हैं। विश्वसाहित्य में भी यह ग्रन्थ जितना लोकप्रिय रहा है, उतना सम्भवत: दूसरा नहीं। इतना ही नहीं अपनी रचना के दिन से लेकर आज तक यह ग्रन्थ भारतीय साहित्यकारों के प्राणों में स्फूर्ति भरता आया है। महाभारत के तीसरे पर्व में भी राम की कथा आयी है। भास, कालिदास आदि अन्य अनेक कवियों और नाटककारों ने भी रामायण की कथा का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है। संक्षेपत: रामायण पर आधृत मुख्य-मुख्य ग्रन्थों की सूची इस प्रकार प्रस्तुत की जा सकती है—

संख्या	ग्रंथ	रचयिता	साहित्य-रूप
१.	प्रतिमा नाटक	भास	नाटक
२.	अभिषेक नाटक	भास	नाटक
३.	यज्ञफल	भास	नाटक
४.	रघुवंश	कालिदास	काव्य
५.	कुन्दमाला	दिङ्नाग	नाटक
६.	सेतुबंध	प्रवरसेन	काव्य
७.	जानकीहरण	कुमारदास	काव्य
८.	रावण-वध	भट्टि	काव्य
९.	आश्चर्य-चूड़ामणि	शक्तिभद्र	काव्य
१०.	महावीर चरित	भवभूति	नाटक
११.	उत्तररामचरित	भवभूति	नाटक

संख्या	ग्रंथ	रचयिता	साहित्य-[रूप]
१२.	अनर्घराघव	मुरारि	नाटक
१३.	रामचरित	अभिनन्द	काव्य
१४.	वालरामायण	राजशेखर	नाटक
१५.	महानाटक	हनुमान	नाटक
१६.	रामायण चम्पू	भोज	चम्पू
१७.	रामायण मंजरी	क्षेमेंद्र	काव्य
१८.	रामपालचरित्	संध्याकरनन्दी	काव्य
१९.	प्रसन्नराघव	जयदेव	नाटक
२०.	उन्मत्त राघव	भास्कर	नाटक
२१.	उन्मत्त राघव	विरूपाक्ष	नाटक
२२.	रघुनाथचरित्	वामनभट्टबाण	काव्य
२३.	आनन्दराघव	राजचूणामणि दीक्षित	नाटक
२४.	उत्तरचम्पू	वेंकटाध्वरी	चम्पू
२५.	अद्भूत दर्पण	महादेव	नाटक
२६.	जानकी परिणय	चक्रकवि	काव्य
२७.	जानकी परिणय	रामभद्र दीक्षित	नाटक

प्रश्न १०—महाभारत के कर्तृत्व, रचनाकाल और काव्य कौशल पर ए[क] आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए।

महर्षि व्यास द्वारा विरचित तथा अठारह पर्वों में विभक्त यह ग्रन्थ (महा-भारत) विश्व-साहित्य का सबसे बड़ा काव्य है। यह ईलियड और ओडिसी [के] संयुक्त परिमाण से आठ गुना है। इसमें पाण्डवों और कौरवों की अति-प्रचलि[त] कथा है। इस कथा के अतिरिक्त इसमें देवताओं, राजाओं और ऋषियों की कथा[एं] हैं, जिनका मुख्य कथा से कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। इतना ही नहीं, समय [के] दीर्घ प्रवाह में मूल कथा के चारों ओर अनेक अन्य आख्यानों का भी एक बहु[त] बड़ा जमघट-सा लग गया है।

विषय की बहुविधता के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न अंशों का शैली-सम्बन्[धी] वैभिन्न्य, अनेक प्रकार के छन्दों का प्राचुर्य और परस्पर विरोधी सामंजस्[य] विघातक सिद्धान्तों का प्रतिपादन आदि बातों से भी यह निष्कर्ष निकलता [है]

कि महाभारत की मूल कथा काल-क्रम से अनेक मस्तिष्कों की कल्पनाओं से आप्लावित होकर इस विलक्षण मिश्रित स्वरूप को प्राप्त हुई है। महाभारत स्वयं इस बात का प्रमाण है कि उसका मूल स्वरूप 'जय' आधुनिक स्वरूप से बहुत छोटा था और उसको कम-से-कम दो बार अवश्य परिवर्द्धित किया गया है। आज इसी विश्वास के आधार पर विभिन्न विद्वान महाभारत की निम्नलिखित अवस्थाओं का प्रतिपादन करते हैं।

प्रथम अवस्था—मूल महाभारत ऐतिहासिक ग्रन्थ था जिसका नाम 'जय' था—'जयोनामेतिहासोऽयम्, ततो जयमुदीरयेत' आदि। उसका आरम्भ 'उपरिचर'—इत्यादि त्रेसठवें अध्याय से होता है। प्रोफेसर मेक्डोनल का विचार है कि इस 'जय' नाम की रचना में ८८०० 'श्लोक थे, किन्तु चिंतामणि वैद्य का विश्वास है कि उक्तसंख्या कूट श्लोकों की है। सब पद्य मिलाकर संभवतः २०००० थे, परम्परा के अनुसार पाराशर के पुत्र द्वैपायन व्यास उसके रचयिता हैं। इस नाम का एक व्यक्ति प्राचीन महाभारत में विद्यमान था। यह बात कृष्ण यजुर्वेद के काण्क भाग में 'व्यास-पाराशर्य' के उल्लेख से सिद्ध होती है।

द्वितीय अवस्था—प्रथम परिवर्द्धन में कुछ वीर कथाएँ मिलाई गईं और सम्भवतः इसका नाम भारत रखा गया। इसमें २४,००० पद्य थे। परम्परा के अनुसार इसका सम्पादक वैशम्पायन था—जो 'आश्वलायन गृह्यसूत्र' में भारताचार्य पद से उल्लिखित है।

तृतीय अवस्था—दूसरा परिवर्द्धन वीर-काव्य की सीमाओं को लाँघकर विस्मयापद विस्तार को प्राप्त हो गया। श्लोकों की संख्या २४,००० से एक लाख के निकट पहुँच गई और महाभारत के नाम से उसकी प्रसिद्धि हुई—"महत्वाच्च—भारवत्वाच्च महाभारतमुच्यते"।

यह विशालकाय ग्रन्थ अन्य अनुपर्वों में विभक्त किया गया। इसका सम्पादन करने वाला सौति कहा जाता है।

महाभारत का रचना-काल—समस्त वैदिक साहित्य में महाभारत का कोई उल्लेख नहीं मिलता है, यद्यपि ब्राह्मण ग्रंथों और वेदों में कुरु और पांचाल नाम्नी दो झगड़ने वाली जातियों का वर्णन है। इतना ही नहीं, कुरुक्षेत्र, परीक्षित, जनमेजय, दुष्यन्त-पुत्र भरत तथा धृतराष्ट्र का भी उल्लेख किया गया है। 'शांखा-

यन श्रौतसूत्र' में कुरुक्षेत्र के उस युद्ध का उल्लेख किया गया है जिनमें कौ
का नाश हो गया था। पाणिनी ने युधिष्ठिर, भीम, विदुर तथा महाभारत
की व्युत्पत्तिमूलक विवेचना की है। पतंजलि ने, जिनका समय १४० ई० पू०
महाभारत के युद्ध का स्पष्ट उल्लेख किया है। फलतः यह स्पष्ट है कि महाभा
के कुछ आख्यान तथा उसका मूल ऐतिहासिक कथानक लगभग १००० ई०
अर्थात् उत्तर-वैदिक काल में प्रसिद्धि पा चुका था।

पाश्चात्य विद्वानों का विचार है कि महाभारत का वर्तमान रूप ईसा
चौथी शताब्दी तक निर्मित हो चुका था। इस कथन की पुष्टि के लिए उन्
निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत किए हैं—

(१) प्रसिद्ध दार्शनिक कुमारिल भट्ट, जिनका समय ७०० ई० है, ने म
भारत को व्यास-रचित एक महान् स्मृति-ग्रंथ माना है तथा अपने ग्रन्थों
प्रायः सभी पर्वों से उद्धरण दिए हैं।

(२) सुबन्धु और वाणभट्ट जिनका समय ६००-६४० ई० है, भी महाभ
के काव्य-रूप से परिचित हैं।

(३) कम्बोडिया के ६०० ई० के एक शिलालेख से यह प्रमाणित हो
कि छठी शताब्दी में महाभारत का प्रचार भारत के वाहर दूसरे देशों में भी
चुका था।

(४) ४५०-५०० ई० के आसपास के जो दान-पत्र मिलते हैं। उनमें म
भारत के श्लोकों को शास्त्रीय प्रमाण मानकर उद्धृत किया गया है।

(५) ४४२ ई० के एक गुप्तकालीन लेख में महाभारत का उल्लेख
साहस्त्रयाँ' इस प्रकार किया गया है।

किंतु श्रीयुत् चिंतामणि विनायक वैद्य कुछ प्रबल प्रमाणों के आधा
महाभारत का रचनाकाल और भी कई सौ वर्ष पूर्व का मानते है। उ
कथन है कि हाप्किस जैसे विद्वानों को डायो क्रायसीस्टोम नामक उस
विद्वान् के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है जो सन् ५० ई० में दक्षिण
के पाण्ड्या देश में आया था। उसने अपने संस्मरण में लिखा है कि
में एक लाख श्लोकों का ईलियड है। इसमें सन्देह नहीं कि एक लाख श्
के ईलियड से उसका अभिप्राय ईलियड के भारतीय अनुवाद से न होकर

भारत से ही है। इससे यह सिद्ध होता है कि महाभारत की रचना ५० ई० के पहले ही हो चुकी थी। इतनी ही नहीं, महाभारत में बुद्ध तथा बौद्ध धर्म सम्बन्धी कतिपय सिद्धान्तों तथा यूनानियों का उल्लेख भी कई बार मिलता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि महाभारत की रचना बौद्ध धर्म के विस्तार तथा सिकन्दर के आक्रमण (३२० ई० पू०) के उपरान्त हुई होगी।

अन्ततः कहा जा सकता है कि महाभारत का वर्तमान रूप ३२० ई० पू० से लेकर ५० ई० के बीच में निर्मित हो चुका था।

महाभारत का काव्य-कौशल—काव्यकला की दृष्टि से महाभारत एक अत्यन्त उच्चकोटि की रचना है। इसमें अनेक मार्मिक और रोचक प्रकरण आद्यांत भरे पड़े हैं। मार्मिक प्रकरणों की दृष्टि से द्रौपदी-स्वयंवर प्रसंग, द्रौपदी का लज्जापहरण प्रसंग श्रीकृष्ण का दौत्य विषयक प्रकरण, सुभद्रा-विलाप विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं। द्रौपदी-स्वयंवर से उद्धृत निम्नलिखित अवतरण एकदम हृदय-स्पर्शी वन पड़ा है।

केचिदाहुर्युवा श्रीमान् नागराजकरोपमः।
पीनस्कन्धोरुवाहुश्च धैर्येण हिमवानिव॥
सिंह खेलगतिः श्रीमान् मत्तनागेन्द्रविक्रम।
सम्भाव्यमस्मिन्कर्मेदमुत्साहाच्चानुमीयते॥
एवं तेषां विलपतां विप्राणां विविधा गिरः।
अर्जुनो धनुषोऽभ्यासे तस्थौ गिरिरिवाचलः॥

प्रस्तुत अवतरण में उस समय का वर्णन किया गया है जिस समय रुक्म, सुनीत, वक्र, दुर्योधन आदि वीर लक्ष्यवेध में असफल रहे तथा ब्राह्मण वेशधारी अर्जुन लक्ष्यवेध के लिए उद्यत हुए। ब्राह्मणवेशधारी अर्जुन को डरते हुए देख कर वहुत से ब्राह्मणों को तो बहुत अधिक प्रसन्नता हुई किंतु कतिमय ब्राह्मण ऐसे भी थे जिनके मन में लक्ष्यवेध में सफलता प्राप्त न होने पर तद्जनित अपमान की आशंका थी। ऐसे ब्राह्मणों ने इस कृत्य का विरोध किया, लेकिन सफलता की आशा रखने वाले ब्राह्मणों ने जो कुछ कहा वह इस पद्यांश में इस प्रकार निवद्ध है, "यह युवा है, श्रीमान् है, नागराज की सूंढ़ के समान इसकी विशाल भुजाएं हैं, इसके कंधे अत्यन्त पुष्ट हैं, यह हिमालय के समान धैर्यवाला है, सिंह सरीखी इसकी गति है, यह पराक्रम में मस्त हाथी के समान प्रतीत होता है। अतः

इसके द्वारा ऐसा कार्य सम्भव है। इसके उत्साह को देखकर भी यही प्रतीत होता है कि यह इस कार्य को सम्पन्न कर सकेगा। जब ब्राह्मण समूह परस्पर इस प्रकार के आशा-आशंकायुक्त वचनों का आदान-प्रदान कर रहे थे तब अर्जुन धनुष के पार्श्व में जाकर अचल पर्वत के समान खड़े हो गए।"

इसी प्रकार का एक अन्य मर्मस्पर्शी प्रकरण द्रौपदी के चीर-हरण प्रसंग के समय परिलक्षित होता है। जब धर्मराज युधिष्ठिर द्यूत-क्रीड़ा में हार जाते हैं तब दुर्योधन के आदेशानुसार दुःशासन पाण्डवों के अंतःपुर में प्रवेश करता है और कहता है—आ आ पांचालि। कृष्णे! तू जीत ली गई है। लज्जा छोड़कर दुर्योधन की ओर देख। कमल के समान बड़े-बड़े नेत्रों वाली तू कौरवों की सेवा कर। यह सुनकर द्रौपदी कुरुवंश की वृद्धा महिलाओं की ओर भागने लगती है और क्रोध से भरा दुःशासन बहुत जोर से गरजते हुए उसका पीछा करता है तथा द्रोपदी के केशों को पकड़ लेता है। महाभारतकार ने इस प्रसंग को अधोलिखित रीति से रूपायित किया है—

ततो जवेनाभिससार रोषाद् दुःशासनस्तमभिगर्जमानः।
दीर्घेषु नीलेष्वथः चोर्मिमत्सु जग्राह केशेषु नरेन्द्रपत्नीम्॥
ये राजसूयावभृथे जलेन महाक्रतौ मन्त्रपूतेन सिक्ताः।
ते पाण्डवानां परिभूय वीर्यं बलात् प्रमृष्टा धृतराष्ट्रजेन॥
स तां परामृष्य सभासमीपमानीय कृष्णामतिदीर्घकेशीम्।
दुःशासनो नाथवतीमनाथवच्चकर्ष वायुः कदलीमिवार्ताम्॥
सा कृष्यमाणा नमितांगयष्टिः शनैरुवाच—"रजस्वलास्मि।
एकं च वासो मम मन्दबुद्धे नेतुं सभां नार्हसि मामनार्य॥

अर्थात् तब क्रोधयुक्त दुःशासन ने गर्जना करते हुए एवम् वेगपूर्वक द्रौपदी का पीछा किया और उसके लम्बे, नीले और घुंघराले केशों को पकड़ लिया। जो केश राजसूय यज्ञ में अवभृथ मंत्र द्वारा पवित्र जल से अभिषिक्त किए गए थे उन्हें पाण्डवों के पराक्रम को निरादृत कर धृतराष्ट्र के पुत्र दुःशासन ने बलात् पकड़ लिया। वह लम्बे बालों वाली द्रोपदी को घसीटता हुआ सभा के समीप ले आया। उस समय द्रौपदी नाथवती अर्थात् स्वामी-युक्त होते हुए भी अनाथा सी हो रही थी। दुःशासन द्वारा घसीटे जाने पर वह उसी प्रकार काँप रही थी जिस प्रकार

प्रचण्ड वायु के वेग से कदली वृक्ष कांपता है। घसीटी जाती हुई उस द्रौपदी ने अपने शरीर को झुकाकर अत्यन्त मन्द स्वर में कहा, "मूर्ख ! मैं रजस्वला हूँ और शरीर पर एक ही वस्त्र धारण किए हूँ। अनार्य मुझे सभा में मत ले जा।"

महाभारत में रोचक प्रकरण भी प्रचुर परिमाण में हैं। 'शकुन्तलोपाख्यान', 'मत्स्योपाख्यान', 'रामोपाख्यान', 'शिवि उपाख्यान', 'सावित्री उपाख्यान', आदि कतिपय ऐसे प्रकरण हैं जो अपनी रोचकता के कारण पाठक को बार-बार पढ़ने के लिए प्रेरित करते हैं।

यों तो महाभारत में सभी रसों का समुचित परिपाक परिलक्षित होता है किंतु इसका अंगी रस शांत है। यही एक ऐसा रस है जो आरम्भ से अन्त तक परिव्याप्त है। इसका सहवर्ती रस करुण है। इसके बाद वीर तथा शृंगार रस को स्थान मिला है।

महाभारत का अधिकांश भाग सम्वादों और वर्णनों में पूर्ण हुआ है। इसके संवाद विचारपूर्ण, प्रवाह-युक्त तथा शक्तिशाली हैं। इन संवादों में उल्लेखनीय बात यह है कि इनमें वक्ता अपने भावों को निर्भीकता के साथ अभिव्यक्त करता है। ये सम्वाद स्पष्ट और वास्तविकता से पूर्ण है। पाण्डवों और कौरवों की धनु-विद्या की परीक्षा, वनवास के समय पाण्डवों के वन का जीवन, द्यूत-क्रीड़ा, शल्य के साथ कर्ण का युद्ध के लिए प्रस्थान आदि वर्णनों में बहुत ही रोचक संवाद हैं। इसके वर्णन विशेषतः युद्ध-वर्णन बहुत सुन्दर बन पड़े हैं।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी महाभारत एक सुन्दर रचना है। इसके सभी पात्र अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखते हैं। युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव, दुर्योधन, विदुर, कर्ण, कुन्ती और द्रौपदी सभी के चित्रण में व्यास ने अपनी कुशल प्रतिभा का परिचय दिया है।

भाषा-शैली की दृष्टि से महाभारत की समीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि यद्यपि यह मुख्यतः पद्यों में आबद्ध है किंतु कतिपय स्थल गद्य में भी मिलते हैं। शैली की दृष्टि से ये गद्यांश महाभारत से भी प्राचीन प्रतीत होते हैं। वैसे महाभारत की भाषा से यह सिद्ध होता है कि यह उस समय की बोलचाल की भाषा थी। इतना ही नहीं, इसमें शब्दों के प्राचीन रूप भी उपलब्ध होते हैं। शैली की दृष्टि से इसमें एकरूपता का अभाव है क्योंकि इसके लेखक व्यास वैशम्पायन,

सौति तथा अन्य कई कवि हैं जो कि विभिन्न समयों में हुए हैं। इसके अ
लोकोक्तियों और वर्णनों पर वाल्मीकि का विशेष प्रभाव परिलक्षित हो
है।

महाभारत अपने समय के सामाजिक जीवन पर भी प्रकाश डालता है
इसके अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस समय पैतृक परम्परा का आदर होता
ब्राह्मणों को आदरणीय माना जाता था। राजकुमारों को धनुर्विद्या की शि
दी जाती थी। विवाह के लिए स्वयम्वर की प्रथा का प्रचलन था जिसमें धनुर्वि
में विशेषज्ञता के आधार पर ही योग्य पति का चुनाव होता था। राजपरिवारों
बहु-विवाह की प्रथा थी। कुछ स्त्रियाँ पति के साथ सती भी होती थीं। देश
राजतन्त्र प्रणाली का बोल बाला था। द्यूतक्रीडा की गणना यद्यपि दुर्गुणों
अंतर्गत होती थी किन्तु फिर भी इसका पर्याप्त प्रचलन था। विन्ध्य पर्वत
दक्षिण में चोल, पाण्ड्य, चेर, आंध्र आदि शिक्षित जातियाँ रहती थीं। जाति
को पूर्णतया जन्म से नहीं माना जाता था यथा व्यावहारिक दृष्टि से कर्ण सार
का पुत्र था, किन्तु जातिगत विचार के आधार पर उसकी धनुर्विद्या की विशे
ज्ञता को न्यून नहीं किया गया। इसी प्रकार के दासी पुत्र विदुर उस स
सम्मानित राजनीतिज्ञ थे, धर्मव्याध और तुलाधर ब्राह्मण न होने पर
धर्मशास्त्र के प्रामाणिक आचार्य थे। केवल जातिप्रथा का अभाव सा ही
युग में नहीं था अपितु वैदिक यज्ञों का महत्त्व भी कम हो गया था। इ
ही नहीं, महाभारत में मन्दिर और मूर्तियों का उल्लेख भी प्राप्त नहीं हो
है।

महाभारत का परवर्ती साहित्य पर प्रभाव—महाभारत का श्रेण्य काव
संस्कृत साहित्य पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। मीमांसा शास्त्र के व्याख्याता
में प्रमुख कुमारिल भट्ट ने महाभारत का उल्लेख किया है तथा इसके विभि
पर्वों से श्लोक उद्धृत किए हैं। संस्कृत गद्य के प्रमुख लेखक बाणभट्ट क
सुबन्धु ने भी अपनी रचनाओं में इसका प्रयोग किया है। बाण ने तो इ
पारायण का भी उल्लेख किया है। वस्तुतः संस्कृत साहित्य के अनेक लेख
ने महाभारत की मुख्य कथा अथवा अन्य कथाओं का प्रचुर प्रयोग कि
है।

संक्षेपतः महाभारत पर आधृत मुख्य-मुख्य ग्रन्थों की सूची इस प्र

प्रस्तुत की जा सकती है :

संख्या	ग्रन्थ	रचयिता	साहित्य रूप
१.	पंचरात्रम्	भास	रूपक
२.	दूतवाक्यम्	भास	रूपक
३.	मध्यमव्यायोग	भास	रूपक
४.	दूतघटोत्कच	भास	रूपक
५.	कर्णभार	भास	रूपक
६.	ऊरुभंग	भास	रूपक
७.	अभिज्ञान शाकुन्तलम्	कालिदास	रूपक
८.	किरातार्जुनीय	भारवि	काव्य
९.	वेणीसंहार	भट्टनारायण	रूपक
१०.	शिशुपालवध	माघ	काव्य
११.	सुभद्रा-धनंजय	कुलशेखरवर्मन	रूपक
१२.	कीचक-वध	नीतिवर्मन	काव्य
१३.	बालभारत	राजशेखर	काव्य
१४.	नैषधानन्द	क्षेमीश्वर	रूपक
१५.	नलचम्पू	त्रिविक्रमभट्ट	चम्पू
१६.	भारत-मंजरी	क्षेमेन्द्र	काव्य
१७.	धनंजयव्यायोग	कांचनपण्डित	रूपक
१८.	किरातार्जुनीय व्यायोग	वत्सराज	रूपक
१९.	नैषधीय चरित्	श्रीहर्ष	काव्य
२०.	नल-विलास	रामचन्द्र	रूपक
२१.	निर्भय-भीम	रामचन्द्र	रूपक
२२.	बालभारत	अमरचन्द्र	काव्य
२३.	पाण्डवचरित्	देवप्रभसूरि	काव्य
२४.	सहृदयानन्द	कृष्णानन्द	काव्य
२५.	बालभारत	अगस्त्य	काव्य

प्रश्न ११—रामायण और महाभारत की तुलना कीजिए।

रामायण और महाभारत दोनों इसी देश की रचनाएं हैं। दोनों ग्रन्थों ने

भारतीयों के जातीय जीवन, जनता के नैतिक तथा धार्मिक विचारों तथा साहि
के विभिन्न अंगों को पर्याप्त मात्रा में प्रभावित किया है। फलतः इन दोनों
का तुलनात्मक अध्ययन भी किया जाने लगा है।

रामायण और महाभारत का तुलनात्मक अध्ययन करते समय जो बात
दम हमारा ध्यान अपनी ओर खींच लेती है वह है इन दोनों ग्रन्थों की पारस्
समानताएँ। इन समानताओं में सबसे पहली तो कथा की है। सीता और द्रौ
दोनों नायिकाएँ आश्चर्यजनक रीति से पैदा हुई हैं। दोनों का विवाह स्वयंवर
के द्वारा अवश्य हुआ था किन्तु वर का चुनाव दोनों में से किसी की भी इ
से नहीं हुआ था. इस दिशा में तो शारीरिक शक्ति ही सर्वोच्च मानी गई
इतना ही नहीं, दोनों ही ग्रन्थों में नायिकाओं—सीता और द्रौपदी—का अप
क्रमशः रावण और जयद्रथ द्वारा होता है। इसी प्रकार से दोनों महाकाव्यों
पौराणिक कथाओं में भी बहुत समानता है। दोनों में ऋग्वेद-कालीन प्रकृति
का लोप ही दृष्टिगत होता है। वरुण, आश्विन और आदित्य जैसे देवताओं
दोनों में ही उल्लेख नहीं है। उषा जैसी देवियों का वर्णन भी नहीं किया ग
तथा इन सबका स्थान ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश, कुवेर और दुर्गा ने ग्रहण
लिया है। अवतारवाद का प्राधान्य हो गया है तथा इन्द्र सदृश देवता स्त्री
वाले कुटुम्बी वन जाते हैं, स्वर्ग में वास करते हैं और मनुष्यों के समान
आचरण करते हैं।

कथा के अतिरिक्त दोनों के वर्णनों में भी समानता है। दोनों का आ
राज-सभा से होता है और उसके वाद प्रायः समान काल के लिए वनवास
वर्णन आता है। वनवास के समय दोनों की ही एक ग्रामीण मुखिया से मि
होती है। तत्पश्चात् दोनों में ही युद्ध के दृश्य आते हैं।

वर्णन के अतिरिक्त शैली की दृष्टि से भी दोनों ग्रन्थों में समानताएँ मि
हैं। दोनों में एक ही जैसी उपमाएँ तथा युद्ध के एक ही जैसे वर्णन पाए जाते
इतना ही नहीं, कितने ही श्लोकार्ध तथा लोकोक्तियाँ समान हैं। प्र
पाश्चात्य विद्वान् हॉपकिन्स ने तो लगभग तीन सौ स्थल ऐसे ढूँढ़ निका
जिनमें एक से वाक्य और एक-से वाक्य-रूप हैं।

उद्देश्य की दृष्टि से भी दोनों में पर्याप्त समानता दृष्टिगत होती है। द
का ही उद्देश्य है—अधर्म कुछ समय के लिए ही सफल हो सकता है किन्तु अं

विजय धर्म की होगी।

इन सभी समानताओं के अतिरिक्त इन दोनों ग्रन्थों में एक और समानता है और वह काल-संबंधी। अभी तक दोनों ही रचनाओं के रचना-काल के संबंध में विद्वान एकमत नहीं हो सके हैं। इसका कारण यह है कि दोनों ग्रन्थों में से किसी का भी अविसन्दिग्ध भाग नहीं मिलता। दोनों ही ग्रन्थों के अनेक संस्करण मिलते हैं।

किन्तु इतनी समानताओं के होते हुए भी दोनों में पर्याप्त वैषम्य है। सर्वप्रथम तो परिमाण की दृष्टि से ही दोनों में पर्याप्त अन्तर है। वर्तमान महाभारत का परिमाण जहाँ ईलियड और ओडिसी के संयुक्त परिमाण का आठ गुना है वहाँ रामायण का परिमाण महाभारत के परिमाण का चौथाई है। इसी प्रकार से जहाँ रामायण के काण्ड तथा कथावस्तु सुसंबद्ध हैं वहाँ महाभारत में ऐसा नहीं है।

रामायण और महाभारत में दूसरा प्रमुख अन्तर यह है कि प्रथम (रामायण) जहाँ एक व्यक्ति की कृति है वहाँ द्वितीय (महाभारत) में अनेक कर्त्ताओं की छाप है। फलतः जहाँ रामायण में एक ओर भाव, भाषा और रचना-शैली की एकरूपता समग्र ग्रन्थ में दीख पड़ती है। वहाँ दूसरी ओर महाभारत के भिन्न-भिन्न भागों में भाषा और रचना-शैली का भेद स्पष्ट लक्षित होता है। रामायण में एकमात्र लौकिक छंद का ही प्रयोग किया गया है। किन्तु महाभारत में अनेक स्थलों पर वैदिक छंदों का प्रयोग मिलता है।

कथा की दृष्टि से जहाँ दोनों में साम्य है वहाँ कहीं-कहीं वैषम्य भी आ गया है। रामायण में महाभारत की किसी भी कथा का उल्लेख नहीं है, परन्तु महाभारत में रामायण की कथा और बाल्मीकि का कई स्थानों पर उल्लेख है। इसी प्रकार से रामायण में स्वयंवर के अवसर पर धनुर्विद्या संबंधी परीक्षण सरल है। किन्तु महाभारत में उसमें विशेष सुधार किया गया है और उसमें नवीनता लाई गई है। रामायण में वानर और राक्षस अपनी माया-शक्ति का प्रयोग करते हुए युद्ध करते हैं, किन्तु महाभारत में घटोत्कच को छोड़कर अन्य सभी मनुष्य ही भाग लेते हैं। महाभारत में प्राप्त होने वाले युद्ध के विभिन्न प्रकार यथा चक्रव्यूह, क्रौंच व्यूह, मकर व्यूह, श्वेन व्यूह, पद्म व्यूह आदि सेना-संचालन के ढंग रामायण में प्राप्त नहीं होते।

रामायण और महाभारत नाम्नी रचनाओं में एक अन्य अन्तर यह है कि जहाँ रामायण का समाज आदर्शवादी है वहाँ महाभारत में ऐसी बात नहीं है। रामायण में जहाँ रामचन्द्र जी के पवन-पावन एवं आदर्श आचरण दृष्टिगत होते हैं वहाँ महाभारत के युधिष्ठिर तो द्युत आदि कर्मों में प्रवृत्त हैं। इसी प्रकार रामायण के राम और भरत जहाँ राज्य-प्राप्ति के प्रति पूर्णतः उदासीन हैं वहाँ महाभारत के दुर्योधन का तो सिद्धान्त ही यही है—

'सूच्यग्रनैवदास्यामि विना युद्धेन केशव'

इतना ही नहीं, रामायण की प्रजा जहाँ अन्याय का विरोध करने में तनिक भी नहीं हिचकती और कैकेयी द्वारा सीता को तपस्विनी के वस्त्र दिए जाने पर 'धक् त्वां दशरथम्' कहकर चिल्ला उठती है वहाँ महाभारत में धृतराष्ट्र की राज-सभा में द्रौपदी की दुर्दशा होने पर भीष्म और द्रोण जैसे वयोवृद्ध भी कुछ नहीं वोलते। एक ओर रामचन्द्र जी के वनगमन के अवसर पर अयोध्यावासी उनके साथ चलने के लिए उद्यत हो जाते हैं, तो दूसरी ओर युधिष्ठिर के दो बार हस्तिनापुर से निकाले जाने पर नगर-निवासी कौरवों के भय से शोक तक प्रकट नहीं करते। आदर्शवाद की यही प्रबलता हमें युद्ध-स्थलों में भी देखने को मिलती है। रामायण के राम रावण के घायल हो जाने पर जहाँ यह कहते हैं, 'घायल का वध करना धर्म विरुद्ध है' वहाँ महाभारत में शस्त्र छोड़े हुए भीष्म और द्रोण का वध, सोते हुए धृष्टद्युम्न, शिखंडी और द्रौपदी के पाँच पुत्रों के वध के दर्शन होते हैं।

नैतिक भावना की दृष्टि से रामायण और महाभारत में पर्याप्त अन्तर है। रामायण में जहाँ सतीसाध्वी सीता का पतिव्रत और राम का पत्नीव्रत देखने को मिलता है वहाँ महाभारत में सत्यवती और कुन्ती की कुमारावस्था में सन्तानोत्पत्ति, द्रौपदी के पाँच पति और पाण्डवों के बहुविवाह के दर्शन होते हैं। इसी प्रकार से रामायण में जहाँ चरित्र की शुद्धता के लिए अग्नि-परीक्षा होती है वहाँ महाभारत में द्रौपदी के पुनर्ग्रहण (काम्यक वन में जयद्रथ द्वारा हरण कर लिए जाने के वाद) में कोई विरोध खड़ा नहीं होता।

इन सभी विषमताओं के अतिरिक्त भौगोलिक विस्तार की दृष्टि से भी इन दोनों रचनाओं में पर्याप्त अन्तर दीख पड़ता है। इस दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि रामायण में भारत की दक्षिणी सीमा विन्ध्या और दण्डक वन

तक थी, पूर्वी सीमा विदेह राज्य तक थी तथा पश्चिमी सौराष्ट्र तक, किन्तु महाभारत के समय यक आर्यावर्त्त का विशेष विस्तार हो चुका था। इसकी पूर्वी सीमा गंगासागर के संगम तक हो गई थी, दक्षिणी सीमा चोल, मालावार प्रान्त तक थी। इतना ही नहीं युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में लंका तक के राजा भी उपहार लेकर आए थे। अतः लंका तक भारत का विस्तार हो गया था।

○

५ | महाकाव्य

प्रश्न १२—संस्कृत महाकाव्यों के स्वरूप पर एक आलोचनात्मक [निबन्ध] लिखिए।

महाकाव्य जीवन की सर्वांगीणता का दर्शन कराता है। वह अपनी [विशाल] और विस्तृत परिधि में समस्त राष्ट्र और जाति को आत्मसात किए रहता [है।] महाकाव्य की इसी महत्ता को देखकर उसके स्वरूप-निर्धारण का प्रयास [काव्य-]शास्त्र के आदि-काल से होता आ रहा है।

साहित्य की प्रत्येक विधा का स्वरूप निर्धारण उसकी अपनी विशिष्ट[ताओं] के आधार पर हुआ करता है। संस्कृत महाकाव्यों में भी कुछ ऐसी विशे[षताएँ] पाई जाती हैं, यथा—कथानक का ऐतिहासिक, पौराणिक या लोक-[प्रसिद्ध] व्यक्ति पर आधृत होना, नायक का उच्चकुलोद्भव होना, सम्पूर्ण कथा[नक का] सर्गों में विभाजित होना, सर्गों का संख्या में आठ या आठ से अधिक [होना;] शृंगार, वीर और शांत में से किसी एक रस को अंगी और शेष को [अंग रूप] में ग्रहण किया जाना; धर्म अर्थ, काम, मोक्ष में से किसी एक की प्राप्ति [होना] आदि, जिसके आधार पर संस्कृत साहित्य-मनीषियों ने महाकाव्य के स[्वरूप] पर अपने-अपने विचार प्रकट किए हैं।

संस्कृत-साहित्य में महाकाव्य के स्वरूप पर विचार करने का सर्व[प्रथम] श्रेय भामह को है। उन्होंने अपनी पुस्तक में महाकाव्य के स्वरूप की वि[वेचना] इस प्रकार की है—

सर्गबन्धो महाकाव्यं महताञ्च महच्च यत्।
अग्राम्यशब्दमर्थ्यञ्च सालंकारं सदाश्रयम्॥
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैश्च यत्।
पंचभिः सन्धिभिर्युक्तं नातिव्याख्येयमृद्धिमत्।

चतुर्वर्गाभिधानेऽपि भूयसार्थोपदेशकृत् ।
युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक् ।।
... ...
नायकं प्रागुपन्यास्य वंशवीर्यश्रुतादिभिः ।
न तस्यैव वधं ब्रूयादन्योत्कर्षाभिधित्सया ।।
यदि काव्यशरीरस्य न स व्यापितयेष्यते ।
न चाभ्युदय भाक्तस्य मुधादौ ग्रहणस्तवौ ।।

अर्थात् 'महाकाव्य' सर्गवद्ध होता है। वह महान् (विषय) का निरूपक और महान् होता है। उसमें अग्राम्य शब्द, सुन्दर अर्थ, अलंकार और सद्वस्तु होनी चाहिए। उसमें मन्त्र, दूर-प्रकरण, युद्ध, नायक का अभ्युदय, पांच संधियाँ हों। वहुत व्याख्या के योग्य न हो, उत्कर्षयुक्त हो।

धर्म आदि चारों वर्गों का वर्णन होने पर भी प्रधानता उसमें अर्थ उपदिष्ट हो। उसमें लोक-स्वभाव का वर्णन हो और सभी रसों का पृथक् निरूपण हो।

कुल, बल, शास्त्राध्ययन आदि से नायक का उत्कर्ष बता कर, फिर दूसरे का उत्कर्ष कहने की इच्छा से उस नायक का वध न दिखाया जाए।

यदि उस नायक को काव्य के शरीर में व्यापक नहीं करना और उसका अभ्युदय न दिखाना हो, तो उसका आश्रयण तथा पहले स्तुति करना भी व्यर्थ है।

छठी शताब्दी में दण्डी ने भी अपनी पुस्तक काव्यादर्श में इस पर विचार किया। उन्होंने लिखा—

सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम् ।
आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् ।।
इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम् ।
चतुर्वर्गफलोपेतं चतुरोदात्तनायकम् ।।
नगरार्णवशैलर्तु चन्द्रार्कोदयवर्णनैः ।
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवः ।।
विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः ।
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि ।।

अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरंतरम् ।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसंधिभि ।।
सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरंजकम् ।
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायेत सदलंकृति ।।
न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चिदंगैःकाव्यं न दुष्यति ।
यद्युपात्तेषु संपत्तिराराधयति तद्विदः ।।
गुणतः प्रागुपन्यस्य नायकं तेन विद्विषाम् ।
निराकरणमित्येष मार्गः प्रकृतिसुन्दरः ।।
वशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि ।
तज्जयान्नायकोत्कर्षकथनं च धिनोति नः ।।

अर्थात् 'अनेक सर्गों में जहाँ कथा का वर्णन हो वह महाकाव्य कहलात इसका लक्षण यह है कि वह आशीर्वाद, नमस्कार या वस्तु-निर्देश द्वारा आ होता है। इसकी रचना ऐतिहासिक कथा या अन्य किसी उत्कृष्ट कथा के आ पर होनी चाहिए। यह काव्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का फलदायक इसका नायक चतुर (बुद्धिमान) तथा उदात्त होना चाहिए। यह नगर, पर्वत, ऋतु तथा चन्द्र और सूर्य के उदय और अस्त, उपवन और जल मधुपान और प्रेमोत्सव आदि के वर्णनों से अलंकृत होना चाहिए। यह विरहजन्य प्रेम, विवाह, कुमारोत्पत्ति, विचार-विमर्श, राजदूतत्व, अभि युद्ध तथा नायक के जय-लाभ आदि के मनोहर प्रसंगों से युक्त होना चाहि यह विभिन्न वृत्तान्तों से सुशोभित तथा सविस्तार वर्णन द्वारा हृदयंगम चाहिए। इसमें रस तथा भावों की लड़ी जुड़ी हो। इसके सर्ग बहुत लम्बे न हों। सर्गों के छन्द श्रवणीय तथा अच्छी संधियों से युक्त होने चाहिएँ। के अन्तिम श्लोक सर्वत्र भिन्न वृत्तों से युक्त होने चाहिएँ। यह काव्य रंजक तथा अलंकारों से अलंकृत होना चाहिए। ऐसा उत्तम काव्य मह के बाद भी कल्पों तक स्थिर रहता है। महाकाव्य के उपरिवर्णित अं से किसी की न्यूनता होने पर भी यदि उसमें प्रतिपादित विषय, रूप-सम्पत्ति गुण काव्य-रसिकों के चित्त को आकृष्ट कर लेता है तो वह काव्य दूषित नहीं है। प्रथम नायक के गुणों का वर्णन करके फिर उसके द्वारा उसके शत्रु पराजय का वर्णन करना चाहिए। इस प्रकार की वर्णन-रीति स्वभावतः मन

है। शत्रु के भी वंश, पराक्रम, पाण्डित्य आदि का वर्णन करने के पश्चात् नायक द्वारा उस पर विजय-प्राप्ति के माध्यम से नायक के उत्कर्ष का वर्णन करना संतोषप्रद है।

लगभग इसी भाँति अग्निपुराण, काव्यालंकार, सरस्वती-कण्ठाभरण आदि में विचार प्रकट किए गए हैं किन्तु सर्वाधिक स्पष्ट और सुव्यवस्थित विवेचन १५वीं शताब्दी में विश्वनाथ ने अपनी पुस्तक साहित्यदर्पण में किया है। उन्होंने लिखा है—

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः॥
सद्वंशः क्षत्रियोवापि धीरोदात्तगुणान्वितः।
एकवंशभवा भूपाः कुलजाः बहवोऽपि वा॥
शृंगारवीरशांतानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।
अंगानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसन्धयः॥
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत्॥
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम्॥
एकवृत्तमयैः पद्य रवसानेन्यवृत्तकैः।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह॥
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्।
संध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः।
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः॥
संभोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वाराः।
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः
वर्णनीया यथयोगं सांगोपांगा अमी इह।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा॥

अर्थात् 'जिसमें सर्गों का निबन्धन हो वह महाकाव्य कहलाता है। इसमें एक देवता या सद्वंश क्षत्रिय—जिसमें धीरोदात्त्वादि गुण हों—नायक होता है।

कहीं एक वंश के सत्कुलीन अनेक भूप भी नायक होते हैं। शृंगार, वीर और शान्त में से कोई एक रस अंगी होता है। अन्य रस गौण होते हैं। सब नाट्य संधियाँ रहती हैं। कथा ऐतिहासिक या लोक में प्रसिद्ध सज्जन सम्बन्धिनी होती है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इस चतुर्वर्ग में से एक उसका फल होता है। आरम्भ में आशीर्वाद, नमस्कार या वर्ण्य वस्तु का निर्देश होता है। कहीं खलों की निंदा और सज्जनों का गुणगान वर्णित होता है। इसमें न बहुत छोटे, न बहुत बड़े आंठ से अधिक सर्ग होते हैं। उनमें प्रत्येक में एक छन्द होता है किंतु (सर्ग का) अन्तिम पद्य भिन्न छन्द का होता है। कहीं-कहीं सर्ग में अनेक छन्द भी मिलते हैं। सर्ग के अन्त में अगली कथा की सूचना होनी चाहिए। इसमें संध्या, सूर्य, रात्रि, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, संयोग, वियोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, विवाह, यात्रा, मन्त्र, पुत्र और अभ्युदय आदि का यथासम्भव सांगोपांग वर्णन होना चाहिए। इसका नाम कवि के नाम से, या चरित्र के नाम से, अथवा चरित्र-नायक के नाम से होना चाहिए। सर्ग की वर्णनीय कथा से सर्ग का नाम लिखा जाता है। संधियों के अंग यहाँ यथासम्भव रखने चाहिए। जलक्रीड़ा, मधुपानादक सांगोपांग होने चाहिएँ।

उपर्युक्त आलोचकों और अन्य अनेक आलोचकों द्वारा उपस्थापित महाकाव्य सम्बन्धी तत्वों पर यदि एक विहंगम दृष्टिपात किया जाय तो यह सर्वथा स्पष्ट है कि प्रायः सभी आलोचकों ने थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ समान तथ्य ही प्रस्तुत किए हैं। प्रायः सभी आलोचकों ने कथावस्तु, नायक, रस और उद्देश्य नामक तत्वों पर ही विचार किया है।

कथावस्तु के सम्बन्ध में प्रायः सभी आलोचक इस तथ्य से सहमत हैं कि वह सर्गबद्ध और सानुबन्ध होनी चाहिए। उसका विभाजन सुविधानुसार सर्गों में होना चाहिए और सर्गों की संख्या ८ या ८ से अधिक होनी चाहिए। प्रत्येक सर्ग में चरित् नायक की कथा का समावेश होना चाहिए। इतना ही नहीं, यह कथावृत्त ऐतिहासिक होना चाहिए और उसमें यथास्थान नूतन, मनोमुग्धकारी और काल्पनिक वृत्तों का संयोजन होना चाहिए। ऐतिहासिक कथा की इस अनिवार्यता का कारण यह है कि इसके द्वारा साधारणीकरण शीघ्र हो जाता है। उसमें आदर्श की स्थापना भी सहज सम्भव है।

नायक के सम्बन्ध में संस्कृत आचार्यों का विचार है कि वह धीरोदात्त

गुणसम्पन्न अर्थात् क्रोध-शोक से रहित, गंभीर, क्षमावान, आत्मश्लाघाहीन, स्थिर, अहंकाररहित और दृढ़वर्ती होना चाहिए। उसके अनुसार ऐसा नायक ही लोकरंजनकारी और लोकादर्श के रूप में प्रतिष्ठित हो सकता है।

रस के सम्बन्ध में संस्कृत साहित्य में वड़ा वाद-विवाद रहा है। लेकिन इतना सब कुछ होने पर भी रस को काव्य की आत्मा के रूप में ही स्वीकार किया है। संस्कृत साहित्य-मनीषियों के अनुसार महाकाव्य में एक रस की ही प्रधानता होनी चाहिए और यह रस शृंगार, वीर और शांत में से कोई एक हो सकता है। शेष रसों का वर्णन एवं समाहार अंगीरूप में न होकर अंगरूप में होना चाहिए।

उद्देश्य की दृष्टि से यह माना गया है कि महाकाव्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि से युक्त होना चाहिए। इस प्रकार से महाकाव्य के उद्देश्य में संस्कृत मनीषियों ने ऐहिक और आध्यात्मिक फलों का समन्वय कर दिया है।

महाकाव्य के उपर्युक्त तत्वों के अतिरिक्त उनमें कुछ और भी गुणों का होना आवश्यक माना गया है यथा—आरम्भ मंगलाचरण से होना चाहिए, एक सर्ग में एक ही छन्द रहना चाहिए और अन्त में वदल जाना चाहिए। परन्तु इन सबके सम्बन्ध में, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सभी आचार्य एकमत नहीं हैं।

प्रश्न १३—'संस्कृत-महाकाव्य : उद्भव और विकास' विषय पर एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए।

संस्कृत साहित्य के इतिहास में वेदों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इसका मुख्य कारण यह है कि वे जहाँ एक ओर भारतीय जीवन के विविध पक्षों का अत्यन्त अनाविल चित्र प्रस्तुत करते हैं वहाँ दूसरी ओर काव्यकला की दृष्टि से भी अत्यन्त श्रेष्ठ हैं। इस काव्यगत वैशिष्ट्य ने परवर्ती संस्कृत-साहित्य को निश्चय ही प्रभावित किया होगा। वाचस्पति गौरोला का विचार है कि "महाकाव्य का जो वैभवशाली रूप आज हमारे सामने विद्यमान है, कदाचित् उसकी आधारशिला वैदिक काल में ही पड़ चुकी थी। आगे चलकर ब्राह्मण-ग्रन्थों (२५००-१४०० खि० पू०) में वर्णित आख्यानों में काव्य के तत्कालीन वीज अंकुरित होते दिखाई देते हैं और सूत्रकाल (१४००-५०० खि० पू०) की भाव-बहुल शैली में वही काव्यांकुर ईषत्पल्लवित होते प्रतीत होते हैं।"

संस्कृत साहित्य में महाकाव्य-परम्परा का वास्तविक श्रीगणेश रामाय
माना जाता है। इसके प्रणेता महाकवि वाल्मीकि आदि कवि के रूप में प्रति
हैं। इस कृति का रचनाकाल अत्यन्त विवादास्पद है किन्तु अधिकांश विद्वा
यही विचार है कि इसका प्रणयन ५०० ई० पू० में हो चुका था। यद्यपि र
यण आदिकाव्य है किन्तु काव्योत्कर्ष की दृष्टि से यह किसी भी परवर्ती र
न्यून नहीं है। सच तो यह है कि इसका रचना-शिल्प और काव्य-वैभव
को अनायास ही विस्मय में डाल देता है। वस्तु-गठन, रसव्यंजना,
स्थलों की हृदयहारिणी छटा, छन्दों के सधे हुए प्रयोग आदि सभी दृष्टियों
अत्यन्त उत्कृष्ट रचना बन पड़ी है। साहित्य-जगत् में इसका काव्य ग्र
कितना गौरवपूर्ण स्थान मिला है इसका अनुमान इसी बात से लगा
सकता है कि अनेक परवर्ती रचनाएँ इसे आधार बनाकर रची गयी हैं।
दास, भटिट्, कुमारदास ने क्रमशः 'रघुवंश', 'रावण वध' 'जानकी हरण'
अपनी महत्त्वपूर्ण रचनाओं को लिखते समय रामायण को ही अपना
बनाया है।

रामायण के बाद दूसरी महत्त्वपूर्ण रचना महाभारत है। विद्वानों
सम्बन्ध में पर्याप्त विवाद है कि रामायण और महाभारत में से किसे
रचना स्वीकार किया जाए और किसे परवर्ती। फिर भी आज अधिकांश
चकों का यही विचार है कि रामायण एक पूर्ववर्ती रचना है क्योंकि
भारत में जहाँ रामायण के अनेक प्रसंग वर्णित है वहाँ महाभारत के
का वर्णन रामायण में नहीं है। यदि रामायण का प्रणयन बाद में
होता तो उस पर महाभारत का कुछ न कुछ प्रभाव पड़ना ही
था। जो कुछ भी हो महाभारत भी रामायण के समान ही एक
महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके प्रणेता महर्षि व्यास बतलाए जाते हैं, परन्तु
इसका जो रूप उपलब्ध है वह किसी एक व्यक्ति द्वारा निर्मित प्रती
होता। अनेक आलोचकों का विचार है कि समय-समय पर विभिन्न
प्रतिभाओं ने इसकी मूल कथा में इच्छानुरूप सामग्री जोड़ी होगी जिस
स्वरूप आज इसमें न केवल शैलीगत वैभिन्न्य ही दृष्टिगत होता है
अनेक परस्पर विरोधी तथा सामंजस्य विघातक सिद्धान्तों का प्रतिपा
परिलक्षित होता है। यही कारण है कि आज सामान्यतः यह माना

कि व्यास ने जिस रचना का प्रणयन किया था उसका नाम जय था तथा उसमें ८८०० श्लोक थे। जनमेजय द्वारा किए गए नागयज्ञ के अवसर पर इस ग्रन्थ का वाचन किया गया। यह वाचन महर्षि व्यासदेव की आज्ञा से वैशम्पायन ने किया। कथा-वाचन के समय जनमेजय ने अपनी जिज्ञासाओं का समाधान करने के लिए अनेक प्रश्न किए। वैशम्पायन ने उन प्रश्नों का विस्तारपूर्वक समाधान प्रस्तुत किया। यह सारा अंश मूल ग्रन्थ में ही जड़ गया और वह 'भारत' या 'जय भारत' कहलाया। अब श्लोक संख्या २४,००० हो गई। जनमेजय के नागयज्ञ के कुछ समय बाद शौनकादि ऋषियों ने नैमिषारण्य में एक विशाल यज्ञ का आयोजन किया। यह यज्ञ बारह वर्षों तक चला। इस अवसर पर शौनकादि ऋषियों ने 'भारत' काव्य को सुनने की इच्छा व्यक्त की। इस अवसर पर सौति ऋषि उपस्थित थे। अतः उन्होंने इस काव्य का वाच किया। इस अवसर पर भी कुछ मुनियों ने अपनी जिज्ञासाएँ प्रस्तुत की और सौति ने उनका समाधान तद्युगीन नानाविध आख्यानों-उपाख्यानों के माध्यम से किया। इस प्रकार श्लोकों की संख्या एक लाख तक पहुंच गई और यह नया रूप 'महाभारत' कहलाया। प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से महाभारत भारतीय ज्ञान का विश्वकोष है। भारतीय मनीषा ने धर्म, दर्शन-नीति, राजनीति आदि के सम्बन्ध में जो कुछ भी चिन्तन-मनन किया है उसका समवेत रूप महाभारत में देखने को मिलता है। काव्यत्व की दृष्टि से भी महाभारत एक रमणीय रचना है। द्रौपदी का स्वयंवर-प्रसंग, द्यूत-क्रीड़ा, द्रौपदी का लज्जापहरण, सुभद्रा-विलाप आदि महाभारत के कतिपय मार्मिक स्थल हैं। रामायण के समान महाभारत ने भी परवर्ती संस्कृत साहित्य को पर्याप्त प्रभावित किया है। भास ने अपने अनेक नाटकों तथा पंचरात्र, मध्यम व्यायोग, कर्णभार आदि, कालिदास ने अपनी प्रसिद्ध नाट्य रचना अभिज्ञान शाकुन्तलम् तथा भारवि, भट्टनारायण और माघ ने क्रमशः किरातार्जुनीय वेणीसंहार तथा शिशुपाल वध नामक रचनाओं का प्रणयन करते समय महाभारत को ही आधार बनाया है।

संस्कृत महाकाव्यों की विकास-परम्परा मुख्यतः ई० पूर्व ५०० से ७वीं शताब्दी तक ही मानी जाती है। इस शृंखला में पहला नाम सुप्रसिद्ध वैयाकरणकार महर्षि पाणिनि का है। इनका रचना काल ई० पूर्व ५०० के आसपास

माना जाता है। इनकी रचना का नाम है 'जाम्बवती विजय'। कतिपय वि
यह मानते हैं कि उन्होंने 'पाताल विजय' नामक एक अन्य महाकाव्य भी लि
या। बहुत से विद्वानों का विचार है कि 'जाम्ववती विजय' का ही दूसरा न
'पाताल विजय' है। काव्यकला की दृष्टि से पाणिनि एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण क
कार प्रतीत होते हैं। सम्भवतः इसीलिए अनेक सूक्ति ग्रंथों, कोषों तथा अलंका
शास्त्रीय ग्रन्थों में इस ग्रंथ से श्लोक उद्धृत मिलते हैं। कतिपय पाश्चात्य विद्वा
का यह विचार है कि वैयाकरणकार पाणिनि और कवि पाणिनि को एक मान
ठीक नहीं है क्योंकि व्याकरण लेखन जैसा अत्यन्त शुष्क और नीरस कार्य क
वाला व्यक्ति कवि कैसे हो सकता है। लेकिन विद्वानों की यह धारणा निरा
ही प्रतीत होती है। इसका कारण यह है कि भट्टि और माघ दोनों ने ही अत्य
रसपूर्ण काव्य की रचना भी की है और दोनों की ही व्याकरणशास्त्र
भी अद्भुत गति थी। प्रसिद्ध साहित्य-मनीषी तथा पाश्चात्य विद्वान डा
पिशेल की भी यही मान्यता है कि पाणिनि का प्रौढ़ मस्तिष्क व्याकरण के शु
नियमों का विधाता भले ही हो किन्तु उसका हृदय कमनीय काव्यकला
आकर भी अवश्य था। संस्कृत साहित्य के अनेक परवर्ती कवियों यथा राजशे
क्षेमेन्द्र आदि ने भी पाणिनि की कवित्व-शक्ति की पर्याप्त प्रशंसा की है। रा
शेखर ने लिखा है :

नमः पाणिनये तस्मै यस्मादाविरभूदिह।
आदौ व्याकरणं काव्यमनु जाम्बवतीजयम् ।।

अर्थात् जिनसे पहले व्यकरण और बाद में 'जाम्बवती-(वि) जय' ना
काव्य प्रादुर्भूत हुआ, उन पाणिनि को मैं नमस्कार करता हूं। क्षेमेन्द्र ने
पाणिनि के उपजाति छन्दों की प्रशंसा करते हुए लिखा है :

स्पृहणीयत्वचरितंम् पाणिनेरुपजातिभिः।
चमत्कारैकसाराभिरुद्यानस्येव जातिभिः ।।

ऐसा प्रतीत होता है कि 'जाम्बवती-विजय में कम से कम १८ सर्ग अवश्य
होंगे। इसका कारण यह है कि शरणदेव ने अपनी प्रसिद्ध कृति दुर्घटवृत्ति
निम्नलिखित श्लोकः

"त्वया सहार्जितं यच्च-यच्च सख्यं पुरातनम्।
चिराय चेतसि पुरस्तरुणीकृतमद्य मे।।"

को उद्धृत करते हुए जो टिप्पणी दी है उसमें यह बात स्पष्ट रूप से अंकित है

कि जाम्बवती-विजय' में १८ सर्ग हैं यथा—"जाम्बवतीविजये पाणिनिनोक्तम् इत्याष्टादशे सर्गे।"

यद्यपि 'जाम्बवती विजय' आज उपलब्ध नहीं है किन्तु उसके जो कतिपय श्लोक विभिन्न ग्रंथों में प्राप्त होते हैं उनके आधार पर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि पाणिनि का काव्य सहृदय के मन को सहज में ही अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। उसमें शृंगार रस की अत्यधिक मर्मस्पर्शी व्यंजना हुई है और प्रकृति-चित्रण विषयक स्थलों से कवि की सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति का परिचय प्राप्त होता है। शरद्काल में गगनमण्डल पावसकालीन जलदों से निर्मुक्त हो जाता है तथा कुछ ही समय पहले हुई वर्षा के फलस्वरूप वातावरण में धूल का भी कोई चिन्ह शेष नहीं रहता। ऐसी अवस्था में प्रारम्भ में भानु का प्रताप अत्यन्त प्रखर प्रतीत होता है। पणिनि ने इस स्थिति का वर्णन अत्यन्त रमणीय रीति से इस प्रकार किया है—

ऐन्द्रं धनुः पांडुपयोधरेण
शरद्दधानार्द्रनखक्षताभम्।
प्रसादयन्ति सलंकमिन्दुं
तापं खेरभ्यधिकं चकार॥

पार्णिनि ने अलंकार-प्रयोग में भी अपनी कुशलता का परिचय दिया है और वे सदैव तथा सर्वत्र पाठक के हृदय को अपनी मनोहारिणी छटा से आप्लावित करने की सामर्थ्य रखते हैं।

पाणिनि के समकालीन महाकाव्यकारों में व्याडि का भी उल्लेख किया जाता है। समुद्रगुप्त ने अपने ग्रन्थ 'श्रीकृष्ण चरितम्' में व्याडि की बहुत प्रशंसा की है और यह कहा है, 'व्याडि रस-तन्त्र का आचार्य महाकवि, शब्दब्रह्मैकवाद का प्रवर्तक, पाणिनिसूत्रों का व्याख्याता और मीमांसकों में अग्रणी थे। उसने 'बालचरित' लिखकर 'भारत' और 'व्यास' को जीत लिया। महाकाव्य के क्षेत्र में व्याडि का ग्रन्थ प्रदीपभूत था। अमरकोष के एक अज्ञात टीकाकार के माध्यम से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि व्याडि ने किसी विशाल महाकाव्य की रचना की थी। ऐसा माना जाता है कि यह महाकाव्य महाभारत से भी बड़ा था। लेकिन आज व्याडि के महाकाव्य बालचरित की कोई प्रति उपलब्ध नहीं है। व्याडि का रचना-काल ई० पूर्व चौथी शताब्दी के अन्त तथा पाँचवीं शताब्दी के

आरम्भ के आस-पास माना जाता है।

समुद्रगुप्त विरचित श्रीकृष्णचरितम् से ही यह ज्ञात होता है कि प्रसिद्ध वार्तिककार वररुचि ने भी 'स्वर्गारोहण' नामक महाकाव्य की रचना की थी। वररुचि का दूसरा नाम कात्यायन था। 'कथासरित्सागर' के माध्यम से यह ज्ञात होता है कि वररुचि पाटलिपुत्र के नरेश नन्द के महामन्त्री थे। डा० भण्डारकर ने वररुचि का रचना-काल ई० पूर्व चौथी शताब्दी के आस-पास माना है।

यद्यपि पातंजल महाभाष्य में इस बात के स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि वररुचि केवल व्याकरणाचार्य ही नहीं थे अपितु कवि भी थे तथा अनेक सुभाषित संग्रहों में वररुचि विरचित पद्य भी प्राप्त होते हैं, किन्तु उनके महाकाव्य की प्रति आज उपलब्ध नहीं है। परिणामतः वररुचि की काव्यकला के वैशिष्ट्य के सम्बन्ध में कुछ भी कहना सम्भव नहीं है।

वररुचि के आस-पास ही शाङ्खायन का उल्लेख भी एक महाकाव्यकार के रूप में किया जाता है। 'श्रीकृष्णचरितम्' में इनका उल्लेख वररुचि से पहले किया गया है, जिससे यह अनुमान लगाया जाता है कि यह वररुचि से पहले ही होंगे। महाकवि राजशेखर ने वररुचि और शाङ्खायन को एक ही समझ लिया है जिसके फलस्वरूप उन्होंने शाङ्खायन के महाकाव्य 'कण्ठाभरण' को वररुचि विरचित बतला दिया है।

शाङ्खायन विरचित 'कण्ठाभरण' की प्रति आज अनुपलब्ध है जिसके फलस्वरूप आज इसके सम्बन्ध में कुछ भी कहना सम्भव नहीं है किन्तु निम्नोक्त श्लोक—

> शाङ्खायनाय कवये नमोऽस्तु कण्ठाभरणकर्त्रे।
> काव्यं नस्य रसाढ्यं कण्ठाभरणं सदा विदुषाम् ॥

से यह अवश्य ज्ञात होता है कि इनके महाकाव्य 'कण्ठाभरण' ने अपनी रसात्मकता के फलस्वरूप विद्वत्समाज में अत्यन्त आदरणीय स्थान प्राप्त कर लिया था।

'श्रीकृष्णचरितम्' में कालिदास पूर्ववर्ती महाकाव्यकारों की जो सूची दी गयी है उससे अनेक लुप्त कवियों के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। यह सूची कालक्रमानुसार दी गयी है और इसके अनुसार कालिदास से पूर्व देव

पतंजलि, भास, वर्धमान, चीनदेव, अश्वघोष, हरिश्चन्द्र, आवन्तिकः नामक महाकाव्यकारों के होने का पता चलता है। देवल को इन्द्रविजयम् नामक महाकाव्य का प्रणेता बतलाया गया है, लेकिन आज न तो कवि देवल के सम्बन्ध में ही कोई जानकारी उपलब्ध है और न उनके महाकाव्य इन्द्रविजयम् के विषय में ही। पतंजलि अवश्य एक महाभाष्यकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। पाणिनि के प्रसिद्ध व्याकरण ग्रंथ अष्टाध्यायी पर लिखा गया इनका महाभाष्य पाण्डित्य तथा रचनाशैली दोनों ही दृष्टियों से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण एवं अपूर्व माना जाता है। पतंजलि पुष्यमित्र की राज्यसभा में १५० ई० पूर्व में विद्यमान थे। अतः उनका रचनाकाल इसके आसपास माना जाता है। पतंजलि केवल व्याकरणशास्त्र के ही पण्डित नहीं थे अपितु वैद्यक शास्त्र में भी उनकी पर्याप्त गति थी। महाकाव्यों की विकास-परम्परा में उन्होंने 'महानन्द' नामक रचना के माध्यम से अपना योग प्रदान किया था लेकिन आज यह रचना उपलब्ध नहीं है।

'श्रीकृष्णचरितम्' के अनुसार महाकाव्य-परम्परा में पतंजलि के अनन्तर भास का नाम आता है। समुद्रगुप्त ने भास के लिए 'भासमान महाकाव्य' विशेषण का प्रयोग किया है। लेकिन आज न तो भास-विरचित कोई महाकाव्य ही उपलब्ध होता है और न उनकी प्रसिद्धि ही महाकाव्यकार के रूप में है। वह तो एक नाटककार के रूप में ही प्रख्यात हैं। लेकिन बहुत सम्भव है कि उन्होंने कोई महाकाव्य भी लिखा हो और जिस प्रकार हमें कुछ समय पूर्व ही उनके नाटकों का पता चल पाया है उसी प्रकार कुछ समय बाद अनुसन्धानों की खोज के फलस्वरूप हम उनके महाकाव्यकार रूप से भी परिचित हो पायें।

समुद्रगुप्त ने वर्धमान, चीनदेव, हरिश्चन्द्र और आवन्तिकः नामक कवियों के महाकाव्यकार होने का भी उल्लेख किया है तथा इन्हें क्रमशः 'भीमजयम्', 'बुद्धचरितम्' 'कर्णकीर्ति तथा 'शूद्रकजयम्' का रचयिता बतलाया है, लेकिन इन कवियों के कतिपय श्लोक ही सुभाषित ग्रंथों में पढ़ने को मिलते हैं, इनकी रचनाओं का पता अभी तक नहीं लग पाया है।

वास्तव में संस्कृत महाकाव्य का क्रमबद्ध रूप हमें कालिदास से ही देखने को मिलता है और श्रीहर्ष तक यह परम्परा अपने उत्कर्ष तक पहुंचती हुई परिलक्षित-

होती है। इस शृंखला में अश्वघोष, भारवि, भट्टि, कुमारदास, माघ, अभिनन्द, कर, हरिश्चन्द्र, शिवस्वामी, क्षेमेन्द्र, मंखक अन्य महत्त्वपूर्ण महाकाव्यकार श्रीहर्ष से पहले आते हैं।

महर्षि वाल्मीकि और व्यास परवर्ती लेखकों में कविकुल चूड़ामणि म कालिदास का नाम सर्वोपरि है। इनके रचनाकाल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद रहा है, किन्तु आज अधिकांश विद्वान् प्रथम शताब्दी ई० पू० इनका रचना-काल मानते हैं। कालिदास सर्वतोमुखी प्रतिभा से सम्पन्न कार थे। उन्होंने महाकाव्य ही नहीं अपितु गीतिकाव्य तथा रूपक रचना में अद्वितीय सफलता प्राप्त की है। महाकाव्य के क्षेत्र में उन कृतियाँ—(क) रघुवंश और (ख) कुमारसम्भव—उपलब्ध हैं। रघुवं सर्गों में विभक्त रचना है। इसका कथानक रामायण तथा पुराणों से लिया है। इसमें महाराजा दिलीप से लेकर अग्निवर्ण तक अनेक इक्ष्वाकुवंशि चरित्र का सम्यक् उद्घाटन किया गया है। कुमारसम्भव १८ स विभक्त रचना है, परन्तु सारे सर्गों की शैली एक समान नहीं है। इस देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि प्रथम आठ सर्ग तो कालिदास ने लिखे तथा शेष किसी दूसरे कवि ने। इस मान्यता का पहला आधार तो यह मल्लिनाथी संजीवनी इन्हीं सर्गों पर उपलब्ध होती है, अन्य सर्गों पर दूसरा कारण यह है कि संस्कृत के रीति-ग्रंथों में जो श्लोक उद्धृत किए गए केवल प्रथम आठ सर्गों से सम्बद्ध हैं।

काव्यकला की दृष्टि से कालिदास संस्कृत साहित्य के ही स कवि नहीं हैं अपितु वह तो संसार के सर्वश्रेष्ठ कवियों में से एक हैं। व्यंजना, प्रकृति-चित्रण, जीवन-दर्शन, प्रसाद-गुण-युक्त कोमल-कांत-प चित्ताकर्षक तथा नूतन उपमान-योजना आदि कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं कि कालिदास के साहित्य को अजर-अमर बना दिया है। रस-व्यञ्जना की से कालिदास के काव्य का परीक्षण करने पर यह ज्ञात होता है कि अभिरुचि कोमल रसों की व्यंजना की ओर अधिक रही है, इसीलिए काव्य में शृंगार रस की व्यंजना बहुत मर्मस्पर्शी मिलती है। कालि काव्य में शृंगार रस अपने दोनों उपविभागों—संयोग और वियोग— उभर कर आया है। संयोग शृंगार के अन्तर्गत नखशिख-वर्णन तथा

विषयक चित्रों को प्रमुखता प्राप्त होती है तो वियोग श्रृंगार के अन्तर्गत विरह भावना को रूपायित किया जाता है। कालिदास इन सभी स्थितियों का सशक्त रूपांकन करने में निपुण है। नखशिख-वर्णन की दृष्टि से निम्नलिखित अवतरण देखिये जिसमें साधनारत पार्वती की रूपश्री को रूपायित किया गया है :

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः
पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः ।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे
चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः ।। (कुमारसंभव ५।२४)

इस श्लोक में कवि ने इस बात का वर्णन किया है कि जिस समय पार्वती किसी खुले स्थान पर बैठ कर तपस्या करती थी उस समय वर्षा की पहली बूंदें किस प्रकार से उसके ललाट पर से नाभि प्रदेश तक टकराती बलखाती पहुंच जाती थीं। कवि का कथन है कि बरौनियों के घने होने के कारण सर्वप्रथम तो जल की बूंद कुछ समय तक तो उनमें अटक जाती थीं किंतु थोड़े ही समय के लिए, जिससे यह ज्ञात होता था कि वह घनी होने के साथ-साथ स्निग्ध भी थीं। तदनन्तर वे बूंदें अधरों से होती हुई उरोजों से टकराकर तितर-बितर हो जाती थीं जिससे यह ज्ञात होता था कि पार्वती के उरोज अत्यन्त कठोर और उन्नत थे। इसके बाद वे बूंदें उदर की त्रिबलि में चक्कर काटती हुई नाभि-प्रदेश में पहुंच जाती थीं।

कालिदास के काव्य में संभोग-वर्णन के सर्वाधिक चित्र कुमारसंभव में मिलते हैं। वस्तुतः कुमारसंभव में संभोग-चित्रों की इतनी प्रचुरता है कि वह आलोचकों की कटु आलोचना का विषय बन गया है।

वियोग-श्रृंगार की दृष्टि से कालिदास की सर्वश्रेष्ठ रचना मेघदूत है—लेकिन मेघदूत गीतिकाव्य है, महाकाव्य नहीं। महाकाव्यों में वियोग के सरस चित्र तो रघुवंश में ही देखने को मिलते हैं। सीता के वियोग में राम की अवस्था विक्षिप्त व्यक्ति के सदृश हो जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि वह अपनी प्रिया से समानता रखने वाली प्रत्येक वस्तु को प्रिया ही समझ बैठते हैं। यही कारण है कि जिस समय वह पुष्पस्तवकों के भार से झुकी हुई अशोक लता को देखते तो हैं

उसे सुन्दर स्तनों के बोझ से झुकी सीता ही समझ बैठते हैं और ज्यों ही उसे आलिंगन-पाश में बाँधने के लिए उद्यत होते हैं त्यों ही लक्ष्मण उन्हें वस्तुस्थिति समझाकर ऐसा करने से रोक देते हैं :

> इमां तटाशोकलतां च तन्वीं स्तनाभिरामस्तबकाभिनम्राम ।
> त्वत्प्राप्ति बुद्धया परिरब्धुकामः सौमित्रिणा साश्रुरहं निषिद्धः ।।
>
> (रघुवंश १३।३२)

शृंगार के अतिरिक्त जिन अन्य रसों की व्यंजना कालिदास के महाकाव्यों में मिलती है उनमें करुण का उल्लेखनीय स्थान है—वैसे अन्य रस भी कालिदास के काव्य में इधर-उधर अपनी छटा विखेरते हुए दिखाई दे जाते हैं।

कालिदास का काव्य प्रकृति-वर्णन के लिए बहुत प्रसिद्ध है। रघुवंश के दूसरे सर्ग में तथा कुमारसम्भव के पहले सर्ग में कवि ने हिमालय के सौन्दर्य को रूपायित करने वाले जो चित्र उतारे हैं वे अत्यन्त रमणीय बन पड़े हैं और कवि की सूक्ष्म दृष्टि का परिचय देते हैं। कालिदास के काव्य में प्रकृति का उद्दीपन पक्ष बेजोड़ बन पड़ा है।

कालिदास का काव्य अपनी कोमलकान्त-पदावली तथा नूतन उपमानों के लिए भी प्रख्यात है। कालिदास वैदर्भी रीति के प्रयोग में अत्यन्त पटु हैं, "वैदर्भी रीति संदर्भे कालिदासो विशिष्यते।" कालिदास दुरूह तथा समस्त पदों के प्रयोग से अपनी भाषा को कहीं भी कठिन नहीं बनाते, वह तो सर्वत्र माधुर्य तथा प्रसाद गुण-युक्त कोमल-कान्त-पदावली का ही प्रयोग करते हैं। इसके साथ ही वे अपनी भाषा को नाद-सौन्दर्य के द्वारा व्यंजनापूर्ण बनाने का प्रयत्न करते हैं।

कालिदास अपनी उपमाओं के लिए भी बहुत प्रसिद्ध हैं। इस दिशा में उनकी विशिष्टता को व्यक्त करने के लिए यह उक्ति ही प्रसिद्ध है, 'उपमा कालिदासस्य'। इस क्षेत्र में कालिदास की ख्याति का मुख्य कारण यह है कि उन्होंने अपनी भाषा को [illegible] उपमानों से बोझिल नहीं बनाया है अपितु अपनी [illegible] ऐसे उपमानों के प्रयोग की ओर रखा है जो स्वाभाविक तथा नित्यप्रति के जीवन के [illegible]

'अश्वघोष' के सम्बन्ध में विद्वानों में यह विवाद है कि उन्हें कालिदास पूर्ववर्ती कवि माना जाए अथवा कालिदास परवर्ती। अधिकांश विद्वान इन्हें कालि-

अश्वघोष

परवर्ती कवि ही मानते हैं। इनका रचनाकाल पहली शताब्दी ईसवी माना जाता है। 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरानन्द' इनके सुप्रसिद्ध महाकाव्य हैं। दोनों ही महाकाव्यों में बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का आख्यान है। काव्यत्व की दृष्टि से इन ग्रन्थों की परीक्षा करने पर यह ज्ञात होता है कि कवि में वस्तु-योजना, मार्मिक स्थलों का चयन, रस-व्यंजना, प्रकृति के सजीव चित्रण तथा सरल, स्वाभाविक एवम् कोमल भाषा के प्रयोग में दक्षता प्राप्त है। यही कारण है कि शताब्दियों के बीत जाने पर भी अश्वघोष का काव्य लुप्त नहीं हुआ।

अश्वघोष के अनन्तर प्रसिद्धि प्राप्त करने वाले महाकवियों में भारवि का नाम उल्लेखनीय है। इनका रचना-काल छठी शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है। इनकी कीर्ति का एकमात्र आधार है किरातार्जुनीय नामक महाकाव्य। महाभारत की कथा पर आधारित यह रचना संस्कृत साहित्य की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों में मानी जाती है। भारवि के काव्य का सर्वाधिक वैशिष्ट्य है उनका अर्थगौरव। इस सम्बन्ध में कहा भी गया है 'भारवेरर्थगौरवम्'। इसके अतिरिक्त इनकी एक अन्य विशेषता यह भी है कि वह एक ही वर्ण के माध्यम से सम्पूर्ण पद की रचना कर डालने में अत्यन्त निपुण हैं। अलंकारप्रियता, चित्रात्मकता और राजनीति तथा व्यावहारिक ज्ञान से आपूर्ण श्लोकों का निर्माण भारवि के काव्य की कतिपय अन्य विशेषताएँ हैं। प्रकृति के अनेक रमणीय चित्र भी भारवि के काव्य में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। उनका शरद वर्णन तो पाठक के मन को अनायास ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है, लेकिन इन विशेषताओं के होते हुए भी भारवि के काव्य में कतिपय ऐसे दोष मिलते हैं जो उनके पाठक को रसास्वाद से वंचित कर देते हैं। इन दोषों में सर्वप्रमुख दोष है भाषा का कठिन होना। इसीलिए कहा भी गया है कि भारवि का काव्य नारिकेल फल के समान है अर्थात् जिस प्रकार नारियल ऊपर से अत्यन्त कठोर तथा भीतर से अत्यन्त सरस होता है उसी प्रकार से भारवि का काव्य ऊपर से अत्यन्त कठोर तथा भीतर से अत्यन्त रसपूर्ण है।

संस्कृत महाकाव्यकारों में भारवि के बाद भट्टि का नाम आता है। भट्टि का रचना-काल छठी शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है। इनकी रचना है 'रावणवधम्'। इसे 'भट्टिकाव्य' भी कहते हैं। यह महाकाव्य रामायण की कथा पर आधारित है। इस महाकाव्य का उद्देश्य सुकुमार-बुद्धि के पाठकों को व्याकरण के

जटिल नियमों से परिचित कराना था। इसीलिए इसमें एक स्थल पर कहा गया है :

दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम्।
हस्तादर्श इवान्धानां भवेद व्याकरणादृते ॥
(भट्टिकाव्य २२।३

अर्थात् व्याकरण का ज्ञान रखने वाले पाठकों के लिए यह महाकाव्य दीपक समान ज्ञान का प्रकाश विकीर्ण करने वाला है, किन्तु जो व्यक्ति व्याकरण से शून्य हैं उनके लिए यह उसी प्रकार अनुपयोगी है जिस प्रकार अन्धे के हाथ दर्पण।

भट्टिकाव्य में व्याकरण और काव्य का अद्भुत समन्वय है। यह ठीक है कतिपय स्थलों पर व्याकरण के सिद्धान्तों के निरूपण के फलस्वरूप काव्यत्व हानि पहुंची है किन्तु इसमें काव्यत्व का सर्वथा अभाव नहीं है। अनेक स्थलों कवि बहुत ही मार्मिक हो उठा है। प्रकृति-वर्णन से सम्बद्ध स्थल तो अनेक रमणीय बन पड़े हैं और वे कवि की सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति तथा उर्वर क का परिचय देते हैं। शरद्-वर्णन से सम्बद्ध एक उदाहरण देखिए :

न तज्जलं यन्न सुचारुपंकजं
न पंकजं तद्यदलीनषट्पदम्।
न षट्पदोऽसौ न जुगुंज यः कलं
न गुंजितं तन्न जहार यत्मनः ॥
(भट्टिकाव्य २।

अर्थात् इस समय न तो कोई ऐसा सरोवर ही है जिसमें सुन्दर कमल सित न हों, न कोई ऐसा कमल ही है जिस पर भौंरे न बैठे हों, न कोई भ्रमर ही है जो गुंजार न कर रहा हो और न कोई ऐसी गूंज ही है जो श्रो चित्त को बरबस न चुरा लेती हो।

भट्टि के काव्य का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य है उनका कलापक्ष। उनके काव्य भाषा उक्ति-वैचित्र्य से पूर्ण तथा भावाभिव्यंजना में सर्वथा समर्थ है। इसी से भट्टिकाव्य में अलंकारों के बहुविध प्रयोग भी परिलक्षित होते हैं। उप श्लेष आदि अलंकार तो उनके यहां पर्याप्त मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं

अन्य अनेक अलंकारों के उदाहरण भी उनके यहाँ यत्र-तत्र देखे जा सकते हैं। छन्द-योजना की दृष्टि से समीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि कवि ने प्रायः छोटे-छोटे छन्दों का आश्रय लिया है। इसका कारण यह है कि कवि का उद्देश्य व्याकरण के विविध प्रयोगों को अत्यन्त सरल रीति से स्पष्ट करना रहा है।

संस्कृत महाकाव्यकारों में भट्टि के बाद कुमारदास का नाम उल्लेखनीय है। जनश्रुति के अनुसार ये सिंहल (लंका) के राजा थे तथा संस्कृत से इन्हें बहुत अधिक अनुराग था। काव्य-रचना में भी इनकी पर्याप्त गति थी। 'जानकीहरण' इनका प्रसिद्ध महाकाव्य है और विद्वानों में इसकी पर्याप्त प्रतिष्ठा थी, लेकिन इतना होने पर भी इनका जीवनवृत्त अत्यन्त अन्धकार में है। ये ५१७ से ५२६ ई० तक सिंहल के राजा थे, अतः इनका रचनाकाल छठी शताब्दी माना जा सकता है।

कुमारदास की कीर्ति का मूलाधार है उनकी एक मात्र कृति 'जानकीहरण' और इसकी रचना का आधार है 'रामायण'। बीस सर्गों में निबद्ध इस महाकाव्य के आज केवल पन्द्रह सर्ग ही उपलब्ध हैं। काव्यतत्व की दृष्टि से यह एक रमणीय रचना बन पड़ी है। इसमें अनेक मार्मिक तथा रसपूर्ण स्थल हैं। प्रकृति-सौन्दर्य के निरूपण में भी कवि की पर्याप्त अभिरुचि परिलक्षित होती है। शब्द-सौष्ठव भावाभिव्यंजना में पूर्णतः समर्थ और पाठक के अन्तस्तल को अनायास ही अपनी ओर आकृष्ट कर लेने वाला है। यदि अलंकारों के क्षेत्र में कवि को अनुप्रास बहुत अधिक प्रिय है तो शैली की दृष्टि से वैदर्भी रीति।

संस्कृत महाकाव्यों की शृंखला में एक जाज्वल्यमान नक्षत्र है, माघ। कतिपय विद्वानों का यह विचार है कि माघ इनका उपनाम था, नाम नहीं। इस कल्पना का आधार यह है कि जिस प्रकार भारवि ने अपनी प्रतिभा का परिचय देने के लिए अपना नाम भासमान सूर्य अर्थात् भा-रवि रखा उसी प्रकार उस सूर्य के समान तेजोमय प्रतिभा को अपनी काव्य-प्रतिभा से विहीन करने के लिए शिशुपालवध के प्रणेता ने अपना नाम माघ रखा। इस कल्पना के पीछे संस्कृत की यह प्रसिद्ध सूक्ति रही है :

'तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः।'

अर्थात् भारवि की प्रभा उसी समय तक भाती है जब तक माघ का उ
नहीं हो जाता। लेकिन आज इस मान्यता को बहुत अधिक समर्थन प्राप्त
है। इसका कारण यह है कि माघ का उपनाम घण्टा माघ था। यह उपनाम
तक पर्वत के सम्बन्ध में की गई उस रमणीय उत्प्रेक्षा के फलस्वरूप दिया ग
जिसमें उन्होंने यह कहा था :

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम्।
वहति गिरिरयं विलम्बिघंटाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम् ॥

(शिशुपालवध ...)

अर्थात् इस विशाल पर्वत के एक ओर तो रश्मि-रज्जुओं को ऊपर फेंक
अरुण बिम्ब का उदय हो रहा है तथा दूसरी ओर शीतल किरणों को स
हुआ चन्द्रबिम्ब अस्त हो रहा है। ऐसी अवस्था में इस पर्वत की शोभा ली
साथ पद-विक्षेप करते हुए उस गजराज के समान हो रही है जिसके दोनों
दो विशाल घण्टे लटके हुए हों और जब एक पास जाता हो तब दूसरा
जाता हो। संस्कृत साहित्य के अनेक लेखकों के समान माघ का जीवनवृ
पर्याप्त अन्धकारमय है, लेकिन अनेक अंतरंग और बहिरंग प्रमाणों के आधा
यह माना जाता है कि इनका रचना-काल सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध था।
की कीर्ति का आधार स्तम्भ है इनका विशालकाय महाकाव्य 'शिशुपालव
कालीदास जहाँ अपनी उपमाओं के लिए प्रसिद्ध हैं, भारवि अर्थगौरव के
प्रख्यात हैं तथा श्रीहर्ष पदलालित्य में निपुण माने जाते हैं वहाँ महाकवि
के काव्य में वे तीनों विशिष्टताएँ विद्यमान हैं। इसीलिए तो यह उक्ति प्रसि

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यम् माघे सन्ति त्रयो: गुणाः ॥

'शिशुपालवध' की कथा का मूल आधार महाभारत है, लेकिन
अपनी काव्य-प्रतिभा के फलस्वरूप उसमें अनेक ऐसे प्रसंगों का सन्निवेश
दिया है जो उसकी मौलिकता का परिचय देते हैं। वीर और शृंगार
व्यंजना करने वाले अनेक रमणीय श्लोक इस रचना में यत्र-तत्र बिखरे
प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से भी इसमें रम्य प्रकरण हैं। उदाहरणार्थ एक अ
देखिए :

अपशंकम कपरिवर्तनोचिताश्चलिताः पुरः पतिमुपेतुमात्मजाः।
अनुरोदितीव करुणेन पत्रिणां विदतेन वत्सलतयैष निम्नगाः ।।
(शिशुपाल वध ४।४०)

अर्थात् रैवतक पर्वत की जो कन्याएँ (नदियाँ) निःशंक भाव से अपने पिता की गोद में लोटा करती थीं वे आज पति-समागम (सागररूपी प्रियतम से मिलने) के लिए जा रही हैं। पिता का स्नेह से परिपूर्ण हृदय कन्याओं के वियोग को देखकर पक्षियों के कलरव के समान क्रन्दन कर उठा है।

यह महाकाव्य कवि की बहुज्ञता का भी परिचय देता है। इस महाकाव्य के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि कवि को राजनीति, दर्शन, अश्व-विद्या, हस्त-विद्या, काव्य-शास्त्र, व्याकरण, संगीत आदि का सम्यक् ज्ञान था। भाषा पर तो माघ का अचूक अधिकार था। उनके संबंध में यह उक्ति ही प्रसिद्ध है कि माघ काव्य के नौ सर्गों में ही संस्कृत भाषा के समस्त शब्द समाप्त हो जाते हैं, 'नव सर्ग गते माघे नवशब्दो न विद्यते।' अलंकारों की दिशा में कवि को यमक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति और दृष्टांत विशेष रूप से प्रिय हैं।

अभी हाल की खोजों से जिन अनेक अज्ञात साहित्यकारों की रचनाएँ प्रकाश में आई हैं उनमें अभिनन्द का नाम भी उल्लेखनीय है। ग्यारहवीं शताब्दी के दो प्रसिद्ध साहित्यकारों—सोढ्ढल तथा क्षेमेन्द्र—ने इनके काव्य की बड़ी प्रशंसा की है। लेकिन अभिनन्द नाम के दो कवि मिलते हैं। एक अभिनन्द तो वह है जिसके प्रपितामह का नाम शक्तिस्वामी, पितामह का नाम कल्याणस्वामी तथा पिता का नाम जयंत भट्ट था और जिसने 'कादम्बरी कथासार' तथा 'योग-वासिष्ठसार' नामक ग्रन्थों की रचना की थी। लेकिन इस अभिनन्द ने 'रामचरितम्' नामक महाकाव्य की रचना नहीं की थी। 'रामचरितम्' की रचना करने वाले अभिनन्द के पिता महाभाग का नाम तो शतानन्द था। यह अभिनन्द पाल वंश के अत्यन्त पराक्रमी युवराज हारवर्ष के सभापंडित थे। बहुत से विद्वानों का विचार है कि इसी हारवर्ष युवराज का दूसरा नाम देवपाल था। अनेक अंतरंग और बहि-रंग प्रमाणों के आधार पर महाकवि अभिनन्द का रचनाकाल नवीं शताब्दी का मध्य भाग माना जाता है।

'रामचरितम्' ३६ सर्गों में निबद्ध महाकाव्य है और इसमें रामायण के किष्किन्धाकांड से युद्धकांड तक की कथा को आधार बनाया गया है। कथावस्तु

के नियोजन में कवि ने मर्मस्पर्शी एवं कवित्वपूर्ण स्थलों की उद्भावना का समु
ध्यान रखा है। प्रकृति के कमनीय दृश्यों के निरूपण की ओर उसकी स्वाभावि
रुचि दिखलाई देती है और माधुर्य तथा प्रसाद गुण से परिपूर्ण प्रांजल भाषा
उसके काव्य में चार चांद लगा दिए हैं। कालिदास के सामान अभिनन्द के काव
में वैदर्भी रीति का ही साम्राज्य है।

संस्कृत साहित्य की अभिवृद्धि में जिन कश्मीरी कवियों ने अपना योग दिय
है उनमें रत्नाकर का नाम उल्लेखनीय है। रत्नाकर के पिता का नाम अमृतभानु
और वह कश्मीर नरेश चिप्पट जयापीड़ के आश्रित कवि थे। जयापीड़ भी ए
अत्यन्त मेधावी राजा था और अल्पायु में ही बालबृहस्पति के नाम से प्रसिद्ध
गया था। रत्नाकर की प्रसिद्धि अवन्तिवर्मा के राजत्व काल में हुई। अवन्तिवर
का शासन काल ८५५ से ८८४ ई० तक माना जाता है और इसी आधार पर
रत्नाकर का रचनाकाल भी यही मान सकते हैं। अवन्तिवर्मा ने यों तो अनेक ग्र
लिखे किन्तु इनकी कीर्ति का मेरुदण्ड 'हरविजय' नामक महाकाव्य है।

'हरविजय' संस्कृत साहित्य का सर्वाधिक बृहदाकार महाकाव्य है। इस मह
काव्य में पचास सर्ग हैं और ४३२१ श्लोक। इसकी कथा है भगवान शिव द्वा
अन्धकासुर का वध। यह कथा बहुत बड़ी नहीं है, लेकिन कवि ने अपनी कल्प
के योग से इसे पर्याप्त विस्तार दे डाला है। इसलिए इस ग्रन्थ में नाट्यशास्
अलंकारशास्त्र, इतिहास, पुराण, शैवदर्शन, संगीत, चित्रकला, कामशास्त्र आदि
सम्बद्ध विस्तृत वर्णन परिलक्षित होते हैं और इसके फलस्वरूप सारा काव्य भा
बोझिल हो गया है। लेकिन इतना होते हुए भी यह निःसंकोच कहा जा सक
है कि भाषा-सौन्दर्य, चमत्कारपूर्ण नवीन अर्थों की परिकल्पना तथा अभि
वर्णन शैली की दृष्टि से यह संस्कृत-महाकाव्य परम्परा का अत्यन्त मूल्यव
रत्न है।

संस्कृत साहित्य के जैन कवियों में हरिश्चन्द्र का नाम विशेषरूपेण उल्लेख
है। संस्कृत साहित्य में हरिश्चन्द्र नाम के कई साहित्यकार हुए हैं। बाण ने अप
प्रसिद्ध रचना हर्षचरित में गद्य-लेखक भट्टार हरिश्चन्द्र का उल्लेख किया
कर्पूरमंजरी में भी हरिश्चन्द्र नामक एक कवि का नाम उल्लिखित है, एक
हरिश्चन्द्र भी मिलते हैं जिन्होंने वैद्यक की प्रसिद्ध पुस्तक चरकसंहिता पर टी
लिखी थी और जीवनधर चम्पू के रचयिता भी हरिश्चन्द्र नामक कोई कवि

लेकिन 'धर्मशर्म अभ्युदय' महाकाव्य के प्रेणता हरिश्चन्द्र इन सबसे भिन्न हैं। इनका रचनाकाल निश्चित नहीं है किन्तु यह अवश्य ज्ञात है कि यह जाति के कायस्थ थे और इनके पिता का नाम आर्द्रदेव था।

'धर्मशर्मा अभ्युदय' २१ सर्गों में निवद्ध महाकाव्य है और इसमें जैनियों के पन्द्रहवें तीर्थंकर श्री धर्मनाथजी का जीवनवृत्त रूपायित है। इसमें जैन धर्म के सिद्धान्तों का अत्यन्त कवित्वपूर्ण अंकन दृष्टिगत होता है। कवि ने जिस भाषा का प्रयोग किया है वह प्रसाद तथा माधुर्य गुणों से सम्पन्न है। चित्रालंकार कवि का सर्वाधिक प्रिय अलंकार है।

कश्मीर के महाकाव्यकारों में रत्नाकर के अतिरिक्त शिव स्वामी का भी उल्लेखनीय स्थान है। वस्तुतः यह महाकवि रत्नाकर तथा संस्कृत-साहित्य के प्रसिद्ध पंडित आनन्दवर्धन के समकालीन थे। राजतरंगिणी के अनुसार इनका अभ्युदय कश्मीर के प्रसिद्ध नरेश अवन्ति वर्मा के शासन-काल में हुआ था। अवन्ति वर्मा का शासनकाल ८५५ से ८८५ ई० तक माना जाता है। अतः हम इनका रचनाकाल भी यही मान सकते हैं। शिवस्वामी विरचित महाकाव्य का नाम है 'धर्मामृत'। यद्यपि शिवस्वामी स्वयं शैवमत को मानने वाले थे किन्तु उन्होंने चन्द्रमित्र नामक बौद्ध आचार्य की प्रेरणा के फलस्वरूप बौद्ध साहित्य के लोकप्रिय आख्यान 'कपिफण' के आधार पर अपने इस महाकाव्य की रचना की। यह बीस सर्गों में निबद्ध है। इस महाकाव्य में कवि ने नानाविध छन्दों का प्रयोग किया है तथा यमक अलंकार के प्रयोग में उसका विशेष रुझान परिलक्षित होता है। प्रकृति-वर्णन सम्बन्धी प्रकरणों में सूर्योदय, सूर्यास्त तथा षड्ऋतुओं के वर्णन विशेष रूप से सुन्दर बन पड़े हैं। उन्नीसवें सर्ग में कवि ने संस्कृत, प्राकृत भाषा के मिश्रित प्रयोग के माध्यम से भगवान बुद्ध की स्तुति की है।"

कश्मीर के संस्कृत महाकाव्यों में क्षेमेन्द्र का नाम भी उल्लेखनीय है। इनका स्थिति-काल १०२८-८९ ई० तक माना जाता है। यद्यपि इन्होंने अनेक रचनाएँ लिखीं किन्तु महाकाव्य के क्षेत्र में इनकी प्रसिद्धि का आधार 'दशावतारचरितम्' ही है। इस महाकाव्य में भगवान् विष्णु के दशावतारों की कथा को अत्यन्त रोचक ढंग से तथा प्रसादपूर्ण शैली में व्यक्त किया गया है। इस महाकाव्य की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि इसमें न तो कहीं अनावश्यक विस्तार है और न

कहीं पाण्डित्य-प्रदर्शन ने इसे कठिन ही बनाया है।

मंखक भी क्षेमेन्द्र के समसामयिक कश्मीरी कवि हैं जिन्होंने 'श्रीकण्ठ' नामक महाकाव्य लिखकर ख्याति अर्जित की। यह संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्य रुय्यक के शिष्य थे तथा अपने गुरु के साथ ही कश्मीर नरेश ज की सभा को सुशोभित करते थे। महाराजा जयसिंह का शासन-काल ११ ई० है। परिणामतः हम मंखक का रचना-काल भी यही मान सकते हैं।

'श्रीकण्ठचरितम्' की रचना मंखक ने अपने कैलाशवासी पिता के अ नुसार की थी। पच्चीस सर्गों में निबद्ध इस महाकाव्य में भगवान शंक त्रिपुरासुर के युद्ध का वर्णन किया है। यद्यपि इस महाकाव्य की कथा संक्षिप्त है किन्तु कवि ने इसकी काया को बढ़ाने के लिए चन्द्रोदय, दय, जलक्रीड़ा, केलि-क्रीड़ा आदि का अत्यन्त विस्तृत वर्णन किया है, अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि इस महाकाव्य के सातवें से सर्ग तक इन्हीं वस्तुओं का वर्णन है। मंखक के काव्य में अनेक सरस प्रसं नियोजन परिलक्षित होता है। प्रकृति-चित्रण विषयक प्रकरण तो विशे रमणीय बन पड़े हैं। कवि की भाषा-शैली अत्यन्त सहज, सरल और नुरूप है।

संस्कृत महाकाव्यकारों की परम्परा में अन्तिम उल्लेखनीय नाम, श्री का है। इनके रचनाकाल के सम्बन्ध में बहुत अधिक विवाद नहीं है। कारण यह है कि श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य 'नैषधीयचरितम्' के प्रत्येक स अन्त में अपने माता-पिता, राज्याश्रय तथा रचनाओं के सम्बन्ध में जानकारी की है। यह महाराजा जयचन्द राठौर के राज्याश्रित कवि थे और शासन-काल ११६९-९५ ई० तक माना जाता है। अतः हम निर्विवादपूर्वक कह सकते हैं कि श्रीहर्ष का रचना-काल बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है।

श्रीहर्ष की कीर्ति का मेरुदण्ड है 'नैषधीयचरितम्'। बाईस सर्गों में नि महाकाव्य में नल-दमयन्ती की प्रेम-कथा का निरूपण है। इस ग्रन्थ के अ यह सर्वथा स्पष्ट हो जाता है कि श्रीहर्ष मूलतः शृंगार कला के व्यक्ति हैं यह ध्यातव्य है कि शृंगार रस की व्यंजना में स्वाभाविकता की मात्रा है। इसका कारण यह है कि कवि पर कामशास्त्र का अत्यन्त गहरा प्रभाव है वह अनेक स्थलों पर परिलक्षित होता है। अट्ठारहवें तथा बीसवें सर्ग में

क्रीड़ा के जो चित्र प्रस्तुत किए गए हैं वे इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं। वैसे कवि ने शृंगार के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग—के विविध रूपों को रूपायित करने में अपनी दृष्टि केन्द्रित की है। संयोग वर्णन सम्बन्धी प्रकरणों में कहीं-कहीं पर अत्यन्त मनोरम चित्र दृष्टिगत होते हैं। उदाहरणार्थ सुरतान्त अवस्था का एक हृदयहारी चित्र देखिए :

अर्द्धमीलितविलोलतारके सा दृशौ निधुवनक्लमालसा।
यन्मुहुर्त्तं वहन्न तत् पुनस्तृप्तिरास्त दयितस्य पश्यतः॥
(नैषधीयचरितम् १८।११४)

अर्थात् सुरति क्रीड़ा के फलस्वरूप हुई थकान के कारण अलसाई हुई दमयंती के नेत्रों की चंचल पुतलियां जब कुछ समय तक अधमुदी रहीं तब प्रियतम (नल) बारंबार उसके सौंदर्य को देखते रहने पर भी तृप्त नहीं हुए। लेकिन ऐसे प्रकरणों की संख्या अत्यन्त सीमित है। वियोग-वर्णन सम्बन्धी प्रकरणों में भी बाह्याडम्बर तथा ऊहात्मकता की ही प्रधानता है। हृदय की कसक को व्यक्त करने वाले मार्मिक वर्णन वहाँ नहीं मिलते। शृंगार रस के अतिरिक्त जिन अन्य रसों की व्यंजना 'नैषधीयचरितम्' में हुई है, उनमें हास्य, करुण तथा वीर का उल्लेखनीय स्थान है। हास्य-व्यंग्य के निरूपण में तो कवि अत्यन्त पटु है।

प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से श्रीहर्ष ने उद्दीपन का ही प्रयोग अधिक किया है। वस्तुतः 'नैषधीयचरितम्' में प्रधानता तो दर्शन-पक्ष की ही रही है। अद्वैत-वेदान्ती श्रीहर्ष की इस रचना के प्रत्येक सर्ग में कतिपय पद्य ऐसे अवश्य प्राप्त होते हैं जहाँ कवि ने अपने दर्शनज्ञान का परिचय दिया है। सत्रहवाँ सर्ग तो दर्शनशास्त्र से इतना अधिक बोझिल हैं कि ऐसा प्रतीत होता है कि सम्भवतः कवि ने इस सर्ग की रचना अपने एतद्विषयक पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए ही की है।

दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित होने तथा 'नैषधीयचरितम्' में अपने इस ज्ञान को यथास्थान व्यक्त करने के फलस्वरूप श्रीहर्ष की भाषा अत्यन्त दुरूह हो गई है। सच तो यह है कि श्रीहर्ष के काव्यरूपी गहन वन में यत्र-तत्र बिछे शब्द-कण्टकों तथा अलंकार-रूपी झाड़-झंखाड़ में से होकर जाना सामान्य सहृदय के लिए सम्भव

ही नहीं है। वस्तुतः श्रीहर्ष ने एक स्थान पर स्वयं लिखा है :

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया।
प्राज्ञंमन्यमना हठेन पठिती मास्मिन् खलः खेलतु।
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय—
त्वेतत्काव्यरसोर्मिमज्जन सुखव्यासज्जनं सज्जनः॥

(नैषधीयचरितम् २२।

अर्थात् मैंने अपने इस ग्रंथ में प्रयत्नपूर्वक विभिन्न स्थलों पर जटिल डाल दिया है जिससे अपने-आपको विद्वान समझने वाला दुष्ट मूर्ख इस के साथ जबरदस्ती खिलवाड़ न करे अपितु अत्यन्त श्रद्धापूर्वक गुरु से गांठों को ढीली करवाकर इस काव्य-रस की लहरियों में डूबने प्राप्त करे।

श्रीहर्ष की भाषा में काठिन्य इसलिए परिलक्षित होता है क्योंकि अनेक अप्रचलित शब्दों का प्रयोग किया है। इसी प्रकार से उन्होंने जिस शैली का आश्रय ग्रहण किया है, वह भी कालिदास की वैदर्भी शैली के प्रसादपूर्ण नहीं है। कतिपय स्थलों पर व्याकरण एवम् दर्शन के क्षेत्र से चुन लिए जाने के फलस्वरूप भी भाषा कठिन हो गई है। लेकिन इससे समझ लेना चाहिए कि श्रीहर्ष के काव्य में सहज स्वाभाविक प्रकरणों का अभाव है। 'नैषधीयचरितम्' में अनेक स्थल ऐसे भी मिलते हैं जहां लोक भाषा के शब्दों और मुहावरों का प्रयोग किया है।

श्रीहर्ष ने उस समय काव्य-रचना की थी जिस समय काव्य-मर्मज्ञ को बहुत पसन्द करते थे तथा काव्य में पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति गई थी। ऐसे विद्वत्-समुदाय को प्रसन्न करने के लिए ही श्रीहर्ष ने महाकाव्य की रचना की थी और उसे अभीष्ट लक्ष्य में सफलता भी प्राप्त जिसका अनुमान निम्नलिखित श्लोक से लगाया जा सकता है :

तावद्भा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः।
उदिते नैषधे काव्ये क्व माघः क्व च भारविः॥

अर्थात् भारवि की प्रतिभा तभी तक भाती है जब तक माघ का उद होता। नैषध काव्य के उदय होने पर कहाँ माघ और कहाँ भारवि।

श्रीहर्ष के बाद संस्कृत साहित्य में महाकाव्य लिखे तो बहुत गये किन्तु किसी को भी कोई महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त न हो सका। सच तो यह है कि श्रीहर्ष परवर्ती महाकाव्यों में महाकाव्य-विषयक लक्षणों का निर्वाह तो मिलता है किन्तु काव्योत्कर्ष नहीं। फिर भी हम यह कह सकते हैं कि श्रीहर्ष परवर्ती सभी महाकाव्य सर्वथा मूल्यहीन नहीं हैं। वेंकटनाथ विरचित 'यादवाभ्युदम्', नीलकण्ठ दीक्षित विरचित 'शिवलीलार्णवः', रामभद्र दीक्षित विरचित 'पतञ्जलिचरितम्' कृष्णानन्द विरचित 'सहृदयानन्दम्', आदि कतिपय ऐसे महाकाव्य हैं जो विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं। यदि 'यादवाभ्युदम्' में श्रीकृष्णचरित का सरस और हृदयग्राही वर्णन है तो 'शिवलीलार्णवः' में पुराणों में वर्णित लीलाओं का आख्यान। इसी प्रकार से 'पतंजलिचरितम्' में व्याकरण तथा वैद्यक शास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित पतंजलि की जीवनगाथा को रूपायित किया गया है, तो 'सहृदयानन्दम्' में महाराजा नल विषयक सरस उपाख्यान निबद्ध है।

संस्कृत साहित्य में जैन महाकाव्यों की भी एक समृद्ध एवं गौरवपूर्ण परम्परा परिलक्षित होती है। जैन कवियों ने अपने धर्म के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने के लिए अनेक महाकाव्यों की रचना की। धनेश्वर सूरि, वाग्भट्ट, अभयदेव, अमरचन्द सूरि, वीरनन्दी, देवप्रभ सूरि, वस्तुपाल, बालचन्द्र सूरि, देवविमल गणि ने क्रमशः 'नेमिनिर्वाण काव्यम्', 'जयन्तविजयम्', 'बालभारतम्', 'चन्द्रप्रभचरितम्', 'पाण्डवचरितम्', 'नरनारायणनन्दम्', 'वसन्तविलास', 'हरिसौभाग्यम्' नामक महाकाव्यों की रचना की और जैन धर्म के सिद्धान्तों का काव्यमयी शैली में सम्यक् उपस्थापन किया। लेकिन यह ध्यातव्य है कि ये महाकाव्य जहाँ जैन धर्म के सिद्धान्तों के आख्यान में पूर्णतः समर्थ हैं वहाँ काव्यत्व की दृष्टि से कोई उल्लेखनीय वैशिष्ट्य की उपलब्धि नहीं कर सके हैं, हाँ यत्र-तत्र थोड़े-बहुत मर्मस्पर्शी स्थल तो आ ही गए हैं क्योंकि ये काव्यप्रतिभा से सर्वथा शून्य नहीं थे।

प्रश्न १४ | कालिदास के स्थिति-काल के सम्बन्ध में प्रचलित विभिन्न मतों की समीक्षा करते हुए अपने मत की स्थापना कीजिए।

यद्यपि संस्कृत-साहित्य के इतिहास में कविकुल चूड़ामणि कालिदास का स्थान सर्वश्रेष्ठ है किंतु अन्य कवियों के समान ही इनके रचनाकाल के सम्बन्ध

में भी विद्वानों के विभिन्न मत रहे हैं। इस सम्बन्ध में प्रमुख मत तीन हैं जो अधोलिखित हैं :

(१) छठी शताब्दी ई० का मत।
(२) गुप्तकालीन मत।
(३) प्रथम शताब्दी ई० पू० का मत।

अब हम इन तीनों ही मतों के मानने वाले विद्वानों के विचारों की समी कर उपयुक्त मत की प्रस्थापना करेंगे। अस्तु।

छठी शताब्दी ई० का मत—इस मत के प्रवर्त्तक और प्रबल पोषक फर्गु महोदय हैं। इनके विचारानुसार उज्जयिनी नरेश हर्ष विक्रमादित्य ने ५४ में शकों को कहरूर के युद्ध में पराजित कर इस विजय के उपलक्ष में वि सम्वत् का प्रचलन किया। इस सम्वत् को प्राचीनतम एवं अविस्मरणीय बनाने हेतु उसने, उसे ६०० वर्ष पूर्व से चलाकर उसका प्रारम्भ ५७ ई० पूर्व में मा अतः इस मत के अनुसार कालिदास का स्थितिकाल छठी शताब्दी है। अपने मत की पुष्टि के लिए फर्गुसन महोदय आगे प्रमाण देते हुए कहते हैं कालिदास के ग्रन्थों में यवन, शक, पह्लव, हूण आदि जातियों के नामों उल्लेख है। हूणों ने भारतवर्ष पर आक्रमण ५०० ई० में किया। अतः का दास का समय हूणों के इस आक्रमण के उपरान्त ही मानना समुचित है, इस मत का कोई अन्य प्रबल पोषक नहीं है। इसके विरोध में विभिन्न विद्वा विभिन्न प्रकार की आपत्तियाँ प्रगट की हैं। पं० चन्द्रशेखर पाण्डेय और शांतिकुमार नानूराम व्यास के द्वारा उठाई गई आपत्तियाँ इस प्रकार हैं :

(१) हर्ष विक्रमादित्य द्वारा प्रचलित सम्वत् का प्रारम्भ ६०० वर्ष ही क्यों धकेल दिया गया, इसका समाधान फर्गुसन के पास नहीं है। इ अतिरिक्त ५०० ई० से पहले मालव सम्वत् ५२९ तथा विक्रम सम्वत् के प्रयोग मिलते हैं। अतः फर्गुसन का यह मत पूर्णतया धराशायी जाता है।

(२) रघुवंश में हूणों अथवा अन्य जातियों का वर्णन विदेशी विजेता रूप में नहीं आता। रघु ने अपनी दिग्विजय में उनको भारत की सीमा वाहर पराजित किया था। चीन तथा मध्य एशिया के इतिहास से प्रमा

होता है कि ई० पू० पहली या दूसरी शताब्दी में हूण पामीर के पूर्वोत्तर में आ चुके थे।

(३) ४७३ ई० की मन्दसोर वाली वत्स भट्टि रचित प्रशस्ति में ऋतुसंहार और मेघदूत के कितने पद्यों की साफ झलक दीख पड़ती है। ऐसी स्थिति में कालिदास को छठी शताब्दी ई० में मानना कदापि उचित नहीं।

(४) यह सिद्धान्त भारतीय जनश्रुति के भी प्रतिकूल है।

वस्तुतः श्री पांडेय और व्यासजी द्वारा प्रस्थापित उपर्युक्त तथ्य संस्कृत-साहित्य मनीषियों ने स्वीकार-से कर लिये हैं। फलतः आधुनिक युग में इस मत का कोई समर्थक नहीं है।

गुप्तकालीन मत—कीथ आदि अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने कालिदास का स्थितिकाल गुप्त-नरेशों के साम्राज्यकाल में माना है। उनके मतानुसार शकों को भारत से बाहर निकालने वाले, विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने वाले तथा अपने पूर्व के मालव सम्वत् को विक्रम सम्वत् के नाम से प्रचलित करने वाले द्वितीय गुप्त-सम्राट् चन्द्रगुप्त (३७५-४१३ ई०) विक्रमादित्य थे, और कविकुल गुरु कालिदास की कीर्ति-पताका भारतीय इतिहास के इसी स्वर्ण युग में फहरी थी। उनका कथन है कि कालिदास की रचनाओं का अध्ययन करने से इसी तथ्य की ही पुष्टि होती है, क्योंकि—

(१) कुमारसम्भव नामक महाकाव्य का प्रणयन सम्भवतः चन्द्रगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त के जन्म को ध्यान में रखकर किया गया है।

(२) 'रघुवंश' में वर्णित रघु की दिग्विजय की घटनाओं में तथा चतुर्थ शताब्दी ई० की हरिषेण-कृत प्रयाग वाली प्रशस्ति में किए समुद्रगुप्त (३३६-७५ ई०) के विजय-वर्णन में वहुत-सी समानताएँ देखने को मिलती हैं।

(३) कालिदास के ग्रन्थों में चित्रित सुख-शांति का समृद्ध काल गुप्त काल का ही परिचायक है।

(४) कालिदास विरचित 'मालविकाग्निमित्र' नाटक वाकाटक के नरेश रुद्रसेन द्वितीय और चन्द्रगुप्त की पुत्री प्रभावती के विवाहोत्सव पर लिखा या खेला गया होगा। इस ग्रंथ में जिस अश्वमेध यज्ञ का आलेखन है उसके द्वारा भी समुद्रगुप्त द्वारा किए गए अश्वमेध यज्ञ की ओर संकेत जान पड़ता है।

किन्तु डॉ० कीथ द्वारा प्रस्तुत किए गए ये तर्क अपने-आपमें अकाट्य नहीं

हैं। विभिन्न विद्वानों ने इसकी सत्यता पर शंका उठाई है। स्व० पं० क
पांडेय के अनुसार डॉ० कीथ द्वारा प्रतिपादित मत निम्न कारणों से ठीक नहीं
जा सकता है—

(१) यह संभव नहीं जान पड़ता कि चन्द्रगुप्त द्वितीय जैसे पराक्रमी न
स्वयं अपना सम्वत् न चलाकर अपने से पूर्व प्रचलित मालव-सम्वत् को अ
से जारी किया हो। साथ ही यह ध्यान देने योग्य बात हैं कि चन्द्रगुप्त द्वि
पितामह चन्द्रगुप्त प्रथम ने 'गुप्त सम्वत्' प्रचारित किया था। क्या
द्वितीय ने अपने पितामह के सम्वत् को अस्वीकार करके अपना अलग-अलग
चलाने की धृष्टता की होगी ? चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा जारी किया गया त
विक्रम सम्वत् उनके बाद की शताब्दियों में कहीं उल्लिखित नहीं है। स्क
गुप्त के पौत्र स्कन्दगुप्त के गिरिनार वाले शिलालेख में विक्रम सम्वत् का
न होकर गुप्त संवत् का ही उल्लेख हुआ है। विक्रम संवत् का उल्ले
शताब्दी से पूर्व कहीं नहीं पाया जाता। अतः चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा नवीन
चलाये जाने की अथवा किसी पूर्वकालीन सम्वत् को अपना नाम देने
ऐतिहासिक तथ्यों से मेल नहीं खाती। इस प्रकार कालिदास के स्थिति
गुप्तकालीन मत का मौलिक आधार ही अप्रमाणित हो जाता है।

(२) कालिदास ने 'कुमार' शब्द का प्रयोग, सुत, पुत्र और आत्मज के
साधारण अर्थ में ही किया है, किसी विशेष प्रयोजन से नहीं। मालविका
में अश्वमेध तथा भवनों की पराजय का उल्लेख हुआ है, उनका वास्तविक
शुंगवंश के प्रवर्त्तक से है; कालिदास कृत रघु का दिग्विजय वर्णन ऐति
होते हुए भी एक कवित्वपूर्ण वर्णन है। वह बहुत-कुछ पुराणों में पाए जा
वर्णनों के समान है, उसकी ऐतिहासिकता के विषय में अभी और
बीन की आवश्यकता है; कालिदास के ही ग्रंथों में जिन उक्तियों में
द्वितीय की झलक दीख पड़ी है तथा समुद्रगुप्त काल की झाँकी दिखाई
उनमें भी मतैक्य नहीं है। व्याख्या के विशेष ढंग से उनके नाना प्रकार
लगाए जा सकते हैं।

(३) किसी गुप्त सम्राट् का नाम विक्रमादित्य नहीं था। द्वितीय
की उपाधि विक्रमादित्य थी, नाम नहीं। उपाधि प्रचलित होने के

आवश्यक है कि उस नाम का कोई लोक-प्रसिद्ध व्यक्ति पहले हो चुका हो, जिसके अनुकरण पर बाद के महत्त्वाकांक्षी लोग उस नाम की उपाधि धारण करें। रोम में भी सीज़र उपाधिधारी राजाओं से पहले सीज़र नामक सम्राट् हो चुका था। इसी प्रकार विक्रम उपाधिधारी द्वितीय चन्द्रगुप्त से पूर्व विक्रमादित्य नामक कोई शासक अवश्य हुआ होगा। अतः चन्द्रगुप्त द्वितीय स्वयं विक्रमादित्य नहीं थे और न उनके समय में कालिदास की स्थिति ही मानी जा सकती है।

प्रथम शताब्दी ई० पू० का मत—कालिदास का रचनाकाल अब प्रथम शताब्दी ई० पू० माना जाने लगा है और यह उचित भी है क्योंकि—

(१) कालिदास की लेखन-शैली में कृत्रिमता का अभाव है जो दूसरी शताब्दी के गिरनार और नासिक के शिलालेखों में पाई जाती है। इससे यह सिद्ध है कि कालिदास दूसरी शताब्दी ईसवी के पूर्व हुए थे।

(२) अग्निमित्र शुंगवंशी राजा पुष्यमित्र का पुत्र था जो १५० ई० पू० में हुआ। महाकाव्य में पुष्यमित्र का उल्लेख भी है। कालिदास मालविकाग्निमित्र के भरत-वाक्य में लिखते हैं कि राजा अग्निमित्र जब राज्य करते हैं तो कोई ऐसा नहीं है जिसकी प्रार्थना अग्निमित्र ने पूरी न की हो। इससे सिद्ध होता है कि कालिदास राजा अग्निमित्र के राज-कवि थे और उनका (अग्निमित्र) समय दूसरी शताब्दी ई० पू० है। इससे स्पष्ट है कि कालिदास प्रथम शताब्दी ई० पू० में हुए थे।

(३) कालिदास ने रघुवंश के छठे सर्ग में पाण्ड्य नरेश के सम्बन्ध में लिखा है—'अथोरगाख्यस्य पुरस्य नाथम्' अर्थात् पाण्ड्य देश के राजाओं की राजधानी उरगपुर थी। यह उरगपुर (उरियापुर) पांड्य देश के राजाओं की राजधानी प्रथम शताब्दी में थी। इससे कालिदास इसी समय के आस-पास के जान पड़ते हैं।

(४) कालिदास का रचनाकाल उज्जयिनी नरेश विक्रमादित्य से बहुत अंशों तक सम्बद्ध है, किन्तु इन उज्जयिनी नरेश विक्रमादित्य के शासनकाल के सम्बन्ध में भी विद्वान् एकमत नहीं हैं। यदि एक विद्वान् के अनुसार ये प्रथम शताब्दी के आस-पास हुए तो दूसरे के अनुसार चौथी शताब्दी में और तीसरे के अनुसार छठी शताब्दी में। लेकिन भारतीय जनश्रुति के अनुसार महाराज विक्रमादित्य

उज्जयिनी के राजा थे जिन्होंने शकों को पराजित कर अपनी विजय के उपलक्ष में ५७ ई० पू० के विक्रमीय सम्वत् का प्रवर्त्तन किया। कथासरित्सागर (जो प्रथम शताब्दी ई० की गुणाढ्य विरचित वृहत्कथा पर आधृत है) परमार वंश के विक्रमादित्य का उल्लेख प्राप्त होता है। कथासरित्सागर में उज्जयिनी नरेश भी इन्हें ही माना गया है। नवीनतम ऐतिहासिक शोधों के अनुसार भी उज्जैन परमार वंशी विक्रमादित्य ही मौलिक विक्रमादित्य थे।

इस प्रकार से विक्रमादित्य का शासनकाल प्रथम शताब्दी ई० पू० में निर्धारित होने पर हम कालिदास का रचनाकाल प्रथम शताब्दी ई० पू० निर्विवाद रूप से मान सकते हैं।

प्रश्न १५—कालिदास द्वारा लिखे गए महाकाव्यों के सार लिखिए।

कालिदास ने रघुवंश और कुमारसम्भव नामक दो महाकाव्य लिखे हैं।

रघुवंश—१९ सर्गों में आबद्ध इस महाकाव्य का प्रतिपाद्य विषय लगभग वही है जो रामायण और पुराणों का; किन्तु इतना होने पर भी कवि कालिदास ने अपनी मौलिक प्रतिभा के द्वारा उसे अत्यन्त रमणीय रूप प्रदान कर दिया है। ग्रंथ महाराजा दिलीप के वर्णन से प्रारम्भ किया गया है। आरम्भ में महाराजा दिलीप के अनेक गुणों का वर्णन है किन्तु दुर्भाग्यवश वह एक बार महाराज इन्द्र की गौ सुरभि का यथोचित आदर-सत्कार न कर पाए जिसके फलस्वरूप उसने उन्हें निरपत्य होने का शाप दे दिया। इस शाप की शक्ति का नाश केवल सुरभिसुता नन्दिनी से प्राप्त किए हुए वर के द्वारा ही सम्भव था, फलतः महाराजा दिलीप ने वशिष्ठ के उपदेश से वन में नन्दिनी की सेवा की। एक बार सिंह ने नन्दिनी पर आक्रमण करना चाहा। राजा ने सिंह से प्रार्थना की कि तुम इस गाय को छोड़ दो और मेरे शरीर का मांस खाकर अपनी क्षुधा पूर्ति करो। वह सिंह कोई वास्तव सिंह नहीं था, वह तो केवल महादेवजी का अनुचर मात्र था और राजा की परीक्षा लेने आया था। राजा को नन्दिनी से अभीष्ट वर की प्राप्ति हो गई। अब राजा के यहाँ एक पुत्र का जन्म हुआ। इसका नाम रघु रक्खा गया। रघु ने अनेक प्रकार की बालोचित क्रीड़ाएँ करते हुए यौवनावस्था को प्राप्त किया और अपने पिता दिलीप द्वारा दिए गए अश्वमेध यज्ञ के

की रक्षा के हेतु इन्द्र तक से युद्ध किया। दिलीप के उपरान्त वह (रघु) सिंहासनासीन हुआ। अब कवि रघु की दिग्विजय का संक्षिप्त किन्तु ओजस्वी वर्णन करता है। कवि का कथन है कि रघु ने दिग्विजय के उपरांत विश्वजित यज्ञ किया जिसमें उसने विजयों में प्राप्त सारी सम्पत्ति दान दे दी। अपनी इस उदारता के फलस्वरूप रघु अकिंचन हो गया। अतः जब कौत्समुनि उसके निकट दान मांगने के हेतु उपस्थिति हुए तो वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया। लेकिन कुवेर की सहायता ने उसकी इस कठिनता का निवारण किया। इसके उपरांत रघु को पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई जिसका नाम अज रक्खा गया। तदुपरान्त इन्दुमती के स्वयंवर का वर्णन आता है। कोई न कोई बहाना बनाकर वह अनेक राजकुमारों को वरने से छोड़ देती है। एक वीर को वह केवल यह कहकर नापसन्द कर देती है कि प्रत्येक की रुचि पृथक्-पृथक् होती है। किन्तु अन्ततः अज का वरण हो जाता है और विवाह सम्पन्न हो जाता है। इसी समय स्वयंवर में हार खाए हुए राजा वर-यात्रा पर आक्रमण करते हैं किन्तु अज अपने अद्भुत पराक्रम के द्वारा अपने विपक्षियों को मार भगाता है। लेकिन दया करके उनकी जान नहीं लेता। इसके वाद अज की शांतिपूर्ण शासन-व्यवस्था का वर्णन है। इन्दुमती की आकस्मिक मृत्यु से अज पर मानो वज्रपात होता है। उसका समस्त धैर्य टूट जाता है। उसे जीवन में चारों ओर अंधेरा ही अंधेरा दिखाई देता है। अनेक प्रकार की दी गई सांत्वनाएँ भी उसकी इस अवस्था को दूर नहीं कर पातीं। अब तो उसके अन्तस् में यही इच्छा उठती है कि किसी प्रकार से उसकी भी अकाल मृत्यु हो जाय ताकि वह स्वर्ग में पहुंचकर अपनी प्रिया से पुनः मिल सके। उसके उपरांत उसका पुत्र दशरथ राजा बनता है। यहीं पर श्रवणकुमार की कथा आती है। तदुपरान्त आगे के छः सर्गों में राम की कथा का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। फिर सोलहवें सर्ग में कुश की, सत्रहवें सर्ग में कुश के पुत्र की और अठारहवें तथा उन्नीसवें सर्ग में उनके अनेक उत्तराधिकारियों की कथा दे दी गयी है। उत्तराधिकारियों में कुछ के तो केवल नाममात्र का ही उल्लेख किया गया है। इस प्रकार से सम्पूर्ण काव्य अपूर्ण रहता है, जिसका कारण सम्भवतः कवि की मृत्यु है।

कुमारसम्भव—महाकवि कालिदास द्वारा प्रणीत यह महाकाव्य आज १८

सर्गों में उपलब्ध होता है किन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थ की काव्यशैली एक प्रकार की है। इस ग्रंथ को देखकर तो ऐसा प्रतीत होता है कि इसके प्रारम्भिक आठ तो कालिदास ने लिखे होंगे और शेष किसी अन्य कवि ने। केवल प्रारम्भिक आठ सर्ग ही महाकवि कालिदास के द्वारा रचे गए हैं, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि मल्लिनाथ संजीवनी भी इन्हीं सर्गों पर है, आगे नहीं। संस्कृत रीति-ग्रंथों में भी इन्हीं सर्गों से श्लोक उदाहरण के लिए प्रस्तुत किए गए हैं।

कवि ने अपने ग्रन्थ का श्रीगणेश प्रकृति के चारु अंकन से किया है। इसके लिए प्रथम सर्ग में हिमालय का सजीव वर्णन हुआ है। इसी सर्ग में कवि ने पार्वती-जन्म भी दर्शाया है। दूसरे सर्ग में देवता तारकासुर से त्रस्त होकर ब्रह्मा के पास जाते हैं और सहायता की याचना करते हैं किन्तु ब्रह्मा किसी भी प्रकार की सहायता देने में असमर्थ हैं, क्योंकि वे तो स्वयं ही तारकासुर के वर प्रदाता हैं और अपने लगाए हुए विषवृक्ष का भी काटना उचित नहीं है लेकिन ऐसा होते हुए भी वे एक परामर्श अवश्य देते हैं और वह यह है कि यदि शिव और पार्वती का विवाह हो जाय तो उनसे उत्पन्न पुत्र तारक को मार सकेगा। इस कथन को सुनकर इन्द्र तृतीय वर्ग में कामदेव का स्मरण करता है। कामदेव अपने सखा ऋतुराज़ वसन्त और अपनी प्रिया रति के साथ आश्रम में प्रवेश करता है। इस अवसर पर तपोवन की सारी प्रकृति, पुनरुच्छभिन्न हो पड़ती है। यहाँ तक कि पशु और पक्षी भी मन्मथोन्मथित हो जाते हैं, पार्वती शिव के समीप आती है और शिव का धैर्य भी कुछ काल के लिए परिलुप्त-सा होने लगता है किन्तु अब यह क्षुब्ध होकर अपना तीसरा नेत्र खोलते हैं तब कामदेव उससे निकली हुई अग्नि ज्वाला के द्वारा भस्मीभूत हो जाता है। चतुर्थ सर्ग में रति अपने पति की मृत्यु पर करुण विलाप करती है और सती होना चाहती है उसी समय एक आकाशवाणी शिव और पार्वती के विवाह होने पर कामदेव के पुनर्जन्म का आश्वासन देती है। पंचम सर्ग में पार्वती अपने उद्देश्य में संलग्न होकर घोर तप करती है। वह ज्येष्ठ में सूर्य की गरमी और अग्नि के ताप को सहन करती हैं। पौष की रात्रियों में ठण्डे पानी में पड़ी रहती है और घोर वर्षा में भी खाली शिलाओं पर सोती है। इतना ही नहीं वृक्षों से गिरने वाले पत्तों को नहीं खाती और केवल अयाचित जल पर ही अपनी जीवन-नौका को

है। उसकी इस घोर तपस्या को देखकर शिवजी भी विकल हो जाते हैं और उसकी परीक्षा लेने के लिए एक ब्रह्मचारी के रूप में अवतरित होते हैं। पति-भक्ति की परीक्षा लेने के लिए ही वे उसके (पार्वती) सम्मुख शिव की निन्दा करते हैं। पार्वती ब्रह्मचारी रूप शिव को करारा उत्तर देती है। वह कहती है कि तुम शिव के यथार्थ रूप से नितान्त अपरिचित हो। इतना ही नहीं वह यह कहती हुई 'महापुरुषों की निन्दा करना ही पाप नहीं है प्रत्युत निन्दा सुनना भी पाप है' वहाँ से प्रस्थान कर देती है। इसी समय शिव अपना यथार्थ रूप प्रकट कर पार्वती की कामना पूर्ण करते हैं। छठे सर्ग में सप्तर्षि और अरुन्धती हिमालय से शिव के लिए पार्वती का हाथ माँगने जाते हैं। हिमालय मेना के परामर्श से स्वीकृति दे देते हैं। सप्तम सर्ग में शिव और पार्वती का राजसी ठाठ-बाट से विवाह सम्पन्न होता है। अष्टम सर्ग में कामशास्त्र के नियमानुसार शिव-पार्वती की प्रेम-लीला का विस्तृत वर्णन है।

कालिदास विरचित इस महाकाव्य के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का विचार यह है कि इसकी रचना रघुवंश से पहले की गई, किन्तु कुछ विद्वानों ने भाषा-शैली के आधार पर रघुवंश को पहले और कुमारसम्भव को बाद में प्रणीत माना है।

कुमारसम्भव की कथा का स्रोत सम्भवतः महाभारत रहा है, किन्तु कालिदास ने उसमें कुछ आवश्यक हेर फेर अवश्य किए हैं। आरम्भ में हिमालय का सजीव वर्णन, तृतीय सर्ग का वसन्त-वर्णन, चतुर्थ सर्ग का रति-विलाप तथा पंचम सर्ग का पार्वती-ब्रह्मचारी संवाद कुमारसम्भव के अत्यधिक मार्मिक स्थल हैं।

कुमारसम्भव पूर्णतः रसवादी रचना जान पड़ती है। रघुवंश की भाँति कवि यहाँ किसी नैतिक व्यवस्था का पोषक नहीं दिखाई देता। यौवन की सरस क्रीड़ा का वर्णन ही कवि का प्रमुख प्रतिपाद्य प्रतीत होता है, जिसे कवि ने पौराणिक इतिवृत्त के माध्यम से व्यक्त किया है। कुमारसम्भव का कोई गम्भीर उद्देश्य भी नहीं है और यदि कोई है भी तो वह काव्य की प्रभावोत्पादकता में पूरी तरह दब जाता है।

प्रश्न १६—महाकवि कालिदास के काव्य-कौशल पर एक आलोचना लेख लिखिए।

संस्कृत साहित्य के इतिहास में महाकवि कालिदास का अन्यतम स्थान रस-व्यंजना, आलंकारिक अप्रस्तुत विधान, प्रकृति-वर्णन की विम्मयत्ता, पूर्ण प्रसादवादी शैली का प्रयोग आदि सभी दृष्टिकोणों से कालिदास का अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। अब हम इन्हीं विभिन्न दृष्टिकोणों से कालिदास काव्य-साहित्य की समीक्षा करेंगे।

कालिदास की कला रसवादी है। केवल रघुवंश ही एक ऐसा अपवा जिसमें संदेश का स्वर विद्यमान है अन्यथा किसी अन्य रचना में संदेश भी नहीं है। रसों के क्षेत्र में भी कालिदास की जितनी अभिरुचि कोमल रसों ओर है उतनी गम्भीर रसों की ओर नहीं है। शृंगार एवं करुण रस की में कवि ने अपने कौशल का पूर्ण परिचय दिया है। कालिदास का शृंगार तो बहुत ही सरस बन पड़ा है। शृंगार-रस के संयोग तथा वियोग इन पक्षों का जितना सूक्ष्म तथा मार्मिक उद्घाटन कालिदास ने किया है सम्भवतः विश्व के किसी अन्य कवि ने नहीं किया। कुमारसम्भव के तृतीय के वसन्त-वर्णन में संयोग शृंगार के आलम्बन पक्ष की दृष्टि से निम्नलि अवतरण को लिया जा सकता है, जिसमें फूलों से सजी हुई पार्वती का सजीव वर्णन है :

> अशोक निर्भत्सित पद्मरागमाकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम्।
> मुक्ताकलापीकृतसिन्दुवारं वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती॥
> आवर्जिता किञ्चिदिवस्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम्।
> पर्य्याप्तपुष्पस्तवकविनम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव॥

(कुमार सम्भव: ४।५३-५

अर्थात् 'पार्वती के द्वारा अशोक पुष्प के पहने हुए आभूषण पद्मराग की सुन्दरता को लज्जित कर रहे थे, कर्णिकार पुष्प के आभूषण सुवर्ण की का अपहरण कर रहे थे तथा निर्गुण्डी (सिन्दुवार) के पुष्प मोतियों की लड़ी दिखाई देते थे। इस तरह के वसन्तपुष्पों के आभरण को धारण करती हुई रंग के वस्त्र वाली पार्वती, जो स्तनों के भार से कुछ-कुछ झुकी-सी दिखाई थी, (शिव के सामने आकर इस तरह खड़ी हो गई) जैसे घने फूलों के गुच्छे

झुकी हुई कोमल किसलय वाली चलती-फिरती (संचारिणी) लता हो।'

(डा० भोलाशंकर व्यास)

वियोग-श्रृंगार की दृष्टि से मेघदूत विशेषरूपेण अवलोकनीय है। यक्ष के द्वारा यक्षिणी के पास प्रेषित किया गया संदेश बहुत अधिक मार्मिक बन पड़ा है।

करुण-रस की दृष्टि से भी कालिदास का साहित्य कम मार्मिक नहीं है। रघुवंश का अज-विलाप तथा कुमारसम्भव का रति-विलाप करुण-रस के अत्यंत उत्कृष्ट उदाहरण हैं। पत्नी के वियोग के कारण अज की कैसी अवस्था हो गई है :

विललाप स वाष्पगद्‌गदं सहजामप्यपहाय धीरताम्।
अतितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिषु॥

(रघुवंश ८।४३)

अर्थात् 'अज अपना सहज धैर्य छोड़कर सिसकियों से अवरुद्ध हुई वाणी से फूट-फूटकर विलाप करने लगे। अधिक ताप से लोहा भी पिघल जाता है, फिर शरीरधारियों की तो बात ही क्या ?'

(चन्द्रशेखर पाण्डेय)

इसी प्रकार से पति के भस्मीभूत शरीर को देखकर रति द्वारा किए गए विलाप सम्बन्धी अवतरण को लिया जा सकता है—

गत एव न ते निवर्तते स सखा दीप इवानिलाहतः।
अहमेव दशेव पश्य मामविषह्यव्यसनेन धूमिताम्॥

(कुमारसंभव ४।३०)

अर्थात् 'हे वसन्त, तुम्हारे वे प्रिय सखा (कामदेव) हवा के झोंके से बुझे दीपक की भाँति, कभी न लौटने के लिए चले गए और देखो, मैं उस बुझे दीपक की काली बत्ती के समान असह्य शोकांधकार से आवृत्त बची हुई हूँ।'

(चन्द्रशेखर पांडेय)

केवल रस-व्यंजना ही नहीं अपितु प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से भी कालिदास का काव्य अत्यन्त रमणीय बन पड़ा है। उसके काव्य में प्रकृति-वर्णन मुख्यतः दो रूपों में उपलब्ध होता है—१. आलम्बन रूप में. २. उद्दीपन रूप में। कुमार-संभव के प्रथम सर्ग का हिमालय-वर्णन प्रकृति के आलम्बन रूप का अत्यन्त उत्कृष्ट उदाहरण है। कालिदास का उद्दीपन वाला प्रकृति-वर्णन प्रसग के अनु-कूल सुख-दुःख से युक्त दिखलाया गया है। रावण जिस मार्ग के द्वारा सीता को ले गया था, उस मार्ग को लता-गुल्म आदि अपनी शाखाओं तथा पल्लवों से सूचि-

करते हैं। हरिणियाँ दर्भांकुर चरना छोड़कर दक्षिण दिशा की ओर दृष्टि करके वही कार्य करती है। कालिदास के प्रकृति-चित्रण का मूल्यांकन करते समय इस बात की ओर अनायास ध्यान चला जाता है कि उन्होंने प्रायः प्रकृति के मधुर मनोरम तथा समुज्ज्वल रूप का ही अधिक वर्णन किया है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी कालिदास का काव्य अद्वितीय है। इन्दुमती, सीता, पार्वती, यक्ष-पत्नी आदि विभिन्न पात्रों के चरित्र पाठक के अन्तस्तल पर अमिट छाप छोड़ देते हैं। इतना ही नहीं भारतीय साहित्य के इतिहास में भी ये पात्र सदा-सदा के लिए अमर हो गए हैं।

कालिदास की लोकप्रियता का मुख्य कारण उनकी प्रसादपूर्ण सरस पदावली है। उन्होंने अपने काव्य की रचना वैदर्भी रीति में की है। वैदर्भी रीति में माधुर्यगुण की प्रधानता होती है, दीर्घ समासों, ट, ठ आदि कठोर वर्णों का अभाव होता है तथा पंचम वर्ण से संयुक्त वर्णों का प्रयोग किया जाता है। इस शैली में ऐसी विशेषता होती है कि रचना पढ़ते समय पाठक का हृदय द्रवीभूत हो उठता है। इस शैली में काव्य-रचना करने वाले कवियों में कालिदास का अन्यतम स्थान है। इसीलिए तो कहा गया है—वैदर्भीरीति संदर्भे कालिदासो विशिष्यते। इतना ही नहीं दण्डी के विचारानुसार तो कालिदास ही इस शैली के उद्भावक हैं। उनका कथन है—

> लिप्ता मधुद्रवेनासन् यस्य निर्विवशा गिरः।
> तेनेदं वर्त्म वैदर्भं कालिदासेन शोधितम्॥
>
> (अवन्ति सुन्दरी कथा० १५)

कालिदास की भाषा व्यंजना-प्रधान है। वे किसी भाव को स्पष्ट शब्दों में न कहकर व्यंजना वृत्ति का आश्रय लेते हैं तथा उस भाव की ओर सूक्ष्म से सूक्ष्म संकेत कर देना ही पर्याप्त समझते हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित अवतरण को लिया जा सकता है—

> स्थिताःक्षण पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः।
> वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः॥
>
> (कुमारसंभव ५।२४)

प्रस्तुत अवतरण में कालिदास ने तपस्या करती हुई पार्वती की उस स्थिति

का चित्रण किया है जब वर्षा की बूंदें उसके सघन पक्ष्म वाले नेत्रों पर गिरकर और कुछ देर रुककर, ओष्ठों पर गिरते हुए, कठोर उरोजों पर गिरने से चूर-चूर होकर, त्रिवली पर लुढ़कने के उपरान्त नाभि के नयनाभिराम प्रदेश में प्रवेश करती हैं। इस अवतरण में जहाँ एक ओर पार्वती की पद्मासन की योगाभ्यास वाली स्थिति का चित्रण है वहाँ दूसरी ओर उसके शारीरिक अवयवों की सुंदरता तथा सुडौलता की भी सुन्दर व्यंजना है।

कालिदास की रचनाओं में अलंकारों की छटा भी देखते ही बनती है। रघुवंश के नवम् तथा अष्टादश सर्गों में यमक का मुक्तहस्त प्रयोग किया गया है, उपमा के वे आचार्य कहलाते हैं तथा 'मेघदूत' में सुन्दर उत्प्रेक्षाओं के उदाहरण भरे पड़े हैं। अर्थान्तरन्यास, स्वभावोक्ति, अनुमान, अपह्नुति, अतिशयोक्ति, व्यतिरेक, दृष्टान्त, तुल्ययोगिता आदि कुछ ऐसे अलंकार हैं जिनका प्रयोग उन्होंने बड़ी सुन्दरता के साथ किया है। कहीं-कहीं पर श्लेष अलंकार का प्रयोग भी बड़ा सुन्दर बन पड़ा है, किन्तु डॉ० कीथ का विचार है कि कालिदास ने श्लेष का प्रयोग बहुत अल्प मात्रा में किया है।

कालिदास छन्दों के प्रयोग में भी अत्यंत सिद्धहस्त हैं। यदि मेघदूत में मन्दाक्रान्ता का सफल प्रयोग है तो ऋतुसंहार के इन्द्रवज्रा, वंशस्थ, वसन्ततिलका, मालिनी नामक छन्द विशेषरूपेण ध्यातव्य हैं। कुमारसम्भव तथा रघुवंश नाम्नी रचनाओं में, काव्यशास्त्र के नियमानुसार प्रत्येक सर्ग में एक ही छंद का प्रयोग किया है तथा सर्गांत में विभिन्न छंदों का प्रयोग है।

इतने गुणों से सम्पन्न होने पर भी कालिदास की रचनाएँ दोषों से मुक्त नहीं हैं। व्याकरण की अशुद्धि, च्युत-भंग, औचित्य-भंग, रस-दोष आदि कुछ ऐसे ही दोष हैं जो उसके साहित्य में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं किंतु 'एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणोष्विवांक' के अनुसार ये सभी दोष नगण्य तथा उपेक्षणीय हैं। वस्तुतः भाव-सौष्ठव, भाषा-लालित्य, अलंकारों की अपूर्वता, प्रसाद की प्रचुरता आदि गुणों ने कालिदास की कविता को विश्व-वन्दनीय बना दिया है। कालिदास के सम्बन्ध में किसी आलोचक का कथन है—

पुरा कवीनां गणनाप्रसंगे कनिष्ठिका अधिष्ठित कालिदासः।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्थवती बभूव॥

(सुभाषित रत्नभाण्डागारस्य प्र० २।२१ श्लोक)

अर्थात् प्राचीन समय में कवियों की गिनती करने का प्रसंग आ... कालिदास का नाम कनिष्ठिका अँगुली पर रखा गया। लेकिन कालि... समता करने वाले किसी अन्य कवि के उपलब्ध न हो सकने के फलस्वरूप... अँगुली पर किसी का नाम ही नहीं पड़ा। फलतः उस अँगुली का... अनामिका पड़ा। आज भी कालिदास की समता करने वाले किसी अन्... के उपलब्ध न होने के कारण उस अँगुली का अनामिका नाम सर्वथा सि... है।

आनन्दवर्धनाचार्य ने कालिदास की प्रशंसा इन शब्दों में की है :

'अस्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो... पंचषा धा महाकवय इति गण्यन्ते।'

अर्थात् इस जगतीतल में अनेक कवि उत्पन्न होते हैं किन्तु उनमें से का... के सदृश दो-तीन अथवा अधिक से अधिक पाँच-छः व्यक्तियों को ही महा... संज्ञा से विभूषित किया जा सकता है।

पीयूषवर्षी जयदेव ने कालिदास को कवि कुल गुरुकालिदास की उपाधि... षित किया है तथा सोड्ढल ने उनकी प्रशंसा इन शब्दों में की है—

ख्यातः कृती सोऽपि च कालिदासः शुद्धा सुधा स्वादुमती च यस्य।
वाणीमिषाच्चण्डमरीचिगोत्रसिन्धोः परं पारमवाप कीर्तिः॥

(उदय सु...)

अर्थात् 'धन्य है वे कवि कालिदास जिनकी कीर्ति उनकी कविता के स... निर्दोष, अमृततुल्य एवं मधुर है। जिस प्रकार उनकी वाणी सूर्य वंश का पू... कर सकी वैसे ही उनकी कीर्ति भी समुद्र के पार पहुँची है।

(चन्द्रशेखर...)

अन्ततः हम बाणभट्ट के स्वर में स्वर मिलाकर कह सकते हैं—

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मंजरीष्विव जायते॥

(हर्षचरित)

अर्थात् 'कविकुल शिरोमणि कालिदास की आम्र-मंजरी के सदृश... मधुर सूक्तियों का श्रवण कर जिसके अन्तस्तल में आनन्द का उद्रेक नहीं...

प्रश्न १७ —'उपमा कालिदासस्य' विषय पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये।

संस्कृत साहित्य में कालिदास उपमा के लिए विशेष प्रसिद्ध रहे हैं यथा 'उपमा कालिदासस्य' और वस्तुतः यह ठीक भी है। उपमा के एक से एक सुन्दर प्रयोग उनके यहाँ देखे जा सकते हैं। कालिदास की उपमाओं में सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे कृत्रिम न होकर सुन्दर, सरल और स्वाभाविक हैं। उनमें उच्छिष्टता न होकर नवीन कल्पना है और वे चुनी गई हैं। बहिर्जगत् से, जीवन के और ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र से। इतना ही नहीं कवि ने उपमान और उपमेय की लिंग-वचन में समता का भी ध्यान रक्खा है। कालिदास की उपमाएँ अनुरूपता, सरसता तथा अपूर्वता की दृष्टि से बेजोड़ हैं। एक स्थान पर वे कहते हैं कि दिलीप और सुदक्षिणी के बीच में नन्दिनी गाय इसी प्रकार से शोभा पा रही है जैसे दिन और रात के मध्य में होने वाली रक्तवर्णा संध्या—

> पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या।
> तदनन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या॥
>
> (रघुवंश २।२०)

तो अन्यत्र दिलीप की पत्नी सुदक्षिणा के नन्दिनी के पीछे जाने की तुलना श्रुति के अर्थ के पीछे स्मृति के अनुगमन से की गई है—

> 'तस्या···मार्गं मनुष्येश्वरधर्म-पत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्
>
> (रघुवंश २।२)

इसी प्रकार से एक स्थान पर कवि का कथन है कि पौर स्त्रियाँ राजकुमार अतिथि का अपने नेत्रों द्वारा उसी प्रकार अनुसरण कर रही थीं जिस प्रकार चमकते हुए तारों वाली शरद् ऋतु की रात्रियाँ ध्रुव नक्षत्र का अनुगमन करती हैं—

> शरत्प्रसन्नैर्ज्योतिर्विभावर्य इव ध्रुवम्।

कालिदास की उपमाएँ केवल रमणीय ही नहीं हैं अपितु यथार्थ भी हैं। यथा एक स्थल पर कवि ने कहा है :

> सचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
> नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥
>
> (रघुवंश ६।६७)

अर्थात् स्वयंवर के समय इंदुमती जिस राजा को छोड़ती जाती है, उसके पर निराशा की ऐसी कालिमा छा जाती है जैसी राजमार्ग के उन महलों पर रात्रि के समय आगे बढ़ने वाली दीपशिखा पीछे छोड़ती चली जाती है।

उपमाओं की विविधता भी कालिदास के यहाँ दर्शनीय है। एक स्थान यदि वे दिलीप की पत्नी सुदक्षिणा के नन्दिनी के पीछे जाने की तुलना श्रु अर्थ के पीछे स्मृति के अनुगमन से करते हैं, तो दूसरे स्थान पर दिलीप सुदक्षिणा के मध्य में नन्दिनी ऐसी शोभा पाती हुई दीखती है जैसे दिन और के बीच सन्ध्या।

कालिदास ने अपनी उपमाओं का चयन विभिन्न स्थानों से किया है यथा स्थान पर शास्त्रों से उपमा ग्रहण करते हुए वे लिखते हैं—ब्राह्म सरो निकलने वाली सरयू साँख्य-शास्त्र के अव्यक्त मूल प्रकृति कें उत्पन्न होने बुद्धि तत्त्व की तरह है। इसी प्रकार से अन्यत्र व्यवहार और अनुभव से सुं उपमाएँ मिलती हैं—दुष्यन्त को सौंपी गई शकुन्तला सुपात्र को दी गई वि समान है। इतना ही नहीं कतिपय स्थलों पर तो कवि ने व्याकरण आदि के से भी उपमाएँ ग्रहण की हैं।

अन्ततः कहा जा सकता है कि कालिदास की उपमा में अनुपम छ अन्य कोई कवि इस दिशा में कालिदास की समता नहीं कर पाया है। भवभूति की उपमाएँ भी बिल्कुल उपयुक्त हैं परन्तु वे कठिन हैं और कालिदास के समान सरलता, समता और व्यंजकता का अभाव है। इसी से प्राचीन और आधुनिकों के द्वारा कालिदास की उपमाओं की प्रशंसा ही है।

प्रश्न १८—अश्वघोष के रचनाकाल का निर्णय करते हुए उनके महा के सार लिखिए तथा उनकी काव्यकला पर अपने विचार व्यक्त कीजिये।

कालिदास के समान ही अश्वघोष का काव्य संस्कृत साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। यह सौभाग्य की बात है कि संस्कृति साहि प्राचीनतम कवियों में अश्वघोष उन इने-गिने व्यक्तियों में से हैं जिनके रचना के विषय में विद्वानों में अधिक मतभेद नहीं है। बौद्धग्रंथों ने अश्वघोष के में आवश्यक जानकारी को सुरक्षित रखा है और यही नहीं अश्वघोष के ग्रं

भी मूल तथा अनुवाद रूप में सुरक्षित रक्खा है। यह दूसरी बात है कि बौद्ध किवदन्तियों के कारण कई ग्रंथ जो अश्वघोष की रचनाएँ नहीं हैं अश्वघोष के नाम पर प्रसिद्ध कर दिए गए हों और कुछ दूसरे सम-सामयिक बौद्ध व्यक्तित्वों को अश्वघोष के साथ घुला-मिला दिया गया हो, किन्तु इतना होने पर भी यह निश्चित ही है कि अश्वघोष कनिष्क के समकालीन थे। चीन में सुरक्षित परंपरा के अनुसार अश्वघोष महाराज कनिष्क के गुरु थे।

अश्वघोष निश्चित रूप से नागार्जुन से प्राचीन है तथा नागार्जुन का उल्लेख हमें जगय्यपेटस्तूप के लेख में मिलता है जो उसके प्रशिष्य के द्वारा उत्कीर्ण कराया गया है। इस स्तूप के लेख की तिथि ईसा की तीसरी शताब्दी मानी जाती है तथा इसके आधार पर नागार्जुन की तिथि ईसा की दूसरी शताब्दी सिद्ध होती है। अश्वघोष नागार्जुन से दो पीढ़ी पुराने होंगे तथा इस तरह उनका समय कनिष्क के राज्यकाल के समीप ही आता है। इस आधार पर भी यह सिद्ध होता है कि अश्वघोष कनिष्क के समसामयिक थे तथा उनका काल ईसा की प्रथम शताब्दी है।

अश्वघोष के इस काल के विषय में अन्य अन्तरंग तथा बहिरंग प्रमाण भी दिए जा सकते हैं। प्रथम, ईसा की पाँचवीं शताब्दी में बुद्धचरित् का चीनी अनुवाद हो चुका था, अतः इसके पूर्व अश्वघोष का काव्य अत्यधिक लब्ध-प्रतिष्ठ हो चुका था। दूसरे बुद्धचरित् महाकाव्य का अन्तिम (२८वाँ) सर्ग अशोक की संगीति का वर्णन करता है। फलतः अश्वघोष अशोक के परवर्ती थे। तीसरे बौद्ध परम्परा के अनुसार महाकवि अश्वघोष कनिष्क के समकालीन थे। चौथे, अश्वघोष कृत शारिपुत्र प्रकरण के आधार पर प्रो० ल्यूडर्स ने यह कल्पना की है कि उसकी रचना कनिष्क या हुविष्क के समय हुई थी। पाँचवें, मातृचेट की शतपंचाशिका की शैली से स्पष्टतः प्रभावित जान पड़ती है। डा० जौन्सटन के मतानुसार मातृचेट कनिष्क का समकालीन था। सम्भवतः अश्वघोष तथा मातृचेट या तो समसामयिक थे या इनमें एकाध पीढ़ी का ही अन्तर था।

अन्ततः निष्कर्षरूपेण यह कहा जा सकता है कि अश्वघोष का रचना काल ईसा की प्रथम शताब्दी है।

अश्वघोष की रचनाएँ—कालिदास के समान अश्वघोष ने भी दो महा-

काव्यों का प्रणयन किया है वे महाकाव्य हैं—(१) बुद्धचरित् (२) सौन्दरानन्द

बुद्धचरित्—इस महाकाव्य में १८ सर्ग हैं जिनमें भगवान बुद्ध के जीवन, उपदेश तथा सिद्धान्तों का वर्णन है। लेकिन आज इस ग्रंथ की जो संस्कृत प्रति उपलब्ध होती है उसमें केवल १७ ही सर्ग हैं। इन १७ सर्गों में भी अन्तिम सर्ग अमृतानन्द द्वारा जोड़े गए हैं। म० म० हरप्रसाद शास्त्री द्वारा प्राप्त चौदहवें सर्ग के मध्य तक ही रह जाता है तथा प्रथम सर्ग भी पूरा नहीं मिल काव्य के प्रथम पाँच सर्गों में जन्म से लेकर अभिनिष्क्रमण तक की कथा इसमें अन्तःपुर विहार, संवेगोत्पत्ति, स्त्रीनिवारण तथा अभिनिष्क्रमण वाले काव्य-कला की दृष्टि से बड़े मार्मिक बन पड़े हैं। छठे तथा सातवें सर्ग में कु का तपोवन-प्रवेश है। अष्टम सर्ग में अन्तःपुर का विलाप, नवम में कु के अन्वेषण का प्रयत्न, दशम सर्ग में गौतम का मगध जाना, एकादश में कामनि द्वादश में महर्षि अराड के पास शान्ति-प्राप्ति के लिए जाना, त्रयोदश में म पराजय तथा चतुर्दश सर्ग के प्राप्त अंश में बुद्धत्व-प्राप्ति है। इसके बाद का जो डा० जौन्स्टन के आँग्ल अनुवाद से ही प्राप्त है, बुद्ध के शिष्यों, उप सिद्धान्तों, निर्वाण के वर्णनों तथा अशोककालीन संघ की स्थिति के चित्रों परिपूर्ण है।

सौन्दरानन्द—यह महाकाव्य अठारह सर्गों में विभक्त है। इसकी केवल प्राचीन हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं। दोनों दूषित तथा बुरी दशा में हैं। दोनों नेपाल महाराज के पुस्तकालय में सुरक्षित हैं। इसके आधार पर शुद्ध कहीं-कहीं पूरा पाठ करना असम्भव-सा है। सौन्दरानन्द बौद्ध-धर्म के बहु उपदेशों से भरा है। यह हीनयान सम्प्रदाय का ग्रन्थ है किन्तु इसमें कहीं-कहीं म यान सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का भी उल्लेख है। बुद्ध के जीवन-सम्बन्धी जो कई और घटनाएँ बुद्धचरित् में संक्षिप्त हैं या बिल्कुल नहीं हैं वे ही सौन्दरानन्द विस्तारपूर्वक वर्णित हैं। इस दृष्टिकोण से इसे बुद्धचरित् का पूरक कहना अ पयुक्त न होगा।

सौन्दरानन्द में मूलतः सुन्दरी और नन्द की ही गाथा है। सुन्दरी नन्द स्त्री थी और नन्द बुद्ध का भाई था। नन्द सुन्दरी पर अत्यधिक आसक्त था बुद्ध ने अनिच्छुक नन्द को अपने धर्म में दीक्षित किया। पत्नी से वियुक्त हो

नन्द बड़ा रोया और सुन्दरी के पास घर लौट जाना चाहा। भिक्षुओं ने उपदेश-भरे शब्दों में उसे समझाने की खूब कोशिश की किन्तु सब व्यर्थ था। तब बुद्ध उसे लेकर हिमालय की ओर गये। वहाँ एक कानी शाखामृगी दिखाते हुए उन्होंने पूछा—'हे नन्द, इस कानी वन्दरी और अपनी प्रियतमा में से तुम किसे अधिक विलासवती और रूपवती समझते हो?' मुस्कराते हुए नन्द ने कहा—'हे भगवन्! कहाँ वह उत्तम स्त्री आपकी वधू और कहाँ यह पेड़ को पीड़ा पहुँचाने वाली शाखा-मृगी!' बुद्ध ने फिर इन्द्रलोक में अप्सराओं और उनकी प्रियतमा के बीच का अन्तर पूछा। उसने उत्तर दिया—"हे नाथ, उस कानी शाखामृगी और आपकी वधू में जो अन्तर है वही इन अप्सराओं और आपकी वधू में।" अब अप्स-राओं पर मुग्ध होकर नन्द ने उन्हें पाना चाहा। बुद्ध ने बताया कि रूप, सेवा, बल या दान से वे नहीं पाई जा सकतीं; उन्हें पाने का एकमात्र शुल्क या सफल साधन उत्तम तप है। तब वह तपस्वी हो गया और वीतरागी की भाँति आनन्द और विषाद से मुक्त हो गया। बुद्ध के शिष्य आनन्द ने नन्द को बताया कि स्वर्गा-नन्द का उपभोग क्षणिक है और स्वर्ग-निवास प्रवास-मात्र है क्योंकि पुण्य क्षीण होने से लोग वहाँ से लौट आते हैं। आनन्द के वचन की यथार्थता समझकर नन्द अप्सराओं से विमुख हो गया। बुद्ध के पास जाकर अपनी अवस्था बताते हुए उसने कहा—"(अब) मैं सभी दुःखों के नाशक आपके परम धर्म में ही आनंद पाता हूँ। अतः संक्षेप और विस्तार से अपने पदों की व्याख्या कीजिए, जिसे सुनकर मैं परम पद पाऊँ।" उसने बुद्ध के उपदेश सुने, तदनुसार प्रयत्न किया और वह अर्हत् हो गया। कृतार्थ हो बुद्ध ने नन्द के दर्शन किए। गुरु और शिष्य एक दूसरे को देखकर प्रसन्न हुए। दोनों ने एक-दूसरे की हृदय से प्रशंसा की। कृतज्ञ शिष्य ने गुरु से प्रतिकार का उपाय पूछा। गुरु ने परोपकार करने का आदेश दिया। शिष्य को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा—"वही जन उत्तम-से-उत्तम माना जाता है जो उत्तम नैष्ठिक धर्म पाकर अपने परिश्रम का विचार न करता हुआ दूसरों को भी शम का उपदेश देता है। अतः हे स्थिरात्मन्, रात्रिकाल में भटकते हुए तमोवृत जीवों के बीच इस धर्म-प्रदीप को धारण करो। घर में वधू भी तुम्हारा ही अनुकरण करती हुई स्त्रियों को विराग का उपदेश देगी।"

अन्त में कवि ने इस काव्य का प्रयोजन बताते हुए कहा है—"प्रायः लोगों

को विषयरत और मोक्ष-विमुख देखकर मैंने काव्य के बहाने सत्य का दिया है। मोक्ष ही सबसे ऊपर है। इस ग्रन्थ में मोक्ष के अतिरिक्त जो गया है वह इसे काव्य-धर्म के अनुसार सरस बनाने के ही लिए (कहा जैसे कड़वी दवा को रुचिकर बनाने के लिए उसमें मधु मिलाया जाता है।

अश्वघोष की काव्यकला—काव्य-कौशल की दृष्टि से अश्वघोष में दास जैसी विलक्षणता नहीं मिलती किन्तु उसमें नैसर्गिक ऊर्जस्विता और अवश्य विद्यमान है। उसके वर्णन सर्वथा स्वाभाविक और प्रसंगोचित हैं। कारों का समुचित उपयोग भी हमें अश्वघोष के काव्य में देखने को मिल केवल उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक जैसे सरल-सरस अलंकारों का ही नहीं बहुत से कठिन अलंकारों का भी उसने बड़ा सुन्दर प्रयोग किया है। उसके यहां अलंकारों के लिए अलंकारों का प्रयोग नहीं हुआ है अपितु वह है मनोदशा का चित्र खींचने के लिए, मन के अन्तर्द्वन्द्व का संकेत करने के

अश्वघोष का स्थान निश्चित रूप से संस्कृत महाकाव्यकारों की नहीं आ पाता, किन्तु इतना होने पर भी उसका अपना महत्त्व है, और वह है उसके काव्य में उन काव्यरूढ़ियों के पाये जाने के कारण जो निरन्तर प्रयुक्त होती रहीं।

अश्वघोष के पश्चात् तीन शताब्दी तक कोई भी प्रसिद्ध कवि नहीं ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय में साहित्यिक रचनाएँ प्रायः नहीं कालिदास तथा अश्वघोष के उपरान्त जिन महाकाव्यों का प्रणयन हुआ है से अधिकांश के कथानक रामायण अथवा महाभारत पर आधृत हैं। उनमें विषय गौण है, भाषा और शैली को अलंकृत करने की कला प्रमुख है। कालिदास और अश्वघोष के बाद की रचनाओं में भावों का सुन्दर स्वाभाविकता, सरसता तथा नवीनता नहीं है।

प्रश्न १६—भारवि के रचनाकाल का उल्लेख करते हुए किरातार्जु महाकाव्य की कथा संक्षेप में लिखिए।

संस्कृत साहित्य के इतिहास में यह अत्यन्त विवाद का विषय रहा है किसी कृतिकार का रचनाकाल क्या माना जाए। भारवि भी इसके नहीं हैं। भारवि ने अपनी रचना में अपने जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में कोई नहीं दिया है। अतएव उनके जीवन, रचनाकाल आदि के सम्बन्ध में जा

प्राप्त करने के लिए केवल बहिरंग प्रमाणों से ही सहायता लेनी पड़ती है। वहिरंग प्रमाणों के तीन वर्ग बनाए जा सकते हैं—(१) शिलालेखों से प्राप्त सामग्री, (२) दानपत्रों से प्राप्त सामग्री, (३) विभिन्न ग्रन्थों में उल्लिखित संकेतों से प्राप्त सामग्री। भारवि के जीवन-वृत्त और रचनाकाल का निर्णय करते समय हमें इन तीनों ही स्रोतों से सहायता मिलती है। जहाँ तक अभिलेखों से सम्बद्ध सामग्री का प्रश्न है, उसमें दक्षिण भारत में उपलब्ध एहोल का शिलालेख अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। यह शिलालेख चालुक्य-वंशीय पुलकेशिन् द्वितीय की प्रशस्ति के रूप में जैन कवि रविकीर्त्ति के द्वारा लिखा गया था। उस शिलालेख में कहा गया है कि जिस विद्वान् तथा विवेकी रविकीर्त्ति ने इस जिन मन्दिर का निर्माण किया, वह कवित्व के क्षेत्र में कालिदास और भारवि के समान ही यशस्वी था :

> येनायोजि नवेऽश्मस्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
> स विजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदास-भारविकीर्तिः॥

इस जैन मन्दिर का निर्माण-काल ६३४ ई० माना जाता है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भारवि ने ६३४ ई० से पूर्व ही प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी।

दूसरे स्रोत के अन्तर्गत दक्षिण भारत के राजा पृथ्वीकोंगणि के दानपत्र को लिया जा सकता है। यह दानपत्र शक संवत् ६९८ अर्थात् ७७६ ई० का है। इस दानपत्र में कहा गया है कि पृथ्वीकोंगणि से सात पीढ़ी पूर्व दुर्विनीत नामक उसके किसी पूर्वज ने भारवि विरचित 'किरातार्जुनीयम्' के पंद्रहवें सर्ग की टीका लिखी थी। यदि प्रत्येक पीढ़ी के लिए कम से कम बीस अथवा पच्चीस वर्ष का भी समय मान लिया जाए तो इस प्रकार सात पीढ़ी पूर्व के लिए १४० अथवा १७५ वर्ष कम हो जाते हैं। इस प्रकार राजा दुर्विनीत का समय ६०० अथवा ६३५ ई० के निकट बैठता है। अनेक प्रकारेण यह स्पष्ट हो जाता है कि भारवि का रचनाकाल सातवीं शताब्दी के प्रथम चरण के बाद का नहीं है।

तीसरे स्रोत के द्वारा भारवि के रचनाकाल का पता करते समय हमें यह ज्ञात होता है कि जयादित्य ने काशिकावृत्ति में 'किरातार्जुनीयम्' से उद्धरण दिए हैं। प्रो० कीथ के अनुसार इस वृत्ति की रचना चीनी यात्री ईत्सिग की भारत-यात्रा से पूर्व की गई थी। इतिहासकारों का मत है कि ईत्सिग का यात्रा-

काल ६७२ ई० था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि काशिकावृत्ति की रचना ईसा की छठी शताब्दी में हुई थी। इस प्रकार यह माना जा सकता है कि भारवि का रचनाकाल ईसा की छटी शताब्दी से पूर्व रहा होगा।

दण्डीकृत 'अवन्तिसुन्दरी कथा' तथा किसी अज्ञात लेखक द्वारा लिखित 'अवन्तिसुन्दरी कथासार' के आधार पर यह माना जा सकता है कि भारवि उनके पितामह थे। मैक्समूलर, वेबर, मैक्डानल, जैकोबी आदि के अनुसार दण्डी का रचनाकाल छठी शताब्दी है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारवि का रचनाकाल छठी शताब्दी का प्रारम्भ अथवा उससे पूर्व रहा होगा। माघ कृत शिशुपालवध पर भारवि विरचित 'किरातार्जुनीयम्' की बहुत अधिक छाया परिलक्षित होती है। माघ का रचनाकाल सातवीं शताब्दी माना जाता है। इस दृष्टि से भारवि माघ के पूर्ववर्ती ठहरते हैं।

आचार्य वामन ने अपने ग्रन्थ काव्यालंकार सूत्रवृत्ति में अर्थान्तरन्यास अलंकार के उदाहरण के रूप में भारवि का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है :

प्रियेण संग्रथ्य विपक्षसंनिधावुपाहितां वक्षसि पीवरस्तने।
स्रजं न काचिद् विजहौ जलाविलां वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि॥
(किरातार्जुनीयम् ८।३७)

इसका अभिप्राय यह है कि वामन के समय तक भारवि अत्यधिक प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। वामन का समय आठवीं शताब्दी माना जाता है। यदि यह माना जाए कि भारवि को प्रसिद्धि प्राप्त करने में एक शताब्दी का समय तो लगा ही होगा तब उनका रचनाकाल छठी शताब्दी अथवा उससे पूर्व का सिद्ध हो जाता है।

इन प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारवि के रचनाकाल की अन्तिम सीमा ईसा की छठी शताब्दी है। पूर्ववर्ती सीमा के निर्धारण के लिए बहुत पुष्ट प्रमाण तो नहीं मिलते, किन्तु भारवि की रचना पर कालिदास की छाया अवश्य दिखलायी देती है। इससे यह सिद्ध होता है कि भारवि का रचनाकाल कालिदास के बाद ही रहा होगा। यद्यपि कालिदास के रचनाकाल के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है; किन्तु किसी भी विद्वान् ने उन्हें ईसा की पाँचवीं

शताब्दी के बाद का नहीं माना। इस प्रकार भारवि के रचनाकाल की पूर्ववर्ती सीमा ईसा की पाँचवीं शताब्दी मानी जा सकती है। बाण ने अपने हर्षचरित में कालिदास आदि की चर्चा तो की है; किन्तु भारवि का नामोल्लेख तक नहीं किया। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बाण के समय तक भारवि को ख्याति प्राप्त नहीं हुई थी। सम्भवतः भारवि बाण के निकटवर्ती रहे होंगे।

इन सब प्रमाणों के आधार पर भारवि का रचनाकाल ६०० ई० के आसपास माना जा सकता है।

'किरातार्जुनीय' नामक महाकाव्य का श्रीगणेश द्यूतक्रीड़ा में पराजित हुए पांडवों के द्वैत-बनवास से होता है। लेकिन युधिष्ठिर यहाँ रहकर भी दुर्योधन की ओर से निश्चिन्त नहीं हैं। वह एक वनेचर को दुर्योधन की प्रजा-पालन सम्बन्धी नीति को जानने के लिए चर बनाकर भेजते हैं। गुप्तचर बने हुए वनेचर के लौटने और उसके युधिष्ठिर के पास पहुँचने से काव्य का इतिवृत्त चलता है। वनेचर दुर्योधन के शासन का पूरा विवरण देता है। साथ ही इस बात का संकेत भी देता है कि द्यूतक्रीड़ा के माध्यम से जीती हुई पृथ्वी को वह नीति से भी जीत लेने की चेष्टा में लगा हुआ है—

दुरोदरच्छद्मजितां समीहते नयेन जेतुं जगतीं सुयोधनः ॥

(किरातार्जुनीयम् १।७)

समस्त तथ्य एवं विवरण देने के उपरान्त वनेचर लौट जाता है और द्रौपदी आकर युधिष्ठिर को युद्ध के लिए उत्तेजित करती है। वह कटु शब्दों का प्रयोग करती हुई युधिष्ठिर की तपस्विजनोचित शांति, दूसरे शब्दों में कायरपन की भर्त्सना करती है। द्वितीय सर्ग के प्रारम्भ में भीम द्रौपदी के विचार का समर्थन करता है और युधिष्ठिर को इस बात का विश्वास दिलाता है कि रणस्थली में उसके चारों भाइयों के सम्मुख ठहरने की सामर्थ्य किसी में नहीं है। लेकिन नीतिविशारद युधिष्ठिर भीम के समस्त तर्कों को अपनी नीतिपूर्ण उक्तियों द्वारा शांत कर देते हैं। वे इस बात का संकेत देते हैं कि उन्हें उस समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए जब पांडवों के मित्र पांडवों की सहिष्णुता की अत्यधिक प्रशंसा करने लगे तथा दुर्योधन के अभिमानी व्यवहार से अपमानित कई राजा उससे

अलग हो जाएँ। इसी सर्ग में भगवान् व्यास का प्रवेश होता है। अगले अर्थात् तीसरे सर्ग में वे अर्जुन को दिव्यास्त्र-प्राप्ति के लिए इन्द्र की तपस्या करने और दिव्य-साहाय्य प्राप्त करने के लिए कहते हैं। तदुपरांत गुह्यक अर्जुन को पर्वत पर ले जाने के लिए आ जाता है। इसके बाद के आठ सर्गों में अर्थात् चौथे सर्ग से ११वें सर्ग तक कवि की नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा प्रस्फुटित होती है। इन सर्गों में शिशिर, हिमालय, स्नान, क्रीड़ा, संध्या, सूर्यास्त, चन्द्रोदय आदि प्राकृतिक दृश्यों का अत्यन्त रमणीय चित्रण किया गया है। साथ ही अर्जुन की कठोर तपस्या और इन्द्र द्वारा उसे भंग करने के प्रयास का भी उल्लेख है। लेकिन अर्जुन का व्रत भंग नहीं होता। फलतः इन्द्र प्रसन्नचित्त हो उसके पास आते हैं तथा शिव की आराधना करने के लिए परामर्श देते हैं। अर्जुन पुनः तपस्या करता है। इधर एक मायावी दैत्य अर्जुन को मारने के लिए सूअर का रूप धारण करता है। इस बात को जानकर भगवान् शिव अर्जुन की रक्षा के हेतु किरात का मायावी वेष धारण करते हैं। तेरहवें सर्ग में सूअर के प्रवेश का वर्णन है। किरात तथा अर्जुन दोनों सूअर पर एक-साथ बाण छोड़ते हैं। अर्जुन का बाण सूअर को मारकर पृथ्वी में घुस जाता है। बाद में बचे हुए बाण के लिए किरात तथा अर्जुन का वाद-विवाद चलता है। यह विवाद पन्द्रहवें सर्ग में युद्ध का रूप धारण कर लेता है। युद्ध में पहले दोनों अस्त्र-शस्त्र से लड़ते हैं, बाद में कुश्ती पर उतर आते हैं। इसी समय अर्जुन की वीरता से प्रसन्न होकर भगवान् शिव प्रकट होते हैं तथा अर्जुन की पाशुपतास्त्र-प्राप्ति की अभिलाषा पूर्ण करते हैं और इसके साथ ही काव्य की समाप्ति होती है।

प्रश्न २०—भारवि की काव्य-कला पर एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए।

संस्कृत साहित्य के इतिहास में महाकवि भारवि का नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उनकी कीर्ति का एकमात्र आधार उनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'किरातार्जुनीय' संस्कृत साहित्य की वृहत्-त्रयी – किरातार्जुनीय, शिशुपालवध तथा नैषधचरित् में इसका सर्वोपरि स्थान है। इतना ही नहीं सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में किरातार्जुनीय के सदृश किसी अन्य ओजपूर्ण तथा उग्र-काव्य के दर्शन नहीं होते।

किरातार्जुनीय अलंकृत शैली का महाकाव्य है। इसकी कथावस्तु का चयन महाभारत के वन-पर्व से किया गया है। १८ सर्गों में निबद्ध इस महाकाव्य

अर्जुन तथा किरातवेशधारी शिव का युद्ध-वर्णन है। काव्य-कौशल की दृष्टि से भी यह काव्य अत्यन्त रमणीक बन पड़ा है।

भारवि मूलतः वीर तथा शृंगार रस के कवि हैं। किरातार्जुनीय का दूसरा सर्ग भीम की वीररसोचित दर्पोक्तियों से आपूर्ण है। भीम दुर्योधन की कृपा से राज्य प्राप्त करने का इच्छुक नहीं है। उसके विचारानुसार अपने तेज से समस्त जगतीतल को तुच्छ समझने वाला महान् व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति की कृपा से ऐश्वर्य उपलब्ध करना नहीं चाहता। शेर अपने हाथों द्वारा मारे हुए हाथी के द्वारा अपनी जीविका चलाता है—

मदसिक्तमुखैर्मृगाधिपः करिभिर्वर्त्तयते स्वयं हतैः।
लघयन्खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः॥

(किरातार्जुनीयम् २।१८)

किरातार्जुनीय के अष्टम, नवम तथा दशम सर्ग में शृंगार रस के अनेक सरस और मधुर चित्र हैं। अप्सराओं का वन-विहार, पुष्पावचय, जल-क्रीड़ा, रतिकेलि आदि के वर्णन भारवि को प्रणय-कला-विशारद की उपाधि से विभूषित करने में अत्यन्त समर्थ हैं। यद्यपि भारवि के शृंगार-वर्णन हृदय को गुदगुदाने की शक्ति बहुत कम रखते हैं किन्तु नर्मसाचिव्य करने में पूर्णतः पटु हैं। डॉ० भोलाशंकर व्यास के मतानुसार "भारवि के शृंगार-वर्णन वासना और विलास वृत्ति को जितना उभारते हैं, उतने कालिदास के वर्णन नहीं।" अब हम भारवि के काव्य में से एक-दो उदाहरण प्रस्तुत करेंगे। किरातार्जुनीय के अष्टम सर्ग के निम्नलिखित श्लोक को देखिए—

विहस्य पाणौ विधृते धृताम्भसि प्रियेण वध्वा मदनार्द्रचेतसः।
सखीव कांची पयसा घनीकृता बभार वीतोच्चयबन्धमंशुकम्॥

(किरातार्जुनीयम् ८।५१)

अर्थात् "जलविहार के अवसर पर किसी नायिका ने हाथ में जल लेकर नायक पर उछालना चाहा, इसे देखकर प्रिय ने हँसकर उसका हाथ पकड़ लिया। स्पर्श के कारण नायिका का मन कामासक्त हो गया, उसका नीविबंधन शिथिल हो गया किन्तु जल से सिमटी हुई करधनी ने उसके अंशुक को इस प्रकार रोक लिया, जैसे वह सखी के समान उपयुक्त अवसर पर नायिका की सहायता कर

रही हो।"

इसी प्रकार से अष्टम सर्ग के चौदहवें श्लोक को लिया जा सकता है जि मुग्धा नायिका का चित्र प्रस्तुत किया गया है। पुष्प तोड़कर नायिका को समय नायक के मुख से गलती से किसी दूसरी नायिका का नाम निकल जा है; वह उसे गलत नाम से सम्बोधित कर देता है। नायिका यह अनुमान लेती है कि वह नायक की कनिष्ठा प्रिया है। बस फिर क्या है वह मान बैठ जाती है। उसके मान करने का ढंग भी एकदम निराला है। वह नायक कुछ नहीं कहती अपितु रक्त-नेत्रों में अश्रु-जल भरकर पैर से जमीन खुरचने जाती है—

प्रयच्छतोच्चैः कुसुमानि मानिनी विपक्षगोत्रं दयितेन लम्भिता।
न किञ्चिदूचे चरणेन केवलं लिलेख वाष्पाकुललोचना भुवम्॥
(किरातार्जुनीयम् ८।

प्रकृति-वर्णन में भारवि की रुचि उतनी नहीं है जितनी वाल्मीकि, का या भवभूति की। फिर भी भारवि के यहां प्रकृति के आलम्बन, उद्दीपन आलंकारिक रूप के अनेक सुन्दर चित्र देखने को मिलते हैं। किरातार्जुनी चतुर्थ तथा पंचम सर्ग में प्रकृति के आलम्बन रूप के अनेक सुन्दर उदाहरण को मिलते हैं। चतुर्थ सर्ग के शरद् वर्णन के कुछ चित्र तो निश्चित रू अत्यन्त मार्मिक बन पड़े हैं। प्रकृति के उद्दीपन रूप का वर्णन देखने वालों के किरातार्जुनीय का नवम सर्ग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अप्सराविहार में सू वर्णन, रात्रि-वर्णन, प्रभातवर्णन निश्चित रूप से शृंगार के उद्दीपन विभाग के गंत समाविष्ट होंगे। प्रकृति के अलंकृत वर्णन छांटने के लिए भारवि के यहां स्थल-विशेष को चुनने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। चतुर्थ सर्ग के ल सभी वर्णन अलंकृत हैं। केवल दो-तीन पद्य, जिनमें गायों का वर्णन है, अ कहे जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में डॉ० भोलाशंकर व्यास का यह कथन वि रूपेण ध्यातव्य है, "कालिदास की भारती सदा अनलंकृत रमणीयता आती है, पर प्रकृति में दिल को न रमाने वाले भारवि या माघ यमक के फेर जाते हैं।"

वस्तुतः भारवि की काव्य-कला की प्रसिद्धि का आधार भाव-पक्ष न है

कलापक्ष है। वह तो अल्प शब्दों में ही विपुल अर्थ के समावेश के लिए प्रसिद्ध हैं। उनके सम्बन्ध में यह उक्ति प्रसिद्ध ही है—'भारवेरर्थगौरवम्।' उनकी इसी विशेषता को दृष्टि-पथ में रखते हुए कृष्ण कवि ने लिखा है—

प्रदेशवृत्यापि महान्तमर्थं प्रदर्शयन्ती रसमादधाना।
सा भारवेः सत्पथदीपिकेव रम्या कृतिः कैरिव नोपजीव्या।।

इतना ही नहीं भारवि स्वयं काव्य में कलापक्ष को अधिक महत्ता देने के पक्षपाती हैं। उनका कथन है—

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितंक्वचित्।।

(किरातार्जुनीयम् २।२७)

अर्थात् "काव्य में पदप्रयोग की दृष्टि से अस्पष्टता न हो, अर्थगांभीर्य पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाए, वाणी के अर्थ में पुनरुक्ति न हो तथा अर्थ-सामर्थ्य को कुचला न जाए।"

यह पहले कहा जा चुका है कि भारवि कलापक्ष के कवि हैं। इस दृष्टि से उन्हें श्लेष अलंकार अधिक प्रिय है। यह बात दूसरी है कि उनके यहाँ माघ की भाँति शुद्ध श्लेष के उदाहरण ही मिलते हैं तथा अर्थश्लेष के दर्शन नहीं होते। वह किसी न किसी अर्थालंकार का अंग बनकर ही प्रयुक्त हुआ है। भारवि को यमक अलंकार भी बहुत अधिक प्रिय है। किरातार्जुनीय के पंचम सर्ग में तो कवि यमक के फेर में इतना फँस गया है कि उस सर्ग का प्रत्येक दूसरा पद्य यमक का है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि कुछ ऐसे अन्य अलंकार हैं जिनका सफल प्रयोग भारवि के यहाँ दृष्टिगत होता है।

छन्दों के प्रयोग में भी भारवि अत्यन्त कुशल हैं। वंशस्थ उनका सर्वाधिक प्रिय छन्द है। इन्द्रवज्रा, उपेंद्रवज्रा, द्रुतविलंबित, चंद्रिका, मत्तमयूर आदि अन्य छन्दों का भी उन्होंने अत्यन्त सफल प्रयोग किया है।

शैली की दृष्ठि से भारवि के काव्य में कालिदास के समान प्रसाद गुण नहीं मिलता। यद्यपि यह सत्य है कि उन्होंने माघ की भाँति विकट-समासान्त-पदावली का आश्रय नहीं लिया है किन्तु उनमें कालिदास जैसे वैदर्भी का भी प्रयोग नहीं है। उन्होंने कूट काव्यों में जिस शैली का आश्रय लिया है वह निस्सन्देह किसी भी सहृदय व्यक्ति को प्रभावित नहीं कर सकती। उदाहरणार्थ निम्न-

लिखित अवतरण को लिया जा सकता है—

स सासिः सासुसूः सासो येयायेयाययाययः ।
ललौ लीलां ललोऽलोलः शशीशशिशुशीः शशम् ।।
(किरातार्जुनीयम् १५।

अर्थात् "खड्ग (सासिः) बाण (सासुसूः) तथा धनुष (सासः) से यु होकर, यान साध्य तथा अयानसाध्य लाभादि को प्राप्त करने वाले, शो सम्पन्न (ललः) निश्चल प्रकृति वाले (अलोलः) अर्जुन ने, जिसने चन्द्रमा स्वामी (शिव) के पुत्र (कार्तिकेय) को हरा दिया था (शशीशशिशुशीः (खरगोश की-सी) प्लुतगति से युक्त होकर (तेजी से फुदक कर,) अपूर्व शो को प्राप्त किया ।"
(व्यास

उपर्युक्त अवतरण में प्रत्येक पद में एक ही व्यञ्जन-ध्वनि अवश्य पाई जा है और बहुत सम्भव है कि यह शैली बौद्धिक व्यायाम करने वाले व्यक्तियों बहुत अधिक प्रिय लगे किन्तु निश्चित रूप से किसी सहृदय व्यक्ति का मन प्रकार के प्रयोग से प्रभावित नहीं हो सकता । सबसे मजेदार बात यह है कि प्रकार के पद प्रभूत मात्रा में उपलब्ध होते हैं । भारवि के इसी प्रकार के पदों देखकर एक आलोचक ने यहाँ तक कह डाला है—"कालिदास की कविता द्राक्षापाक है, अंगूर के दाने की तरह मुँह में रखते ही रस की पिचकारी पड़ती है, जबकि भारवि के काव्य में नारिकेलपाक है, जहाँ नारियल को तो की सख्त मेहनत के बाद उनका रस हाथ आता है, और कभी-कभी तो तोड़ते समय इधर-उधर जमीन पर बह भी जाता है, और उसमें से बहुत थो बचा-खुचा सहृदय की रसना का आस्वाद्य बनता है।"

पाण्डित्य-प्रदर्शन के प्रति भी भारवि की बहुत अधिक अनुरक्ति है। व्याकरण-ज्ञान का प्रदर्शन तो वे स्थान-स्थान पर करते हुए दिखलाई देते उन्होंने 'तन्' धातु का प्रयोग प्रभूत मात्रा में किया है, कर्मवाच्य तथा भाववा के प्रयोग उन्हें बहुत प्रिय हैं, अतीत की घटना का वर्णन करने के लिए परोक्षभूते लिट् का प्रयोग करते हैं तथा अपरोक्षभूत के लिए लङ् तथा लुङ् प्रयोग किया गया है। लेकिन कहीं-कहीं पर व्याकरण की त्रुटियाँ बहुत खट हैं। 'आजघ्ने' का आत्मनेपदी प्रयोग एक ऐसा ही उदाहरण है।

अन्ततः हम डॉ० डे के शब्दों में कह सकते हैं, " भारवि की कला प्रा

अत्यधिक अलंकृत नहीं है, किन्तु आकृति-सौष्ठव की नियमितता व्यक्त करती है। शैली की दुष्प्राप्य कांति भारवि में सर्वथा नहीं है, ऐसा कहना ठीक नहीं होगा, किन्तु भारवि उसकी व्यंजना अधिक नहीं कराते। भारवि का अर्थगौरव, जिसके लिए विद्वानों ने उनकी अत्यधिक प्रशंसा की है, उनकी गम्भीर अभिव्यंजना शैली का फल है, किन्तु यह अर्थगौरव एकसाथ भारवि की शक्ति तथा दुर्बलता दोनों को व्यक्त करता है। भारवि की अभिव्यंजना शैली का परिपाक अपनी उदात्त स्निग्धता के कारण सुन्दर लगता है, उसमें शब्द तथा अर्थ के सुडौलपन की स्वस्थता है, किन्तु महान् कविता की उस शक्ति की कमी है, जो भावों की स्फूर्ति तथा हृदय को उठाने की उच्चतम क्षमता रखती है।"

प्रश्न २१—'भारवेरर्थगौरवम्' विषय पर एक संक्षिप्त निबंध लिखिए।

संस्कृत साहित्य में कालिदास यदि उपमाओं के लिए प्रसिद्ध हैं तो भारवि अर्थगौरव के लिए। अल्प शब्दों में ही विपुल अर्थ समाविष्ट करने में भारवि ने अद्भुत कौशल दिखलाया है और इसीलिए आलोचकों ने 'भारवेरर्थगौरवम्' कहकर इनकी प्रशंसा की है।

भारवि ने अल्प पदों में ही बहुत भारी भाव दिखलाने के लिए दोनों ही प्रकार के शब्दों, पदों और वाक्यों का प्रयोग किया है, अर्थात् यदि कहीं भावाभिव्यक्ति के लिए सरल शब्दावली, पदावली और वाक्यावली को अपनाया गया है तो कहीं कठिन पदों और वाक्यों के मूल में ही उनकी भावधारा का प्रस्फुटन हुआ है। उनके सुप्रसिद्ध महाकाव्य किरातार्जुनीय के आरम्भिक तीन सर्गों में मूलतः कठिन शब्दावली का ही प्रयोग हुआ है। इसीलिए साहित्यमर्मज्ञों ने एकमत से उन तीन सर्गों को पाषाणत्रय की संज्ञा से अभिहित किया है। 'किरातार्जुनीयम्' के टीकाकार मल्लिनाथ सूरि ने तो उसे नारियल-सदृश बताया है जिसे फोड़कर, कठिन भाग दूर करने पर, अन्दर भीनी-भीनी गन्ध वाला पौष्टिक एवं रसपूर्ण पदार्थ मिलता है—

नारिकेलफलसम्मितं वचो भारवेः सपदि तद्विभज्यते।
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भरं सारमस्य रसिका यथेप्सितम्॥

भारवि ने अल्प शब्दों द्वारा विपुल अर्थ व्युत्पन्न करने के लिए श्लेष का प्रयोग किया है। यथा—

कथाप्रसंगेन जनैरुदाहृतादनुस्मृताखण्डलसूनुविक्रमः।
तवाभिधानाद्व्यथते नतानन: सुदुःसहान्मन्त्रपदादिवोरगः॥
(किरातार्जुनीयम् १

अर्थात् जिस तरह सर्प विषवैद्य के द्वारा पढ़े गए असह्य मन्त्र को सुन जिसमें गरुड़ तथा वासुकि का नाम होता है—विष्णु के पक्षी गरुड़ के का स्मरण कर, अपने फण को नीचे गिरा देता है, उसी प्रकार से जब बातचीत में लोगों के मुंह से युधिष्ठिर का नाम सुनता है तो अर्जुन की को याद कर चिन्ता के कारण सिर झुका लेता है।

किन्तु ऐसा करते समय उन्होंने इस बात का पूर्ण ध्यान रखा है कि पद-प्रयोग में अस्पष्टता न हो, अर्थ में पुनरुक्ति न हो तथा अर्थसामर्थ्य को न दिया जाए—

स्फुटता न पदैरपाकृता न च न स्वीकृतमर्थगौरवम्।
रचिता पृथगर्थता गिरां न च सामर्थ्यमपोहितम् क्वचित्॥
(किरातार्जुनीयम्

भारवि ने अल्प शब्दावली के आधार पर विपुल अर्थों का सृजन ही किया है अपितु इस बात का भी ध्यान रक्खा है कि उनके शब्दों से निःसृ अध्येता के अन्तस में साकार रूप धारण कर ले और कहने की आवश्यकता कि कवि को इस दिशा में भी सफलता की प्राप्ति हुई है, एक-दो पद कितने सुन्दर बन पड़े हैं अपने आप में—

स सासिः सासुसूः सासो येयायेयाययायय:।
ललौ लीलांललोऽलोल: शशीशशिशुशी: शशन्॥
(किरातार्जुनीयम्

अर्थात् खड्ग, बाघ तथा धनुष से युक्त होकर यान साध्य ('यान' रा का पारिभाषिक शब्द है तथा सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और श्रय, इन छः गुणों में से एक है। आक्रमण के लिए शत्रु के प्रति विजिगीषु यान कहलाता है) तथा अभावसाध्य लाभादि को प्राप्त करने वाले, शोभा- निश्चल प्रकृति वाले अर्जुन ने, जिसने चन्द्रमा के स्वामी (शिव) के पुत्र (केय) को हरा दिया था (खरगोश की-सी) प्लुत गति से युक्त होकर तेंजी से फुदक कर अपूर्व शोभा को प्राप्त किया।

न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु ।
नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत् ॥

(किरातार्जुनीयम् १५।१४)

अर्थात् नीच मनुष्य द्वारा घायल किया जाने वाला पुरुष पुरुष नहीं और न वही पुरुष कहलाने योग्य है, जो नीच मनुष्य को घायल करता है। यदि स्वामी को किसी प्रकार की क्षति न पहुँची, तो घायल पुरुष भी वास्तव में अक्षत है। बुरी तरह से घायल मनुष्य को मार डालने वाला भी अपराधी नहीं है।

अल्प शब्दों में ही विपुल अर्थ सन्निहन के लिए कवि ने अर्थालकारों विशेषतः साधर्म्यमूलक अलंकारों से बहुत सहायता ग्रहण की है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, समासोक्ति, निदर्शना आदि के अतिरिक्त यमक, श्लेष तथा प्रहेलिकादि के प्रयोग में कवि पूर्णतः दक्ष है। यहाँ पर एक-दो उदाहरण देना ही पर्याप्त होगा। नीचे के पद्य में उपमा का सरस शृंगारी प्रयोग है—

ततः स कूजत्कलहंसमेखलां सपाकसस्याहितपांडुतागुणाम् ।
ऊपाससादोपजनं जनप्रियः प्रियामिवासादितयौवनां भुवम् ॥

(किरातार्जुनीयम् ४।१)

अर्थात् "तब लोकप्रिय अर्जुन कृषकादि जनों से युक्त पृथ्वी के पास उसी तरह गया, जैसे कोई नायक प्राप्त-यौवना प्रेयसी के पास जाता है। शरदभूमि पर कलहंस उसी तरह कूज रहे थे, जैसे नायिका की करधनी झणझणायित हो रही हो और उसके पके धान्य की पाण्डुता नायिका के गौर वर्ण के समान दिखाई दे रही थी।" इसी प्रकार से प्रकृति के वर्णन में रूपक का अप्रस्तुत विधान निम्न पद्य में अति उत्कृष्ट बन पड़ा है —

विपांडु संव्यानमिवानिलोद्धतं निरुन्धतीः सप्तपलाशजं रजः ।
अनाविलोन्मीलितबाणचक्षुषः सपुष्पहासा वनराजियोषितः ।

(किरातार्जुनीयम् ४।२८)

अर्थात् अर्जुन ने उन वनपंक्तिरूपी युवतियों को देखा, जो वायु से बिखरे हुए सप्तवर्णों के पीले पराग को वायु से उड़ते उत्तरीय की तरह संभाल रही थी, जिनके सुन्दर बाण-पुष्पों के निर्मल नेत्र विकसित हो रहे थे तथा जो पुष्पों के विकास रूपी ह्लास से मुक्त थीं।

भारवि ने अपने काव्य को अर्थगौरव से परिपूर्ण करने में जिन साध सहायता ली है, उसमें अर्थान्तरन्यास अलंकार का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। 'किरातार्जुनीयम्' के कुल श्लोकों का दस प्रतिशत से भी अधिक अर्थान्तरन्यास अलंकार से समवेत है। इस अलंकार की सहायता से गागर में सागर भरने के दुष्कर कार्य को किस कौशल के साथ सम्पन्न दिखाया है इसका अनुमान निम्नलिखित श्लोक से लगाया जा सक जिसमें 'किरातार्जुनीयम्' महाकाव्य के समस्त निष्कर्ष को निबद्ध कर गया है—

> द्विषतामुदयः सुमेधसा गुरुरस्वन्ततरः सुमर्षणः।
> न महानपि भूतिमिच्छता फलसम्पत्प्रवणः परिक्षयः॥
>
> (किरातार्जुनीयम्

भारवि का काव्य इतना अधिक अर्थगर्भित है कि बहुत से श्लोकार्ध आ जनजीवन में सूक्तियों के रूप में प्रसिद्ध हैं। इतना ही नहीं संस्कृत साहि उपलब्ध सभी सूक्तिसंग्रहों में भारवि की सूक्तियाँ संकलित हैं। जिन सूक्ति मानवमन को आज तक वशीभूत कर रखा है उनमें से कुछ एक अधो हैं—

(१) वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः।
(२) सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिरः।
(३) सतां हि वाणी गुणमेव भाषते।
(४) भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः।
(५) व्रताभिरक्षा हि सतामलंक्रिया।
(६) मुह्यत्येव हि कृच्छ्रेषु सम्भ्रमज्वलितं मनः।
(७) व्रजन्ति हि मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
(८) हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः।
(९) अवन्ध्यकोपस्य विहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः।
(१०) स किं सखा साधु न शास्ति योऽधिपं हितान्न यः संश्रृणुते स किंप्रभुः
(११) सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
(१२) सतां हि वाणी गुणमेव भाषते।

(१३) अविभिद्य निशाकृतं तमः प्रभया नांशुमताऽप्युदीयते।
(१४) प्रकृत्यमित्रा हि सतामसाधवः।
(१५) प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जयश्रीः।
(१६) सुदुर्लभे नार्हति कोऽभिनन्दितुं प्रकर्षलक्ष्मीमनुरूपसंगमे।
(१७) विश्वाससत्याशु सतां हि योगः।
(१८) न हींगितज्ञोऽवसरेऽवसीदति।
(१९) भवन्ति गोमायुसखा न दंतिनः।
(२०) कमिवेशते रमयितुं न गुणाः।
(२१) न दूषितः शक्तिमतां स्वयंग्रहः।
(२२) दुर्लक्ष्यचिह्ना महतां हि वृत्तिः।
(२३) न तितिक्षा सममस्ति साधनम्।
(२४) सुदुर्ग्रहांतः करणा हि साधवः।
(२५) दिशत्यपायं हि सतामतिक्रमः।

समग्रतः यह कहा जा सकता है कि 'भारवेरर्थगौरवम्' नाम्नी उक्ति में किसी प्रकार की अत्युक्ति नहीं है, अपितु वह तो पूर्वतः सार्थक सिद्ध होती है।

प्रश्न २२—'संस्कृत साहित्य में भारवि का स्थान' विषय पर एक लेख लिखिए।

संस्कृत महाकाव्य के इतिहास में भारवि का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि किसी ने भारवि की वाणी को स्वभावतः मधुर कहा है, तो किसी अन्य ने उनके काव्य के प्रत्येक अंश को रससिक्त तथा अर्थ-गौरव से सम्पन्न माना है। यदि किसी को उनके काव्य में भाव और रस के तादात्म्य का स्पष्ट दर्शन हुआ है, तो किसी अन्य को नारिकेल फल के समान ऊपर से कठोर दिखाई देने पर भी भीतर से रसपूर्ण और सुस्वादु परिलक्षित हुआ है। इतना ही नहीं, भारवि की एकमात्र उपलब्ध रचना 'किरातार्जुनीयम्' की गणना महाकाव्यों की बृहत्त्रयी के अन्तर्गत की जाती है और इस बृहत्त्रयी में भी 'किरातार्जुनीयम्' को प्रथम, शिशुपालवध को द्वितीय तथा नैषध को तृतीय स्थान प्राप्त है। ध्यातव्य है कि इस बृहत्त्रयी में कालिदासकृत रघुवंश महाकाव्य की गणना नहीं की गई, यद्यपि आकार-प्रकार की दृष्टि से वह 'किरातार्जुनीयम्' से लघु

नहीं है। यह इस बात का अत्यन्त स्पष्ट प्रभाव है कि काव्य-कला की दृष्टि 'किरातार्जुनीयम्' को रघुवंश की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है। इसी प्रकार इसमें न तो शिशुपाल वध की तरह 'कर्णकटु एवम् क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग परिलक्षित होता है और न नैषध के समान जटिल कल्पनाओं का घटाटोप। 'किरातार्जुनीयम्' की विशेषता तो इस बात में है कि इसमें छोटे-छोटे पदों तथा कर्णप्रिय शब्दावली के प्रयोग से तो ऐसे श्लोकों की रचना की गई है अर्थगौरव से परिपूर्ण हैं। यही कारण है कि 'किरातार्जुनीयम्' के शतां श्लोक अथवा श्लोकार्ध सहृदय समाज के कण्ठहार बने हुए हैं। संस्कृत सा में उपलब्ध सूक्तिसंग्रहों में एक भी ऐसा नहीं है जिसमें भारवि की सूक्तियाँ संकलित न हों। भारवि के श्लोकों का उल्लेख केवल सहृदय रसिक तथा सूक्तिसंग्रहकारों के मध्य ही नहीं मिलता अपितु संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने अपने ग्रन्थों में प्रतिपादित विद्वानों को स्पष्ट करने के लिए भारवि-काव्य उदाहरण चुने हैं। आचार्य वामन, आनन्दवर्धन, महिमभट्ट, मम्मट, विश्वनाथ आदि के ग्रन्थों में तो भारवि के उदाहरण दिए ही गए हैं, तेरहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध आचार्य नरेन्द्रप्रभ सूरि ने तो पन्द्रह से भी बार भारवि के श्लोकों को उद्धृत करके पाठक-समाज को यह सोचने को मजबूर कर दिया है कि समूचे संस्कृत साहित्य में भारवि अन्यतर स्थान अधिकारी हैं।

भारवि की लोकप्रियता का अनुमान इस बात से भी लगाया जा सकता कि 'किरातार्जुनीयम्'का अध्ययन उनके जीवन-काल में ही प्रारम्भ हो गया और यह क्रम अब तक बराबर चला आ रहा है। 'किरातार्जुनीयम्' पर तक छत्तीस टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं। जिन टीकाकारों ने ये टीकाएँ लिखी उनके नाम इस प्रकार हैं—

१. मल्लिनाथ	२. मंगल
३. देवराज भट्ट	४. रामचन्द्र
५. क्षितिपाल	६. प्रकाशवर्ष
७. कृष्णकवि	८. चित्रभानु
९. एकसाथ	१०. जोनराज

१२. भरतसेन
११. हरिकण्ठ
१३. भगीरथ मिश्र
१४. पेछभट्ट
१५. अलाद नरहरि
१६. हरिदास
१७. काशीनाथ
१८. धर्म विजयाग्नि
१९. राजकुण्ड
२०. गदासिंह
२१. दामोदर मिश्र
२२. मनोहर शर्मा
२३. माधव
२४. लोकानन्द
२५. बांकीदास
२६. विजयराम
२७. नृसिंह
२८. रविकीर्ति
२९. श्रीरंगदेव
३०. श्रीकण्ठ
३१. वल्लभदेव
३२. जीवानन्द विद्यासागर
३३. कनकलाल शर्मा
३४. गंगाधर मिश्र
३५. विद्यामाधव

इन टीकाकारों द्वारा रचित टीकाओं के अलावा कतिपय ऐसी टीकाएँ भी हैं, जिनके लेखकों के बारे में कोई जानकारी नहीं है। उदाहरणार्थ 'शब्दार्थ-दीपिका' तथा 'प्रसन्नसाहित्यचंद्रिका' को लिया जा सकता है।

संस्कृत साहित्य में भारवि की गणना अलंकृत शैली के प्रवर्तक के रूप में की जाती है। भारवि की काव्य-शैली या परवर्त्ती रचनाकारों पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि वे कविकुल गुरु कालिदास की प्रसादपूर्ण स्वाभाविक शैली को विस्मृत कर बैठे तथा भारवि की रचना-पद्धति का अनुकरण करने लगे। भट्टि, कुमारदास, माघ, श्रीहर्ष, राजशेखर आदि की रचनाओं का अनुशीलन करने पर हमारा यह कथन अनायास ही सिद्ध हो जाता है। इनमें भी माघ और श्रीहर्ष के काव्य पर तो भारवि के काव्य की अत्यधिक छाप पड़ी है। माघ के काव्य पर भारवि का कितना अधिक प्रभाव है इसका अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि यदि भारवि अपने ग्रन्थ का श्रीगणेश 'श्रियः कुरूणमधिपस्य पालनीम्...' श्लोक में 'श्री' शब्द के द्वारा करते हैं, तो माघ भी 'श्रियः पति श्रीमतिशासितुं जगत्...' श्लोक में 'श्री' शब्द का प्रयोग करके। इसी प्रकार यदि भारवि ने 'किरातार्जुनीयम्' के प्रत्येक सर्ग के अन्तिम श्लोक में 'लक्ष्मी' शब्द

का प्रयोग किया है तो माघ भी 'शिशुपालवध' के सर्गों की समाप्ति 'श्री' शब्द के प्रयोग के द्वारा करते हैं। माघ के समान श्रीहर्ष का काव्य भारवि के रचना से अत्यधिक प्रभावित है। श्रीहर्ष के काव्य में अनेक ऐसे स्थल हैं जिनके के लिए वे भारवि के ऋणी हैं। उदाहरणार्थ श्रीहर्ष के प्रसिद्ध महाकाव्य 'नैषध चरितम्' से उद्धृत अधोलिखित अवतरण देखिए :

> अपि विरहमनिष्टमाचरन्तानधिगमपूर्वक पूर्वं सर्वचेष्टो।
> इदमहह निदर्शनं विहंगौ विधिवशचेतनचेष्टितानुमाने॥

अब यदि हम इस श्लोक को भारवि के निम्नलिखित श्लोक से मि देखें तो यह अनायास ही स्पष्ट हो जायेगा कि श्रीहर्ष भारवि से कितने प्र हैं :

> इच्छतां सह वधूभिरभेदं यामिनीविरहिणां विहगानाम्।
> आपुरेव मिथुनानि वियोगं लंघयते न खलु कालनियोगः॥

संस्कृत साहित्य में भारवि के काव्य की इतनी अधिक महत्ता इसलि है कि यदि उसमें एक ओर मन को स्पर्श करने की शक्ति विद्यमान है, तो ओर शब्दों का ऐसा सजीव प्रयोग है कि पाठक के अन्तर्मन पर कथ्य क चित्र-सा निर्मित हो जाता है। अर्थगौरव तो भारवि की निजी विशेषता इस दृष्टि से 'किरातार्जुनीयम्' संस्कृत साहित्य की सर्वश्रेष्ठ रचना है। समग्रतः हम कृष्णकवि के शब्दों में कह सकते हैं :

> प्रदेशवृत्यापि महान्तमर्थं प्रदर्शयन्ती रसमादधाना।
> सा भारवेः सत्पथदीपिकेव रम्या कृतिः कैरिवनोपजीव्या॥

अर्थात् विशद तथा महान अर्थों से बोझिल, रसबोझ से विह्वल, वलंबन की दीपिका भारवि की स्वाभाविक मनोहर छटा को यदि दूसरे उपजीव्य बनावें तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है?

प्रश्न २३—"निम्नलिखित कवियों की काव्य-कला पर संक्षिप्त लिखिए :

(क) भट्टि, (ख) कुमारदास।

(क) भट्टि—संस्कृत महाकाव्य के इतिहास में विद्वानों ने भारवि के का ही स्मरण किया है। संस्कृत साहित्य के अन्य कवियों, नाटककारों

समान इनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध में भी कोई निश्चित प्रमाण उपलब्ध नहीं हुए हैं, किन्तु फिर भी ऐसा विश्वास किया जाता है कि ये गुजराती या श्रीमाली ब्राह्मण थे और इनका समय छठी शताब्दी के उत्तरार्ध तथा सातवीं शताब्दी का आरम्भ है।

महाकवि भट्टि की कीर्ति का मूल आधार भट्टि-काव्य या रावण-वध है। २२ सर्गों में निबद्ध इस महाकाव्य में रामचन्द्र के जन्म से लेकर राज्याभिषेक तक की गाथा है। लेकिन काव्यानुशीलन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कवि का लक्ष्य काव्य के इतिवृत्त पर विशेष ध्यान देना नहीं है, अपितु उसने तो व्याकरण के जटिल नियमों के उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए ही कथानक का आश्रय ग्रहण किया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ एक शास्त्र-काव्य हो गया है और व्याकरण-ज्ञाताओं के लिए जहाँ यह दीपतुल्य हो गया है वहाँ व्याकरण न जानने वालों के लिए उसी प्रकार है जैसे अन्धे के आगे दर्पण। कहा भी है—

दीपतुल्यः प्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम्।
हस्तादर्श इवान्धानां भवेद् व्याकरणादृते॥

(भट्टिकाव्य २२।२३)

लेकिन इतना सब कुछ होते हुए भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि भट्टि के पास कवि-हृदय का अभाव नहीं है। जब भी वे व्याकरण की तंग गली से निकल कर बाहर आते हैं, तभी वे सुन्दर कवित्व की झलक दिखा जाते हैं, उदाहरण के लिए निम्न चित्र को देखा जा सकता है—

विवृत्तपार्श्वं रुचिरांगहारं समुद्वहच्चारुनितम्बरम्यम्।
आमन्द्रमन्थध्वनिदत्ततालं गोपांगनानृत्यमनन्दयत्तम्॥

(भट्टिकाव्य २।१६)

वस्तुतः भट्टि के यहाँ भाव-पक्ष की अपेक्षा कला-पक्ष की ही प्रबलता है। भाषा-शैली, छन्द और अलंकार का सुन्दर संगुम्फन उनके काव्य में सर्वत्र देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए प्रसादपूर्ण एवं प्राञ्जल भाषा में लिखित एकावली अलंकार के निम्न स्थल को देखा जा सकता है—

न तज्जलं यन्न सुचारुपंकजं न पंकजं तद्यदलीनषट्पदम्।
न षट्पदोऽसौ न जुगुंज यः कलं न गुंजितं तन्न जहार यन्मनः॥

(भट्टिकाव्य २।१९)

अर्थात् इस सुहावनी शरद ऋतु में कोई ऐसा सरोवर नहीं है जिसमें कमल न खिले हों। ऐसा कोई कमल नहीं जिस पर भ्रमर न बैठे हों। ऐसा भौरा नहीं जो गूंज न रहा हो और ऐसी कोई गुञ्जार नहीं जो मन को न हरती हो।

कुमारदास—संस्कृत महाकाव्य परम्परा के एक प्रमुख कवि कुमारदास हैं। विद्वानों ने इनका रचना-काल ६५० ई० से ७५० ई० के मध्य में माना है। इन्होंने जानकीहरण नामक काव्य का प्रणयन किया है। इसमें चिरपरीचित रामकथा को मौलिक रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। जाता है कि कवि ने यह कार्य २५ सर्गों में सम्पन्न किया था किन्तु कराल काल के परिणामस्वरूप आज केवल १५ सर्ग ही प्राप्य हैं।

काव्यानुशीलन से ज्ञात होता है कि कवि में अद्भुत् प्रतिभा थी, शब्दों का अक्षय भंडार था और उसके पास छंदों में नाद-सौन्दर्य व्युत्पन्न करने की क्षमता थी। और वस्तुतः इन्हीं कारणों से राजशेखर आदि परवर्ती कवियों ने प्रशंसा इन शब्दों में की है—

जानकीहरणं कर्तुं रघुवंशे स्थिते सति।
कविः कुमारदासश्च रावणश्च यदि क्षमौ ॥

(सूक्ति मुक्तावली

अर्थात् रघुवंश के मौजूद रहते जानकी-हरण करने की क्षमता या तो रावण में थी या कुमारदास में।

प्रश्न २४—माघ का जीवन-परिचय देते हुए उनके महाकाव्य 'शिशुपालवध' की कथा अपने शब्दों में लिखिए।

माघ—संस्कृत साहित्य के अन्य अनेक कवियों के समान माघ का जीवन भी अन्धकारमय है। कतिपय विद्वानों का तो यह विचार है कि माघ वास्तविक नाम नहीं था अपितु यह तो उसका उपनाम था। इस मान्यता का आधार यह है कि जिस प्रकार भारवि ने अपनी काव्य-प्रतिभा की तेजस्विता व्यक्त करने के लिए अपना नाम भारवि अर्थात् भासमान सूर्य रखा उसी प्रकार शिशुपाल-वध के प्रणेता ने अपनी काव्य-क्षमता से उस भासमान सूर्य की कान्ति को हीन कर देने वाले के रूप में अपना नाम माघ रखा। इसका कारण यह

माघ के महीने में इतनी ठण्ड होती है कि सूर्य की प्रखर किरणें भी अपेक्षाकृत शीतल हो जाती हैं। इस मान्यता के पीछे संस्कृत साहित्य में प्रचलित यह सूक्ति है, "तावद्भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः।" अर्थात् भारवि की प्रभा उसी समय तक अच्छी लगती है जिस समय तक माघ का उदय नहीं हो जाता। लेकिन इतना होते हुए भी माघ कवि का वास्तविक नाम ही माना जाता है, उपनाम नहीं। इसका कारण यह है कि इनका उपनाम 'घण्टा माघ' था।

माघ का जन्म एक धनी और प्रतिष्ठित ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके पिता का नाम दत्तक था तथा वह बड़े विद्वान् और दानी प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। इस प्रकार माघ को पाण्डित्य और उदार वृत्ति पैतृक दाय के रूप में प्राप्त हुई थी। इनके दादा सुप्रभ देव थे और गुजरात प्रदेश के किसी नरेश के सभापण्डित थे। उस राजा का नाम वर्मलात था। वर्मलात के शासनकाल से सम्बद्ध जो शिलालेख प्राप्त हुए हैं उनमें से एक शिलालेख ६२५ ई० का है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि उनके पौत्र का रचनाकाल ७वीं शताब्दी का उत्तरार्ध रहा होगा। नानाविध अन्तरंग तथा बहिरंग प्रमाणों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है।

संस्कृत-साहित्य में महाकवि माघ की ख्याति शिशुपाल-वध के प्रणेता के रूप में है। २० सर्गों में निबद्ध इस महाकाव्य की कथावस्तु का मूलाधार महाभारत है। यह बात दूसरी है कि लेखक ने उसे अपनी सूझ-बूझ एवं कल्पना-शक्ति के द्वारा ऐसा रूप प्रदान कर दिया है कि पाठक का मन-मयूर नृत्य कर उठता है।

इस महाकाव्य का आरम्भ देवर्षि नारद के आगमन से होता है। नारद ऋषि का आदर-सत्कार करने के उपरान्त कृष्ण उनसे आने का कारण पूछते हैं। नारद ऋषि बतलाते हैं कि शिशुपाल के अत्याचारों के कारण इन्द्र बहुत भयभीत है तथा इन्द्र ने उन्हें कृष्ण के पास सहायता प्राप्त करने के लिए भेजा है। इस प्रकार से नारद मुनि कृष्ण के पास आकर इन्द्र की ओर से शिशुपाल के वध के लिए प्रेरणा देकर चले जाते हैं। तदुपरांत कृष्ण बलराम और उद्धव सलाह लेते हैं। मंत्रणा लेने का यह कार्यक्रम द्वितीय सर्ग से आरम्भ होता है। इसी समय युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का निमन्त्रण प्राप्त होता है। अब इस बात पर बहस

होती है कि पहले शिशुपाल का वध किए जाए अथवा युधिष्ठिर के राजसूय में सम्मिलित हुआ जाए। बलराम शिशुपाल के साथ युद्ध करने का प्रस्ताव करते हैं। लेकिन उद्धव राजसूय यज्ञ में सम्मिलित होने की सम्मति देते हैं। अन्त में यही निश्चय होता है कि युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में सम्मिलित होना चाहिए। तीसरे सर्ग में कृष्ण की सेना इन्द्रप्रस्थ के लिए प्रस्थान कर देती है। चतुर्थ सर्ग में रैवतक पर्वत की रमणीयता का उदात्त वर्णन किया गया है। पाँचवें सर्ग में सेना उस पर्वत पर पड़ाव डाल देती है। छठे सर्ग में षड् ऋतुओं का वर्णन है जो रैवतक पर्वत पर कृष्ण की सेवा के लिए अवतीर्ण हुई हैं। सातवें सर्ग में दम्पतियों के वन-विहार का वर्णन है। अष्टम सर्ग में जलक्रीड़ा का वर्णन किया गया हैं। नवम सर्ग का आरम्भ सूर्यास्त के वर्णन से होता है। तदुपरांत चन्द्रोदय का रोचक वर्णन आता है। इसी सर्ग में कहीं दम्पतियों तथा प्रणयी नायक-नायिकाओं के मिलाने के लिए दूतीकर्म का वर्णन किया गया है; तो कहीं उनकी केलि-क्रीड़ाओं के पूर्वरंग के रूप में आहार्य-प्रसाधन की शोभा का। दशम सर्ग में रमणियों के प्रियतम उनके साथ मद्यपान तथा सुरत-क्रीड़ा में रत हो जाते हैं। एकादश सर्ग में प्रातःकाल का मनोमुग्धकारी वर्णन है। यह सर्ग महाकवि के बेजोड़ सर्गों में से है जिसके समान वर्णन संस्कृत साहित्य के अन्य काव्यों में इसी पैमाने पर उपलब्ध होने बहुत कठिन हैं। बारहवें सर्ग में सेना के प्रस्थान करने का वर्णन है। तेरहवें सर्ग में इन्द्रप्रस्थ की पुरनारियों का चित्रण है जो कृष्ण को देखने के लिए अत्यन्त उत्सुक हैं। चौदहवें सर्ग में यज्ञ का वर्णन किया गया है। इसी सर्ग में कृष्ण की पूजा भी की जाती है। इस सर्ग के पूर्वार्ध के अध्ययन से कवि के दर्शन, मीमांसा तथा कर्मकाण्ड सम्बन्धी ज्ञान का परिचय प्राप्त होता है। पन्द्रहवें सर्ग में शिशुपाल कृष्ण की अग्रपूजा से रुष्ट होकर कृष्ण, भीष्म तथा युधिष्ठिर को बहुत खरी-खोटी सुनाता है। सोलहवें सर्ग में शिशुपाल का दूत द्वयर्थक संदेश लाता है। इस संदेश का आशय यह है कि या तो कृष्ण शिशुपाल की अधीनता स्वीकार कर लें नहीं तो युद्ध के लिए तैयार हो जाएँ। दूत के संदेश का उत्तर सात्यकि देते हैं। सत्रहवें तथा अठारहवें सर्ग में दोनों पक्षों की सेनाओं की युद्ध सम्बन्धी तैयारी का वर्णन है। उन्नीसवें तथा बीसवें सर्ग में युद्ध का वर्णन है। बीसवें सर्ग में ही कृष्ण सुदर्शनचक्र से शिशुपाल की गर्दन काट देते हैं और इस प्रकार यह महाकाव्य समाप्त हो जाता है।

प्रश्न २५—महाकवि माघ के काव्य-कौशल पर एक विवेचनात्मक निवन्ध लिखिए।

संस्कृत साहित्य के इतिहास में महाकवि माघ का नाम अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'शिशुपाल वध' की गणना वृहत्त्रयी में की जाती है। काव्य-कौशल की दृष्टि से भी उनका काव्य अत्यन्त रमणीय बन पड़ा है। इस सम्बन्ध में एक आलोचक ने लिखा है —

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

इस अवतरण में कालिदास को उपमाओं का, भारवि को अर्थगौरव का और दण्डी को पदलालित्य का आचार्य वतलाया गया है। अन्ततः माघ को इन तीनों ही गुणों का आचार्य वतलाया गया है।

माघ की समस्त ख्याति उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ शिशुपाल-वध पर अवलम्वित है। २० सर्गों में निवद्ध इस महाकाव्य में भगवान् कृष्ण का चरित् वर्णित है। यद्यपि 'शिशुपालवध' एक प्रवन्ध-काव्य है किन्तु माघ इतिवृत्त के निर्वाह में सफल नहीं हो सके हैं। शिशुपाल-वध की मूल कथा पहले, दूसरे, चौदहवें तथा बीसवें सर्ग में ही पाई जाती है। इन सर्गों में भी अप्रासंगिक वर्णनों की कमी नहीं है किन्तु चतुर्थ सर्ग से त्रयोदश सर्ग तक का विस्तृत वर्णन सम्पूर्ण कथा में अपना मेल नहीं बिठा पाता। इस सम्वन्ध में डा० भोलाशंकर व्यास का यह कथन विशेषरूपेण ध्यातव्य है, "शिशुपाल-वध के वीर-रसपूर्ण इतिवृत्त में अप्रासंगिक शृंगार-लीलाओं का पूरे छः सर्ग में विस्तार से वर्णन ऐसा लगता है जैसे किसी पुरानी सूती रजाई के वीचों-वीच बड़ी-सी रेशम की बढ़िया थिकली लगा दी हैं। × × × थिकली ने रजाई की सुन्दरता तो बढ़ा दी है, पर स्वयं की सुन्दरता कम कर दी है।"

रस-व्यंजना की दृष्टि से माघ के काव्य का अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि उसका अंगी रस वीर है तथा शृंगार रस सहकारी वनकर आया है। लेकिन शृंगार रस ने वीर रस को इतना दवोच लिया है कि चतुर्थ सर्ग से त्रयोदश सर्ग तक के अनुशीलन के समय पाठक यही समझने लगता है कि काव्य का अंगी रस शृंगार है। कहने का अभिप्राय यह है कि काव्य के अंगी रस—वीर रस—की चर्वणा में शृंगार रस वहुत सीमा तक बाधक सिद्ध हुआ है। लेकिन इसका

यह अभिप्राय नहीं है कि माघ वीर रस की अभिव्यंजना में असफल रहे हैं। वस्तुतः माघ वीर तथा शृंगार दोनों ही रसों के सफल चितेरे हैं। वीर रस की दृष्टि से शिशुपाल-वध का १८वाँ सर्ग विशेषरूपेण द्रष्टव्य है। सेनाओं के चलने, तलवारों के चमकने, हाथियों के चिंघाड़ने तथा योद्धाओं के द्वन्द्व-युद्ध में पिल पड़ने के सजीव चित्र इस सर्ग में देखने को मिलते हैं। इस सर्ग के अतिरिक्त अन्य स्थलों पर भी वीर रस के अनेक प्रभावोत्पादक स्थल हैं। लेकिन माघ का मन वीर रस की व्यंजना में उतना नहीं रमा जितना शृंगार रस की व्यंजना में। माघ ने शृंगार वर्णन के अनेक सरस चित्र प्रस्तुत किए हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित अवतरण को लिया जा सकता है—

उपरिजतरुजानि याचमानां कुशलतया परिरम्भलोलुपोऽन्यः।
प्रथितपृथुपयोधरां गृहाण स्वयमिति मुग्धवधूमुदासदोर्भ्याम्॥

(शिशुपालवधम् ७[illegible])

इसी अवतरण में कोई मुग्धा नायिका किसी ऊँचे वृक्ष पर खिले हुए पुष्पों की मांग कर रही है। नायक भी उसका आलिंगन करना चाहता है। बस फिर क्या है, उसे एक बहाना मिल जाता है। वह पुष्ट कुचों से युक्त नायिका को अपने दोनों हाथों में उठाकर कहता है, 'अच्छा तुम्हीं तोड़ लो।'

इसी प्रकार से ग्यारहवें सर्ग का तेरहवां श्लोक भी कवि की शृंगारिक प्रवृत्ति का बोध कराने में पर्याप्त समर्थ है। प्रातःकाल हो गया है। रात्रि-केलि के कारण थककर सुख की नींद सोये हुए दम्पतियों में नायिकाएँ पहले जग गई हैं, लेकिन फिर भी वे अपने शरीर को इसलिए नहीं हिलाती-डुलातीं कि कहीं उनके हाथों के हटा लेने से उनके प्रिय की निद्रा भंग न हो जाए। शायद वे स्वयं भी आश्लेषजनित सुख का भंग नहीं चाहतीं—

चिररतिपरिखेदप्राप्तनिद्रासुखानां चरममपि शयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धाः।
अपरिचलितगात्राः कुर्वते न प्रियाणामशिथिलभुजचक्राश्लेषभेदं तरुण्यः॥

(शिशुपाल वध ११।[illegible])

माघ के शृंगार-वर्णन का मूल्यांकन करने पर जिस महत्त्वपूर्ण तथ्य की उपलब्धि होती है वह यह है कि उनका शृंगार-वर्णन क्षण भर के लिए उत्तेजना भले ही उत्पन्न कर दे किन्तु वह शाश्वत प्रभाव डालने में समर्थ नहीं है। अनेक स्थलों पर वे आवश्यकता से अधिक वाच्य प्रणाली का आश्रय लेते हैं जिसके फलस्वरूप

उनके वर्णन अश्लीलता का रूप धारण कर लेते हैं।

प्रकृति-पर्यवेक्षण-शक्ति की दृष्टि से भी माघ का काव्य अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। उन्होंने प्रकृति का चित्रण तीन रूपों—आलंबन, उद्दीपन, अलंकरण—में ही किया है। प्रकृति का आलंबनात्मक रूप में चित्रण अन्य दोनों रूपों की अपेक्षा कम मात्रा में हुआ है, किन्तु फिर भी षष्ठ सर्ग में प्रकृति-वर्णन के अनेक सरस एवं स्वाभाविक अवतरण उपलब्ध होते हैं। वस्तुतः माघ के यहाँ तो प्रकृति के उद्दीपनात्मक और आलंकारिक चित्रों की ही प्रधानता है। नवम सर्ग का सूर्यास्त वर्णन तथा एकादश सर्ग का प्रभात-वर्णन अप्रस्तुत विधान से पूर्णतः बोझिल है।

सम्वाद-कला की दृष्टि से भी माघ की रचनाएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन पड़ी हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित अवतरण देखिए—

अमृतां गिरं न गदसीति जगति पटहैर्विघुष्यते।
निन्द्यमथ च हरिमर्चयतः तव कर्मणैव विकसत्यसत्यता॥

(शिशुपालवध १५।१६)

अर्थात् "डंके की चोट से संसार में घोषणा की जाती है कि तुम असत्य-भाषण नहीं करते, किन्तु इस निन्दनीय कृष्ण की पूजा कर तुम अपने असत्या-चरण का खुला विज्ञापन कर रहे हो।"

उपर्युक्त उद्धरण में शिशुपाल ने युधिष्ठिर के प्रति अपना क्रोध प्रदर्शित किया है जिसका कारण यह है कि उसने श्रीकृष्ण को सर्वप्रथम सम्मानित किया है। शिशुपाल के इस कथन में कटुता तथा ओजस्विता विशेषरूपेण दर्शनीय है।

माघ कलावादी कवि हैं। उनकी दृष्टि में श्रेष्ठ कवि वही है जो शब्द और अर्थ दोनों के सौन्दर्य पर ध्यान देता है। यही कारण है कि उनके काव्य का कला-पक्ष भी बहुत उच्चकोटि का बन पड़ा है। अलंकारों की रमणीयता, छन्दों की विवि-धता, शैली की गम्भीरता और उदात्तता आदि सभी दृष्टिकोणों से माघ एक श्रेष्ठ कवि प्रतीत होते हैं। माघ के यहाँ शब्दालंकार तथा अर्थालंकार दोनों के सफल प्रयोग देखने को मिलते हैं। अनुप्रास-योजना की दृष्टि से उनका पद-विन्यास

अत्यन्त सुन्दर है । इस सम्बन्ध में उनका निम्नलिखित उदाहरण तो विशेष रूप से प्रसिद्ध है—

मधुरया मधुबोधितमाधवीमधुसमृद्धिसमेधितमेधया ।
मधुकरांगनया मुहुरुन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे ॥
(शिशुपाल वध ६।२०)

उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति, सहोक्ति, तुल्ययोगिता, समासोक्ति, काव्यलिंग, विरोध आदि कुछ अन्य ऐसे अलंकार हैं जो भारवि को बहुत प्रिय हैं ।

छन्दों की दृष्टि से भी भारवि के काव्य में विविधता के दर्शन होते हैं। इस दृष्टि से तो माघ, भारवि और कालिदास से भी अधिक कलावादी हैं। कालिदास के प्रिय छन्दों की संख्या जहाँ ६ तथा भारवि के प्रिय छन्दों की संख्या १२ वहाँ माघ के प्रिय छन्द १६ हैं। 'शिशुपाल वध' के चतुर्थ सर्ग में तो माघ ने अनेक छन्दों का प्रयोग किया है ।

शैली की दृष्टि से भी माघ संस्कृत के कवियों में अपना सानी नहीं रखते। उनका सम्पूर्ण काव्य प्रौढ़ तथा उदात्त शैली से आपूर्ण है । उनके काव्य का कोई सर्ग ऐसा नहीं है जिससे शैली की असाधारणता न झलकती हो । उनके काव्य की शैली गौड़ी है किन्तु गौड़ी की विकटवन्धता होते हुए भी उसमें एक ऐसा आकर्षण है जो कालिदास की सरल, स्वाभाविक और कोमल शैली से टक्कर लेने में पूर्णतः समर्थ है । यह बात दूसरी है कि जहाँ कालिदास की शैली मालव की समतल भूमियों की याद दिलाती है वहाँ माघ की शैली अमरावती पर्वतमाला की याद दिलाती है ।

माघ के काव्य का अनुशीलन करने के उपरान्त यह सहजरूपेण कहा जा सकता है कि उनकी कविता पर कालिदास, भारवि तथा भट्टि का पर्याप्त प्रभाव है । कालिदास की वर्णन-शैली का तो माघ की काव्य-शैली पर बहुत प्रभाव पड़ा है । शिशुपाल-वध के एकादश तथा त्रयोदश सर्ग पर निश्चित रूप से कालिदास की वर्णन-शैली का प्रभाव है। इसी प्रकार से शिशुपाल-वध के कथानक को किरातार्जुनीय के कथानक का प्रतिरूप माना जा सकता है। यदि अन्तर है तो केवल इतना कि यदि भारवि ने शिव-भक्त होने के कारण महाभारत से शिव

सम्बन्धी कथानक का चयन किया है, तो माघ ने विष्णु-भक्त होने के कारण कृष्ण-सम्बन्धी कथानक का चयन किया है। कथावस्तु की सजावट, सर्गों के विभाजन तथा प्रतिपाद्य विषय की प्रस्थापना में माघ भारवि का अनुसरण करते हुए दिखाई देते हैं। माघ का काव्य भारवि के काव्य के समान 'श्री' शब्द से आरम्भ होता है। इसी प्रकार से जहाँ भारवि के काव्य का प्रत्येक सर्ग लक्ष्मी शब्द से समाप्त होता है वहाँ माघ के प्रत्येक सर्ग के अन्त में श्री शब्द का प्रयोग दृष्टिगत होता है। इसी प्रकार के अन्य अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। भारवि के अतिरिक्त माघ भट्टि के भी ऋणी हैं। माघ पर भट्टि का प्रभाव व्याकरण के क्षेत्र में पड़ा है। माघ को सामान्यभूते लुङ्, यङ्लुङन्त क्रिया-पद एवं पाणिनिसम्मत प्रयोगों के प्रति जो मोह है वह निश्चित रूप से भट्टि के प्रभाव के कारण ही है। अन्त में हम डॉ० भोलाशंकर व्यास के स्वर में स्वर मिलाकर कह सकते हैं कि "महाकवि कालिदास से भावतरलता, भारवि से कला-प्रवीणता तथा भट्टि से व्याकरण का पाण्डित्य तीनों का विचित्र समन्वय लेकर माघ की कविता उपस्थित होती है। माघ भारवि से भी अधिक कलावाज हैं, तथा भट्टि से किसी कदर कम पण्डित (वैयाकरण) नहीं, किन्तु जितने वे कलावाज और पंडित हैं, ठीक उसी अनुपात में कालिदास की भावतरलता से रहित हैं। भारवि और भट्टि से निःसन्देह माघ में भाव-पक्ष का पलड़ा भारी है, पर कालिदास के आगे माघ का हृदय-पक्ष नीचा दिखाई देता है। फिर भी भारवि, माघ तथा श्रीहर्ष में माघ का स्थान निश्चित है। माघ ने भारवि की कला को और अधिक अलंकृत तथा प्रौढ़ रूप में रखा है। श्रीहर्ष जैसी कोरी दूर की कौड़ी माघ में कम मिलती है। श्रीहर्ष में पदलालित्य की कमी नहीं, वैसे माघ का पदलालित्य वैदर्भी या पांचाली रीति वाला पदलालित्य न होकर प्रायः गौड़ी वाले विकटबन्ध या गाढ़बन्ध का पदलालित्य है।"

प्रश्न २६—'माघे सन्ति त्रयो गुणाः' विषय पर एक आलोचनात्मक लेख लिखिए।

माघ की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए एक आलोचक ने लिखा है—'माघे सन्ति त्रयो गुणाः'। इस पद्यांश में उपमा, अर्थगौरव और पदलालित्य इन तीनों गुणों की ओर संकेत किया गया है। सम्पूर्ण पद्य में कालिदास को उपमाओं

का भारवि को अर्थगौरव का और दण्डी को पदलालित्य का आचार्य बता गया है। अन्ततः माघ को इन तीनों गुणों का आचार्य बताया गया है।

वस्तुतः ये तीनों ही गुण माघ में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं। उ अर्थ-गौरव और पद-लालित्य में से किसी एक का अभाव उसकी रचनाओं नहीं है और अब हम आगामी पंक्तियों में इसी तथ्य की स्थापना करेंगे।

उपमा—माघ की उपमाएँ निस्सन्देह सुन्दर और मनोहर हैं। वे कालिदा उपमाओं से टक्कर लेने में पूर्णतः समर्थ हैं। माघ ने अपनी उपमाओं के चयन में प्र से यथेष्ट सहायता ग्रहण की है, उदाहरण के लिए निम्न चित्र देखा जा सकता

स्फुरदधीरतडिन्नयना मुहुः प्रियमिवागलितोरुपयोधरा।
जलधरावलिरप्रतिपालितस्वसमया समयाज्जगतीधरम्॥

अर्थात् 'चमकती हुई चंचल बिजली वाली, सघन बादलों से भरी, मेघ अपने उचित समय पर रैवतक पर्वत पर ठीक उसी तरह उपस्थित हुई जैसे चं नेत्रों वाली, पुष्टयौवनवती नायिका, अपने संकेतित समय पर प्रिय को प्र की अधीरता में न डालती हुई, उसके पास अभिसरणार्थ उपस्थित होती है। इसी प्रकार से कवि का अन्यत्र कथन है—

निरकासयद्रविमपेतवसुं वियदालयादपरदिग्गणिका।

अर्थात् पश्चिम दिशा अस्त होते हुए निस्तेज सूर्य को उसी तरह घर से नि देती है जैसे गणिका धनरहित व्यक्ति को।

अर्थ-गौरव—अर्थगौरव की दृष्टि से भी माघ भारवि से पीछे नहीं हैं। क उन्होंने अपना शिशुपालवध भारवि की कीर्ति को क्षीण करने के लिए ही था। फलतः माघ की कविता में भी उन समस्त विशेषताओं का समाहार हो है जो भारवि की कविताओं में देखने को मिलती हैं। उदाहरण के लिए भा के काव्य की तरह ही माघ का काव्य भी श्री शब्द से आरम्भ होता है—

भारवि—श्रियः कुरूणामधिपस्य पालिनीं प्रजासु वृत्तिं यमयुङ्क्त वेदितुम्।
स वर्णिलिंगी विदितः समाययौ, युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः॥
—किरा०

माघ—श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगज्जगन्निवासो वसुदेवसद्मनि।
वसन्ददर्शावतरन्तमम्बराद्धिरण्यगर्भाङ्गभुवं मुनिं हरिः॥
—शिशु०

इसी प्रकार से यदि भारवि के काव्य का प्रत्येक सर्ग लक्ष्मी शब्द से समाप्त होता है तो माघ के प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद्य में 'श्री' शब्द का प्रयोग मिलता है। इतना ही नहीं यदि भारवि एक, दो, तीन या चार अक्षरों की सहायता से सम्पूर्ण पद के प्रणयन में कुशल हैं, तो माघ भी उनसे कम नहीं। दोनों के एक-एक चित्र देखिए, स्वतः ही स्पष्ट हो जायेगा—

भारवी—स सासिः सासुसूः सासो येयायेयाययायय:।
ललौ लीलां ललोऽलोल: शशीशशिशुशीः शशन् ॥
(किरातार्जुनीयम् १५।५)

माघ—राजराजी रुरोजाजे राजिरेऽजोऽजरोऽरजा।
रेजारिजूजोर्जार्जी रराजर्जुर जर्जुर: ॥

भारवि के समान ही इन्होंने राजनीति और व्यवहार-कुशलता में भी दक्षता दिखलाई है।

पद-लालित्य—इस दिशा में भी माघ दण्डी के समकक्ष ही ठहरते हैं। संस्कृत कवियों में तो इनका पद-विन्यास और शैली अपना सानी नहीं रखती। समासांत पद-विन्यास इनकी शैली को गम्भीरता और उदारता प्रदान करता है। यद्यपि इनके पद-विन्यास में गौड़ी की विकटवन्वता है, किन्तु फिर भी उसमें एक आकर्षण है। इसी आकर्षण के कारण अनेक परवर्ती कवियों यथा—रत्नाकर, हरिश्चन्द्र आदि ने इनकी शैली का अनुसरण किया है। इन कवियों के अतिरिक्त नेमिचरित्, चन्द्रप्रभा चरित् जैसे अनेक जैन कवियों पर भी इनका प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट है कि महाकवि माघ उपमा, अर्थ-गौरव और पद-लालित्य तीनों ही क्षेत्रों में कुशल हैं, किन्तु इतना होने पर भी प्रायः सभी विद्वानों का यही विचार है कि प्रस्तुत उक्ति—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यम् माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥

इनके किसी पक्षपाती द्वारा लिखी गई है। इसका कारण यह है कि माघ के यहाँ उपरिकथित सभी गुण पर्याप्त मात्रा में होते हुए भी ऐसी अवस्था में नहीं हैं कि वे पृथक् रूप में किसी भी एक अर्थात् कालिदास, भारवि और दण्डी के सम-

कक्ष ठहर सकें। उनकी उपमाएँ कठिन, गूढ़, अपूर्ण और लिंगादि में विप
उनमें कालिदास की उपमाओं की सी सरलता, रमणीयता, आकर्षकता
स्वाभाविकता नहीं है। इतना ही नहीं इनकी अधिकांश उपमाओं में न
छाप है न वे काव्य-गुण के उत्कर्ष को बढ़ाकर कथा को सुन्दर ही बना
इसी प्रकार से अर्थ-गौरव और पद-लालित्य के क्षेत्र में भी इन्हें वह
प्राप्त नहीं है जो भारवि और दण्डी को। भारवि जहाँ अल्प शब्दों में
अर्थ का समावेश करते हैं, वहाँ वे चरित्र-चित्रण, भव्य कल्पना और
आदि गुणों का भी पूर्ण ध्यान रखते हैं। किन्तु माघ के यहाँ ऐसी बात
नहीं मिलती। फलतः इनका काव्य अनेक स्थलों पर सुरुचि-विरुद्ध हो
पद-लालित्य के क्षेत्र में भी माघ कुशल नहीं कहे जा सकते। इनके पद
समासबहुल, विकट वर्णों से भरे हुए और ओजगुणमय हैं। चित्रालंकारों
कौशल दिखलाया गया है जिससे काव्य में दुरूहता आ गई है और उसका
मन्द हो गया है।

अन्ततः कहा जा सकता है कि 'माघे सन्ति त्रयो गुणा,' नाम्नी उक्ति
किसी पक्षपाती द्वारा लिखी गई प्रतीत होती है। उसमें पूर्ण सत्य नहीं।
गुणों के होते हुए भी पृथक्-पृथक् गुणों में वे कालिदास, भारवि और द
टक्कर लेने में असमर्थ हैं।

प्रश्न २७—निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :—

(क) रत्नाकर; (ख) कविराज।

रत्नाकर—संस्कृत-साहित्य में ये सर्वाधिक वृहत्काय महाकाव्य हर-वि
प्रणेता माने जाते हैं, किन्तु इसकी प्रसिद्धि अधिक नहीं हैं। इनका स्थिति
८५० ई० के आस-पास माना जाता है।

'हर-विजय' में अन्धक के ऊपर प्राप्त की हुई शिव की विजय का व
काव्य में आनुपातिक सम्बन्ध का अभाव है किन्तु शैव दर्शन, नीतिशास्त्र,
तथा इतिहास-पुराण का सम्यक् ज्ञान इस काव्य में खूब देखने को मिलता है
ही उसमें नाट्य, संगीत, अलंकार तथा चित्रकला जैसे विषयों पर
दृष्टिकोण से प्रकाश डाला गया है।

क्षेमेन्द्र और राजशेखर ने रत्नाकर की खूब प्रशंसा की है। राजशेखर का कथन है—

मा स्म सन्तु हि चत्वारः प्रायो रत्नाकरा इमे।
इतीव स कृतो धात्रा कवी रत्नाकरोऽपरः ॥

(सूक्ति मुक्तावलि ४।७७)

अर्थात् ब्रह्मा ने चार रत्नाकरों (समुद्रों) को पर्याप्त न समझकर इस पाँचवें रत्नाकर (कवि) की सृष्टि की।

कविराज—रत्नाकर के अनन्तर कविराज विरचित 'राघवपाण्डवीय' महाकाव्य का उल्लेख किया जाता है। कविराज के स्थितिकाल के सम्बन्ध में भी विभिन्न विद्वान् एकमत नहीं हैं। यथा चन्द्रशेखर पाण्डेय इनका रचनाकाल १२वीं शताब्दी मानते हैं तो प्रोफेसर मैक्डानल के मतानुसार इनका स्थितिकाल ८०० ई० के लगभग है।

'राघवपाण्डवीय' महाकाव्य में कृत्रिमता की पराकाष्ठा हो गई है। श्लेष अलंकार के आधार पर इसके प्रत्येक श्लोक के दो अर्थ निकलते हैं, एक राम-कथा से सम्बन्धित और दूसरा महाभारत से सम्बन्धित। उदाहरणस्वरूप एक पद को देखिए—

नृपेण कन्यां जनकेन दित्सितामयोनिजां लम्भयितुं स्वयंवरे।
द्विजप्रकर्षेण स धर्मनन्दनः सहानुजस्तां भुवमप्यनीयत ॥

रामायण के पक्ष में इसका अर्थ—(राम) जिन्होंने धर्म को आनन्दित किया था, अपने भाइयों के साथ ऋषि श्रेष्ठ (विश्वामित्र) द्वारा स्वयम्वर स्थान (मिथिला) को ले जाए गए, जिससे वे राजा जनक की विवाह-योग्य आयोनिजा कन्या (सीता) को प्राप्त कर सकें।

महाभारत के पक्ष में —धर्म के पुत्र (युधिष्ठिर) अपने भाइयों के साथ मुनिश्रेष्ठ (वेदव्यास) की आज्ञा से स्वयंवर स्थान (पांचाल) को गए जिससे वे राजपिता (द्रुपद) की विवाह-योग्य आयोनिजा कन्या (द्रौपदी) को प्राप्त कर सकें।

कविराज का अन्य अनेक कवियों ने भी अनुकरण किया यथा हरदत्तसूरि ने राघवनैषधीय में नल और राम की कथा तथा विद्यामाधव ने 'पार्वती-रुक्मणीय' में शिव-पार्वती तथा कृष्ण-रुक्मणी के विवाह का एक साथ वर्णन किया हैं। इसी प्रकार से वेंकटाध्वरि ने यादवराघवीय नामक ग्रन्थ में ऐसे श्लोकों का प्रणयन

किया है जो सीधे पढ़ने से राम की कथा तथा उल्टे पढ़ने से कृष्ण की कथा परिचय देते हैं।

प्रश्न २८—श्रीहर्ष का जीवन-परिचय देते हुए 'नैषधीयचरितम्' की लिखिए। श्रीहर्ष की काव्यकला पर भी प्रकाश डालिए।

संस्कृत साहित्य के इतिहास में श्रीहर्ष का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। सौभाग्य का विषय है कि श्रीहर्ष उन कवियों में से हैं जिनके सम्बन्ध में कवियों की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध है। इसका कारण है कि श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य 'नैषधीयचरितम्' के प्रत्येक सर्ग के अन्त में माता-पिता, राजाश्रय तथा रचनाओं के सम्बन्ध में कतिपय महत्त्वपूर्ण सूचनाएं हैं। इन सूचनाओं के आधार पर यह ज्ञात होता है कि इनके पिता का नाम श्री तथा माता का नाम मामल्लदेवी था। यह कन्नौज के महाराजा जयचन्द राठौर सभापण्डित थे। महाराज जयचन्द राठौर का राज्यकाल ११६९-९५ ई० जाता है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि श्रीहर्ष का रचनाकाल शताब्दी का उत्तरार्ध है।

महाराजा जयचंद राठौर के राज्य में श्रीहर्ष को बहुत अधिक सम्मानपूर्ण प्राप्त था। इसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि महाराजा इन्हें आसन तथा पान के दो बीड़े दिया करते थे। श्रीहर्ष एक विद्वान व्यक्ति तथा उन्हें अलंकारशास्त्र, व्याकरणशास्त्र तथा दर्शन-शास्त्र की विभिन्न शाखा का सम्यक् ज्ञान ही नहीं था अपितु अश्व-विद्या के क्षेत्र में भी उनकी जानकारी अत्यन्त बढ़ी-चढ़ी थी। काव्य के क्षेत्र में श्रीहर्ष की शक्ति अद्भुत थी। किंवदन्ती है कि स्वयं सरस्वती उनकी जिह्वा के आगे नृत्य करती थी।

श्रीहर्ष ने अपने जीवनकाल में अनेक ग्रन्थों की रचना की जिनमें से कुछ प्रमुख ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) खण्डनखण्डखाद्यम् (२) स्थैर्यविचारणप्रकरणम् (३) श्री विजयप्रशस्तिः (४) गौडोर्वीशकुलप्रशस्तिः (५) नवसाहसांकचरितचम्पूः (६) शिवशक्तिसिद्धिः (७) अर्णववर्णनम्, (८) नैषधीयचरितम् हैं। इनमें नैषधीयचरितम् महाकाव्य है।

नैषधीय चरित की कथा—महाकवि श्रीहर्ष विरचित 'नैषधीय चरित'

२२ सर्गों में निवद्ध एक वहुत वड़ा महाकाव्य है। इसमें लेखक ने महाभारत में वर्णित नल-सम्बन्धी आख्यान के एक बहुत छोटे से अंश को ग्रहण किया है। नल तथा दमयन्ती के पारस्परिक प्रेम, उनके विवाह तथा विवाहोपरांत क्रीड़ाओं आदि के वर्णन द्वारा ही काव्य को समाप्त कर दिया गया है। इस महाकाव्य का आरंभ नल के वन-विहार से होता है। वन-विहार में राजा नल एक हंस को पकड़ लेते हैं लेकिन उसकी दयनीय अवस्था से द्रवीभूत होकर उसे छोड़ देते हैं। वह हंस अपना ऋण चुकाने के लिए दमयन्ती के पास जाता है तथा राजा नल के रूप-सौंदर्य और गुणों का उल्लेख करता है। दमयन्ती राजा नल के गुणों को सुनकर उससे प्रेम करने लगती है। उधर दमयन्ती के पिता भीम, दमयन्ती के विवाह के लिए स्वयंवर की आयोजना करते हैं। दमयन्ती के अलौकिक रूप-सौन्दर्य के कारण इन्द्र, वरुण, अग्नि और यम भी उसकी ओर आकर्षित होते हैं। वे नल को तिरस्कारिणी विद्या देकर अपने दूत के रूप में दमयन्ती के पास प्रेषित करते हैं। नल अपने कर्त्तव्य का पालन पूर्ण कौशल के साथ करते हैं। लेकिन दमयन्ती का नल-सम्वन्धी प्रेम तनिक भी नहीं डिगता।

स्वयंवर के अवसर पर चारों देवता नल का रूप धारण करके आते हैं। सरस्वती स्वयं द्वयर्थक वाक्यों से सबका परिचय कराती है। अब दमयन्ती पाँच नलों को देखकर तथा द्वयर्थक वाक्यों को सुनकर बड़े असमंजस में पड़ जाती है। अन्ततः वह देवताओं की वन्दना करती है जिससे प्रसन्न होकर देवता अपने विशिष्ट चिह्न प्रदर्शित कर देते हैं तथा दमयन्ती वास्तविक नल का वरण कर लेती है। अब देवता स्वर्ग को लौट जाते हैं। स्वर्ग को जाते समय वे मार्ग में कलियुग को देखते हैं। कलि नास्तिकवाद की प्रस्थापना करता है जिसके फलस्वरूप देवताओं का कलि से घोर वाग्युद्ध होता है। इस वाग्युद्ध में देवता कलि को पराजित करते हैं। उधर राजा नल भी दमयन्ती सहित अपनी राजधानी पहुँच जाते हैं तथा प्रथम मिलन-रात्रि के आनन्द का उपभोग करते हैं। यह समस्त वर्णन १८ सर्गों में समाप्त होता है। शेष चार सर्गों में राजा नल और रानी दमयन्ती की दैनिक चर्या का वर्णन है। ये चार सर्ग देवस्तुति, सूर्योदय तथा विलासमय चाटूक्तियों से आपूर्ण हैं।

'नैषधीयचरित' के इस छोटे-से कथानक को देखकर अनेक विद्वानों का विचार है कि यह ग्रंथ पूरा उपलब्ध नहीं हैं। मूल ग्रंथ में सर्गों की संख्या १०० के आस-पास

रही होगी। लेकिन इस मत को न तो स्वीकार ही किया जा सकता है और अस्वीकार ही। इसका कारण यह है कि जहाँ इस महाकाव्य के अन्त में 'श्री नस्तुष्टये' तथा अन्य चार श्लोक ग्रन्थ की परिसमाप्ति की सूचना देते हैं वहाँ श्लोकों पर किसी ने टीका नहीं की है जिसके फलस्वरूप इन श्लोकों को नि रूप से मौलिक भी नहीं माना जा सकता।

श्री हर्ष की काव्यकला—नैषधीयचरित भावपक्ष और कलापक्ष दोनों दृष्टियों से एक सुन्दर ग्रन्थ वन पड़ा है। रस-व्यंजना, प्रकृति-चित्रण और दार्श चिंतन तीनों ही क्षेत्रों में कवि ने अद्‌भुत कौशल दिखलाया है। रस-व्यंजन क्षेत्र में कवि को शृंगार रस बहुत अधिक प्रिय है, यद्यपि वीर, शांत, हास्य आदि का अभाव भी उसके काव्य में नहीं है। शृंगार रस की व्यञ्जना में कवि की सहृदयता का परिचय निम्न चित्र से प्राप्त होता है कवि ने दमयन्ती के अलौकिक सौन्दर्य का चित्र खींचा है—

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम् ॥
(नैषधीय चरितम् २।

अर्थात्—जान पड़ता है, दमयन्ती के मुख की रचना करने के लिए ब्रह्म चन्द्रमा को निचोड़ कर उसका सार भाग खींच लिया है। इसी कारण बीच छिद्र हो जाने से उसके उस पार आकाश की नीलिमा दिखाई पड़ती है।

शब्द-योजना, अलंकारों के प्रयोग एवं छन्द-कौशल की दृष्टि से नैष अति सुन्दर ग्रन्थ वन पड़ा है। अलंकारों के क्षेत्र में तो कवि ने कहीं-कहीं कौशल दिखलाया है कि काव्य अत्यंत क्लिष्ट हो गया है। लेकिन इस काव्य को क्लिष्ट करना तो श्रीहर्ष का प्रयोजन ही था। उन्होंने लिखा है—

ग्रन्थग्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया
प्राज्ञ मन्यमनाहठेन पठितिमास्मिन्खलः खेलतु ॥
श्रद्धाराद्धगुरुश्लथीकृतदृढग्रन्थिः समासादय—
त्वेतकाव्यरसोर्मिमज्जनसुखव्यासज्जनं सज्जनः ॥
(नैषधीय चरितम् २२।१५

अर्थात् पण्डित होने का दर्प करने वाला दुःशील मनुष्य इस काव्य के

को हठपूर्वक जानने का चापल्य न कर सके, इसलिए मैंने जान-बूझकर कहीं-कहीं इस ग्रन्थ में ग्रन्थियाँ लगा दी हैं। जो सज्जन श्रद्धाभक्तिपूर्वक गुरु को प्रसन्न करके इन गूढ़ ग्रन्थियों को सुलझा लेंगे, वे ही इस काव्य के रस की लहरों में हिलोरें ले सकेंगे।

अनेक गुणों से पूर्ण श्रीहर्ष विरचित नैषध में दोषों का अभाव हो ऐसी बात नहीं है क्योंकि किंवदन्ती है कि 'काव्य-प्रकाश' के कर्त्ता मम्मट ने नैषध की यह आलोचना की थी कि काव्य-प्रकाश के सप्तम (दोष) उल्लास को लिखने से पहले यदि यह ग्रन्थ मुझे मिल गया होता तो काव्य के उदाहरण ढूंढ़ने में मुझे इतना प्रयास न करना पड़ता क्योंकि काव्य के सारे दोषों के उदाहरण मुझे इसी में एकत्र मिल गए होते। किन्तु इतना सब कुछ होने पर भी संस्कृत महाकाव्यों के इतिहास में श्रीहर्ष का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

नैषध के उपरान्त संस्कृत साहित्य में किसी उल्लेखनीय महाकाव्य के दर्शन नहीं होते। इसके बाद तो संस्कृत के काव्य-साहित्य में गीति, शतक, स्तोत्र और संग्रह आदि ग्रन्थों की ही प्रधानता रही।

०

६ ऐतिहासिक काव्य

प्रश्न २९—ह्विटने-कृत संस्कृत ग्रामर की भूमिका में लिखे गये इस कथन की कि 'भारतीय साहित्य के इतिहास में दी हुई सारी की सारी तिथियाँ कागज में लगाई गई उन पिनों के समान हैं जो फिर से निकाल ली जाती हैं।" विवेचन कीजिए और यह स्पष्ट कीजिए कि इस प्रकार के कथनों का प्रादुर्भाव क्यों हुआ ?

संस्कृत साहित्य ने अन्य क्षेत्रों में जहाँ कमाल कर दिखाया है वहाँ इतिहास विषयक क्षेत्र में इसमें बहुत ही कम सामग्री पाई जाती है। इतिहास विषयक ग्रंथ संख्या में ही कम हों केवल यही बात नहीं है अपितु कभी-कभी उनमें कल्पना का योग भी प्रचुर मात्रा में परिलक्षित होता है। इसके साथ ही विभिन्न कवियों और नाटककारों के जीवनकाल के निर्धारण में भी विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। यह तथ्य केवल अप्रसिद्ध अथवा अल्प प्रसिद्ध साहित्यकारों के संबंध में ही सत्य नहीं है अपितु भास, कालिदास, प्रभृति प्रसिद्ध लेखकों के रचना-काल के संबंध में भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है। यह मतभेद भी केवल दस-पाँच वर्षों का ही हो ऐसी बात भी नहीं है। संस्कृत साहित्य के इतिहास में तो यह मतभेद पाँच-पाँच, छः-छः शताब्दियों तक का पाया जाता है और संभवतः इसीलिए ह्विटने को कहना पड़ा, "भारतीय साहित्य के इतिहास में दी हुई सारी की सारी तिथियाँ कागज में लगाई हुई उन पिनों के समान हैं जो फिर से निकाल ली जाती हैं।"

संस्कृत साहित्य में ऐतिहासिक तत्त्वों के अभाव का कारण क्या है इस सम्बन्ध में सन्तोषजनक उत्तर देना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। संस्कृत में ऐतिहासिक तत्त्व के अभाव के सम्बन्ध में प्रो० हंसराज अग्रवाल ने निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए हैं—

१. इतिहास शब्द का जो अर्थ पश्चिम में लिया जाता है भारतीय लोग उस अर्थ को नहीं लेते थे। आर्य लोगों का ध्यान भारतीय संस्कृति और सभ्यता की रक्षा की ओर लगा हुआ था। संस्कृति और सभ्यता की उन्नति में सहायता करने वाले को छोड़कर किसी अन्य राजा, महापुरुष या अपना इतिहास लिखने में आर्य लोगों की अभिरुचि नहीं थी। भारतीयों के बौद्धिक और आध्यात्मिक जीवन के विकास की एक-एक मंजिल का जैसा सूक्ष्म उल्लेख संस्कृत साहित्य में मिलता है वैसा विश्व के किसी अन्य साहित्य में नहीं। इस युक्ति के आधार पर हम कह सकते हैं कि भारतीयों में ऐतिहासिक बुद्धि का अभाव नहीं था अपितु वे इतिहास का अर्थ ही और लेते थे।

२. भारतीय मनोविज्ञान और परिस्थितियों की विशेषताएँ, कर्म का और भाग्य का सिद्धान्त, मंत्र-यंत्र में तथा जादू में विश्वास, वैज्ञानिक मनोवृत्ति का अभाव ऐसी बातें हैं जो एक बड़ी सीमा तक इतिहास के अभाव के कारण हैं। यहां तक कि जैनियों और बौद्धों में भी ऐसा ही विश्वास था।

३. १२०० ई० तक भारत के राजनैतिक इतिहास में भी कोई सर्वप्रिय बनने वाली बात पैदा नहीं हुई।

४. भारतीयों में राष्ट्रीयता के भावों का न होना भी इसका एक बड़ा कारण है।

५. भारत के साधारण लोग पूर्ववर्ती या समकालीन राजाओं के इतिहास और प्रशस्ति-काव्यों में अभिरुचि नहीं रखते थे। यही कारण है कि अक्षय यश की कामना रखने वाले कवियों ने अपनी कृतियों के कथानक प्रायः समकालीन वीरों या राजाओं के जीवन से न चुनकर रामायण तथा महाभारत में से अधिक चुने। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि श्रीहर्ष कृत नैषधचरित पर (जिसका कथानक महाभारत के नलोपाख्यान में से लिया गया है) तो अनेकों टीकाएँ उपलब्ध हैं किन्तु नवसाहसांक चरित, जो ऐतिहासिक रचना है, विस्मृति के गर्भ में

जा पड़ा है।

६. भारतीय लोग विशेष की अपेक्षा साधारण को अधिक पसन्द करते हैं। यहाँ तक कि जब दो विरोधी पक्षों पर ऊहापोह किया जाता है तब भी व्याख्याकारों के जीवन के सम्बन्ध में अधिक बातें न कहकर केवल विवाद सम्बन्धी युक्तियाँ ही प्रस्तुत की जाती हैं। जब दर्शन के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की व्याख्या की जाती है तब भी ऐतिहासिक काल को गौण ही रखा जाता है।

७. पुराने साहित्य के अधिकांश ग्रंथ कुटुम्ब-ग्रन्थों, सम्प्रदाय-ग्रंथों या मठगुरु-ग्रंथों के रूप में उपलब्ध होते हैं जिनके प्रणेताओं के नामों का उल्लेख भी नहीं मिलता।

८. परवर्ती साहित्य में जब रचयिताओं के नाम मिलते हैं तो वे भी कुटुम्ब या गोत्र के रूप में मिलते हैं यथा किसी ग्रंथ का लेखक गुप्त प्रसिद्ध है तो किसी का शर्मा, किसी का राय तो किसी का चक्रवर्ती। अतः यह पता कि कोई कवि विक्रमादित्य या भोज के राज्य काल में हुआ, ऐतिहासिक दृष्टि से केवल इतना ही सहायक हो सकता है जितना कि यह पता कि अमुक घटना जार्ज पंचम या एडवर्ड के राज्यकाल में हुई।

९. यदि किसी प्रणेता का नाम मिलता भी है तो उसके माता-पिता का नाम नहीं दिया गया। एक ही नाम के अनेक प्रणेता हो सकते हैं।

१०. कभी-कभी एक ही नाम भिन्न-भिन्न रूपों में पाया जाता है। भारतीयों में नामों के पर्याय तथा संक्षिप्त रूप व्यवहार में लाने की यह प्रवृत्ति सब कालों में दृष्टिगत होती है।

किंतु उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि भारतीयों में ऐतिहासिक बुद्धि का पूर्ण अभाव था। वस्तुतः इतिहास के क्षेत्र में पुराणों और विभिन्न ग्रन्थों के अतिरिक्त निश्चित तिथियों से युक्त अनेक शिलालेख विद्यमान हैं। ज्योतिष ग्रन्थकारों ने तो ग्रंथ-समाप्ति तक की निश्चित तिथियाँ दी हैं।

प्रश्न ३०—संस्कृत साहित्य के ऐतिहासिक काव्यों का संक्षेप से निरीक्षण कीजिए।

संस्कृत साहित्य में सभी विषयों का विशद विवेचन हुआ है किन्तु

आश्चर्य की बात है कि विषय के रूप में इतिहास का विवेचन नहीं हुआ है। पाश्चात्य विद्वानों ने इसके अनेक कारण बतलाए हैं। ऐतिहासिक काव्यों के न रचे जाने के कुछ कारण भारतीय विद्वानों द्वारा भी प्रस्तुत किए गए हैं। लेकिन इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि संस्कृत में लौकिक घटनाओं को लेकर इतिहास ग्रन्थों का प्रणयन ही नहीं किया गया। वास्तव में पुराणों में जिस तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का चित्र खींचा गया है वह किसी भी इतिहास ग्रंथ से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसी प्रकार से बौद्धों और जैनों के ग्रंथों में भी ऐतिहासिक व्यक्तियों का उल्लेख प्राप्त होता है। प्राचीन राजाओं की प्रशस्तियों में भी ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध होते हैं। संस्कृत के महाकाव्यों, नाटकों तथा गद्यकाव्यों में भी ऐतिहासिक सामग्री भरी पड़ी है, यद्यपि यह सत्य है कि यह सामग्री कालक्रम की दृष्टि से उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है जितनी उस युग की अवस्था से परिचय प्राप्त कराने के लिए, लेकिन इन सभी ग्रंथों के साथ ही साथ संस्कृत में कुछ ऐसे ग्रंथों का प्रणयन भी हुआ है जो भारत के मध्यकालीन इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं। हर्षचरित, नवसाहसांक चरित, विक्रमांक देव चरित, राजतरंगिणी आदि ऐसे ही ग्रन्थ हैं। इन ग्रंथों के अतिरिक्त कुछ अन्य छोटे-मोटे ग्रंथों का परिचय भी प्राप्त होता है किन्तु उन सभी का विवेचन करना हो तो यह इस छोटे-से निबन्ध में न सम्भव ही है और न आवश्यक ही।

बाणभट्ट कृत हर्षचरित—संस्कृत साहित्य में उपलब्ध सर्वप्रथम ऐतिहासिक काव्य बाणभट्ट विरचित हर्षचरित है। आठ उच्छ्वासों में विभक्त इस ग्रंथ में कवि ने महाराज हर्षवर्धन का जीवन-चरित अंकित किया है। महाराज हर्षवर्धन ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। इनका शासन-काल ६०६-६४८ ई० माना जाता है। इस प्रकार बाण विरचित यह ग्रंथ ऐतिहासिक व्यक्तित्व के साथ सम्बद्ध होने के कारण ऐतिहासिक ग्रथ मान लिया जाता है।

'हर्षचरित' में यद्यपि कवि ने ऐतिहासिक घटनाओं को पर्याप्त मात्रा में अपनाया है किंतु इस ग्रंथ को शुद्ध ऐतिहासिक काव्य की पदवी से विभूषित करना कवि के साथ अन्याय करना होगा। वस्तुतः बाण ने ऐतिहासिक कथानक को अपनाकर भी काव्य-शैली का सुन्दर प्रयोग किया है। उसने अपनी रचना के प्रथम सर्ग में अपने पूर्व के श्रेष्ठ कवियों एवं गद्य-लेखकों की प्रशंसा की है। इसी सम्बन्ध में

उसने यह भी बतलाया है कि उदीच्य लोग काव्य में श्लेष अलंकार को अधिक पसंद करते हैं, पाश्चात्य लोग अर्थ पर ध्यान देते हैं, दक्षिणात्य उत्प्रेक्षा को पसंद करते हैं और गौण देश के कलाकार अक्षराडम्वर में ही काव्य की रमणीयता मानते हैं यथा—

श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम् ।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षराडम्बरः ।।

(हर्षचरित १।८)

इसी उच्छ्वास में वाण ने अपने वंश का परिचय भी दिया है।

द्वितीय उच्छ्वास में वाण को कृष्ण का पत्र मिलता है और वह राजा के दर्शन के लिए अपने गाँव से प्रस्थान करता है। राज-सभा में पहुँचकर आरम्भ में तो वाण को किसी सम्मान की प्राप्ति नहीं होती किंतु वाद में वह राजा के विश्वासपात्र बन जाते हैं। तृतीय उच्छ्वास में यह वर्णन है कि वाण कुछ दिनों के वाद अपने गाँव लौटते हैं और उनके भाई उन्हें हर्ष का जीवन-चरित लिखने को कहते हैं। इस उच्छ्वास में स्थाणीश्वर का विस्तार से अलंकृत वर्णन है तथा उसके राजाओं के कुल का वर्णन करते हुए एक काल्पनिक अर्ध-ऐतिहासिक नरेश पुष्पभूति की ओर संकेत किया गया है। जो हर्ष का पूर्वज था। यहीं पृष्ठ-भूमि तथा भैरवाचार्य नामक शैव योगी का सुन्दर वर्णन किया गया है।

वस्तुतः हर्षचरित का वास्तविक कथानक चतुर्थ उच्छ्वास से आरम्भ होता है। इसी तथा आगामी उच्छ्वास के अध्ययन से हमें ज्ञात होता है कि हर्ष के पिता का नाम प्रभाकरवर्धन और माता का नाम यशोवती था। हर्ष के एक भाई राज्यवर्धन और एक वहिन राज्यश्री थी। राज्यश्री का विवाह मौखरि वंश के क्षत्रिय नरेश अवन्तिवर्मा के पुत्र ग्रहवर्मा से हुआ। लगभग ७०५ ई० में हूणों ने प्रभाकरवर्धन के राज्य के उत्तर भाग पर आक्रमण किए। उन्होंने राज्यवर्धन को एक बड़ी सेना देकर हूणों से युद्ध करने के लिए प्रेपित किया। राज्यवर्धन के वापिस आने से पहले ही प्रभाकरवर्धन का देहान्त हो गया। प्रभाकरवर्धन के देहावसान से पूर्व ही यशोवती विधवा होने के डर से अग्नि में प्रवेश करके सती हो गई थी।

षष्ठ उच्छ्वास में राज्यवर्धन हूणों पर विजय प्राप्त करके वापिस लौट आता

है। वह राज्य-भार हर्ष को सौंप देना चाहता है किन्तु इसी बीच यह ज्ञात होता है कि मालवनरेश ने गृहवर्मा की हत्या कर दी है और राज्यश्री को कारागार में डाल दिया है। राज्यवर्धन यह समाचार सुनते ही मालवराज पर चढ़ाई करने के लिए प्रस्थान कर देता है। कुछ समय के उपरान्त ज्ञात होता है कि राज्यवर्धन ने मालवनरेश को तो पराजित कर दिया था किंतु वापिस आते समय गौडाधिप के द्वारा मारा गया। हर्षवर्धन उसी समय युद्ध की घोषणा करना चाहता है किंतु सेनापति सिंहनाद के कहने पर वह कुछ समय के लिए रुक जाता है।

सप्तम उच्छ्वास में हर्ष के सेना-प्रयाण का विस्तारपूर्वक वर्णन है। प्राग्ज्योतिष (आसाम) के नरेश का एक दूत हर्ष के पास उसे आकरदिव्य आतपत्र भेंट करता है तथा इसी सम्बन्ध में छत्र की दैवी उत्पत्ति की काल्पनिक कथा पाई जाती है।

अष्टम उच्छ्वास में हर्ष विन्ध्याटवी पहुंचता है तथा निषाद के पास राज्यश्री को ढूंढने के लिए वन में निकल पड़ता है। वे दोनों ऋषि दिवाकर मित्र के आश्रम में पहुंचते हैं। हर्ष दिवाकर मित्र से राज्यश्री के सम्बन्ध में पूछता है। उसी समय एक भिक्षु आता है और किसी स्त्री की चिता में जलने की तैयारी की सूचना देता है। हर्ष दौड़ता है और ठीक समय पर पहुंचकर राज्यश्री को चिता में जलने से बचा लेता है। राज्यश्री दुःखी जीवन को समाप्त कर देना चाहती है किन्तु दिवाकर मित्र समझा-बुझाकर हर्ष के साथ घर जाने का परामर्श देते हैं और अन्ततः राज्यश्री राजी भी हो जाती है। हर्ष और वह अपने घर वापस लौट आते हैं।

'हर्षचरित' के उपर्युक्त कथानक में बाण ने कल्पना का पर्याप्त प्रयोग किया है। वस्तुतः कवि को जहाँ भी अवसर मिलता है वहीं उसकी कल्पना-शक्ति अपना चमत्कार दिखलाने लगती है। लेकिन इतना होते हुए भी ऐतिहासिक तथ्यों की नितान्त उपेक्षा कहीं भी नहीं की गई है। वस्तुतः हर्षचरित में जिन ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन है वे सभी चीनी यात्री ह्वेनसांग के वर्णनों से मेल कर जाती हैं। इतना ही नहीं बाण की इस रचना से हमें उस युग की सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का भी अवबोध होता है। इसीलिए तो टी० वरदाचारी अपनी पुस्तक 'संस्कृत साहित्य के इतिहास' में लिखते हैं—

"बाण ने इतिहास को यह सामग्री प्रदान की है—सेना का विशद चित्रण, राज-द्वार का विस्तृत परिचय, विविध सम्प्रदायों के अनुयायियों और उनका बौद्धों के साथ व्यवहार का वर्णन, ब्राह्मणों के विविध कार्य और अपने मित्रों का परिचय। इस प्रकार से हर्षचरित को ऐतिहासिक काव्य मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।"

पद्मगुप्तकृत वनसाहसांक चरित—संस्कृत साहित्य के ऐतिहासिक काव्य-ग्रन्थों की परम्परा में दूसरा उल्लेखनीय ग्रन्थ पद्मगुप्त विरचित 'नवसाहसांक चरित' है। ये (पद्मगुप्त) धार नरेश मुंज तथा उसके पुत्र सिंधुराज (नवसाहसांक) के राजकवि थे और इन्होंने इस ग्रन्थ की रचना १००५ ई० के लगभग की थी। इसमें सिंधुराज द्वारा राजकुमारी शशिप्रभा की प्राप्ति की कथा का वर्णन है परन्तु साथ ही मालव के राजा सिंधुराज नवसाहसांक का इतिहास भी सूचित किया गया है।

यह ग्रन्थ एक प्रशस्ति मात्र है, अतः लम्बी वक्तृताओं और विस्तृत वर्णनों के कारण कथा-प्रवाह प्रायः अवरुद्ध हो गया है। लेकिन फिर भी इस ग्रन्थ से तत्कालीन इतिहास के अनेक विश्वसनीय तथ्यों पर प्रकाश पड़ता है, जिनकी पुष्टि शिलालेखों तथा अन्य वहिरंग प्रमाणों से भी होती है। इतना ही नहीं, सिंधु-राज के पूर्ववर्ती समस्त परमार वंशी राजाओं का कालक्रमानुसार एवं इतिहासा-नुमोदित वर्णन भी प्राप्त होता है। इस प्रकार यह काव्य परमारों के इतिहास के लिए भी नितान्त उपादेय है।

अठारह सर्गों में निवद्ध यह ग्रन्थ काव्यकला की दृष्टि से भी अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। इस काव्य में कवि ने वैदर्भी रीति का प्रयोग किया है और १९ विभिन्न प्रकार के छंदों में विभिन्न पदों का निर्माण करके अपने कौशल का परिचय दिया है।

बिह्लण और विक्रमांकदेव चरित—संस्कृत साहित्य के ऐतिहासिक काव्य ग्रन्थों में तीसरा उल्लेखनीय ग्रन्थ बिह्लण-विरचित विक्रमांकदेव चरित है। यह ग्रन्थ १८ सर्गों में विभाजित है और १०८५ ई०, में कल्याण के चालुक्य राजा छठे विक्रमादित्य के राज्य-काल की प्रशंसा में लिखा गया है। इसमें कवि ने अपने आश्रयदाता तथा उसके पूर्वजों के जीवन-चरित का वर्णन भी किया है। साथ

ही अपने आश्रयदाता की मृगया-यात्रा तथा राजकुमारी चन्द्रलेखा के साथ विवाह की गाथा भी अंकित की है। ये सभी वर्णन तत्कालीन शिलालेखों से भी पूर्णतः मेल खाते हैं और इस प्रकार से कृति को ऐतिहासिक रचना होने का गौरव प्रदान करते हैं। किन्तु विह्लण ने इस ग्रन्थ में ऐतिहासिक तथ्यों का नीरस वर्णन ही प्रस्तुत किया हो ऐसी बात नहीं है। उसने स्थान-स्थान पर पौराणिक और अलौकिक कथा-प्रसंगों के उल्लेख से तथा अपने देशाटन के रोचक वर्णन द्वारा काव्य को अत्यन्त रमणीय बना दिया है। सरल और प्रसादपूर्ण वैदर्भी शैली, अनुरूप दृष्टांत, सरस पद-विन्यास एवं विशद भाव-प्रकाशन की छटा तो इस रचना में स्थान-स्थान पर देखने को मिलती है।

संस्कृत साहित्य के अधिकांश कवियों का जीवन-चरित अंधकार के गर्त्त में छिपा पड़ा है किन्तु बिह्लण इसका अपवाद है। इसका कारण यह है कि उसने अपने जीवन के सम्बन्ध में अनेक तथ्य 'विक्रमांकदेव चरित' के अन्तिम सर्ग में प्रस्तुत कर दिए हैं।

कह्लण और उनकी राजतरंगिणी—संस्कृत साहित्य के इतिहास में महाकवि कह्लण का नाम सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक काव्य-प्रणेता के रूप में प्रसिद्ध है। महाकवि कह्लण कश्मीर नरेश विजयसिंह के मंत्री चंपक के पुत्र थे। इन्होंने आदिकाल से लेकर सन् ११५१ ई० तक के कश्मीर के प्रत्येक राजा के शासनकाल की घटनाओं का क्रमानुसार विवरण राजतरंगिणी नामक पुस्तक में प्रस्तुत किया है। अपने ग्रन्थ की रचना के लिए उन्होंने ग्यारह पुराने ऐतिहासिक ग्रन्थों—नीलमत पुराण, जनश्रुति पद्ममिहिर और छविल्लाकर आदि के कथनों, शिलालेख, भूदान-लेख, प्रशस्तियों, मंदिरों और प्रासादों के स्मारक लेख, सिक्कों के अध्ययन, ऐतिहासिक भावों के पर्यवेक्षण, भिन्न-भिन्न वंशों के ऐतिहासिक लेखों और स्थानीय दंतकथाओं का पूरा-पूरा प्रयोग किया है। अपने समय की तथा उससे ५० वर्ष पूर्व की घटनाओं का वर्णन अपने पूर्वजों तथा संभ्रांत से पूछकर किया गया है। इस प्रकार विभिन्न स्थलों से विभिन्न प्रकार की सामग्री का चयन कर, अपने काव्य का ठाठ खड़ा किया है। इतना ही नहीं, उसने विभिन्न राजाओं अथवा क्रियाकलापों की तिथियों की ओर भी संकेत किया है जो संस्कृत के ऐतिहासिक काव्यों में सर्वप्रथम इसी में देखने को मिलता है। तत्कालीन राजनैतिक तथा सांस्कृतिक अवस्थाओं का चित्रण भी इसी पुस्तक में देखने को मिलता है। प्रत्येक राजा के

वर्णन में उसके व्यक्तिगत एवं राजनीतिक जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का उल्लेख भी किया गया है। इस प्रकार से कवि ने अपनी कृति के द्वारा एक सच्चे इतिहासकार होने का परिचय दिया है। लेकिन इतना होने पर भी कल्हण को इतिहासज्ञ की पदवी से विभूषित नहीं किया जा सकता। इसका कारण यह है कि ... शताब्दी के पूर्व का इतिहास अधूरा और अस्पष्ट, दिया गया है। कहीं-कहीं काल-गणना भ्रांतिपूर्ण हो गयी है और कहीं-कहीं कुछ घटनाएँ अन्धविश्वास पर आधृत हैं।

काव्य-कौशल की दृष्टि से कवि को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। ... कल्पना, रस, अलंकार आदि का समुचित समावेश हमें इस कृति में देखने को मिलता है। वैदर्भी शैली के प्रयोग में कवि पूर्णतः दक्ष प्रतीत होता है। संवाद ... चरित्र-चित्रण के क्षेत्र में कवि को अद्वितीय सफलता की प्राप्ति हुई है।

कल्हण परवर्ती ऐतिहासिक महाकाव्य—कल्हण के उपरान्त भी संस्कृत साहित्य में अनेक ऐतिहासिक महाकाव्य लिखे गए। ऐसे काव्य में सर्वप्रथम जल्हण विरचित 'सोमपाल विलास' उल्लेखनीय है। इसमें राजपुरी के नरेश सोमपाल का जीवन वर्णित है। इसके अनन्तर ११६३ ई० में लिखे गए हेमचन्द्र विरचित 'कुमारपाल चरित' अथवा 'द्वयाश्रय काव्य' का नाम आता है। इसमें चालुक्य राजा कुमारपाल का चरित है। १२०० ई० में हिन्दू सम्राट् पृथ्वीराज चौहान के आश्रित कवि जयनायक द्वारा लिखा गया 'पृथ्वीराज विजय' नामक महाकाव्य भी पर्याप्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें दिल्ली और अजमेर के चौहान राजा पृथ्वीराज का वर्णन है। गुजरात के सोमेश्वरदत्त द्वारा लिखी गई दो प्रशस्तियां 'कीर्ति-कौमुदी' और 'सुरथोत्सव' भी ऐतिहासिक रचनाएँ मानी जाती हैं। इसी प्रकार अरिसिंह विरचित 'सुकृतसंकीर्तन' नामक प्रशस्ति भी सोमेश्वरदेव के ऐतिहासिक लेखों की प्रामाणिकता आँकने में सहायक है। संध्याकर नन्दिन विरचित रामपाल-चरित द्वारा केवल बंगाल नरेश रामपाल से पराक्रमों का ही वर्णन प्राप्त नहीं होता है अपितु आसाम, बिहार, मध्यप्रान्त और उड़ीसा के इतिहास के लिए ... बहुमूल्य सामग्री प्राप्त होती है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त शम्भु विरचित 'राजेन्द्र-कर्णपूर' श्रीवर विरचित 'जैनराज तरंगिणी,' शुक विरचित 'राजावलिपताका' डिंडिम विरचित 'अच्युतरायाभ्युदय,' गंगादेवी विरचित 'वीर कंपराय चरित' ...

मधुराविजय' नामक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। 'आर्य मंजुश्रीकल्प,' 'हम्मीर महाकाव्य' तथा 'सुरजनचरित' नामक ग्रंथों में भी ऐतिहासिक सामग्री पर्याप्त मात्रा में भरी पड़ी है किंतु इतना सब कुछ होने पर भी यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि कल्हण के पश्चात् लिखे गए ग्रंथों में किसी को भी उतनी सफलता प्राप्त नहीं हुई है जितनी स्वयं कल्हण को हुई थी।

o

७ | रूपक

प्रश्न ३१—संस्कृत रूपक के उद्‌भव के संबंध में प्रचलित मतों की समीक्षा करते हुए अपने मत की स्थापना कीजिए।

संस्कृत का रूपक साहित्य अपने आपमें अत्यन्त विशाल है। काव्यकला की दृष्टि से भी उसमें पर्याप्त सौंदर्य है, किन्तु इतना होने पर भी उसके उद्‌भव का प्रश्न अन्धकार से परिपूर्ण है। विभिन्न विद्वानों द्वारा इस सम्बन्ध में विभिन्न मत प्रस्तुत किए गए हैं। आगामी पंक्तियों में हम उन सभी पर विचार करते हुए उनके औचित्य-अनौचित्य पर विचार प्रकट करेंगे और अन्ततः अपने मत की स्थापना भी।

दैविक उत्पत्ति—भारत की धर्म-प्राण जनता प्रत्येक वस्तु का नियामक ईश्वर को मानती है। नाटक के उद्‌भव के सम्बन्ध में भी भारतीय जनता का यही विचार है। उसके अनुसार त्रेता युग के देव और दानव मिलकर ब्रह्मा के पास गए और उनसे प्रार्थना की कि भगवान्, हमें मनोविनोद के लिए कोई वस्तु प्रदान कीजिए। ब्रह्मा ने यह बात सुनकर नाट्यवेद प्रकट किया। इसके लिए उन्हें चारों वेदों से सहायता ग्रहण करनी पड़ी। ऋग्वेद से नृत्य, सामवेद से संगीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस लेकर नाट्यकला की सृष्टि की गई। शिवजी ने ताण्डव नृत्य, पार्वती जी ने लास्य नृत्य तथा विष्णु ने चार वृत्तियों का समावेश करके इसमें कलात्मकता का समावेश किया। इतना ही नहीं स्वर्गलोक के निर्माण-कार्य-कुशल विश्वकर्मा ने रंगशाला का निर्माण किया। इस प्रकार से नाटक खेले जाने लगे। लेकिन यह मत अपने आप में एकांगी है। संस्कृत रूपक के उद्‌भव में मूलतः ब्रह्मा का ही हाथ रहा हो ऐसी बात नहीं

मानी जा सकती।

मृतकपूजावाद—डॉ० रिजवे के अनुसार नाटक का उद्भव मृतात्माओं के प्रति प्रकट की गई श्रद्धा से हुआ है। प्रायः विश्व के सभी प्राचीन देशों में मृतात्माओं की प्रसन्नता के लिए गीत, अभिनय आदि हुआ करते थे जिनका रूप हमें राम और कृष्ण आदि महापुरुषों के रूपक में अब भी मिलता है। अतः मृतकपूजा के कारण ही धीरे-धीरे नृत्य, गान तथा अभिनय होने लगे और नाटकों का प्रणयन आरम्भ हो गया। किन्तु डॉ० रिजवे का यह मत आज अधिकारी विद्वानों के द्वारा मान्य नहीं है क्योंकि राम, कृष्ण आदि की पूजा के पीछे मृत वीर पुरुषों के प्रति आदर दिखाने की भावना नहीं है। हम राम और कृष्ण की पूजा इसलिए करते हैं कि भगवान् के चरित का स्मरण और श्रवण करके हमें सुख-शांति और मुक्ति मिले। इसके अतिरिक्त संस्कृत के प्रायः शृंगारपरक नाटकों और प्रहसनों में वीरता या पराक्रम का प्रत्यक्षतः अभाव ही होता है। यदि वहाँ वीरता का उल्लेख भी होता है तो वह केवल नायिका के लिए नायक की योग्यता सिद्ध कर देने के लिए। इतना ही नहीं, संस्कृत रूपकों के प्रारम्भ में जहां रचना और रचयिता का परिचय दिया जाता है वहाँ अवसर का भी परिचय दिया जाता है किन्तु किसी भी नाटक की प्रस्तावना में यह नहीं कहा गया कि भगवान् राम की स्मृति स्थायी करने के लिए या कृष्ण जी का आदर करने के लिए नाटक की रचना हो रही है।

पर्ववाद—इस मत के अनुसार नाटक का उद्भव इन्द्रध्वज पर्व और मे-पोल दिवसों पर होने वाले नृत्यों से हुआ है। इस मत के समर्थकों का कहना है कि पाश्चात्य देशों में मई मास अर्थात् वसंत ऋतु में मे-पोल दिवस बड़े आनन्द से मनाया जाता है। इस उत्सव में वे प्रसन्नतापूर्वक नाचते-कूदते हैं। इतना ही नहीं वे एक लम्बा बाँस गाड़कर उसके नीचे एकत्रित होते हैं और साथ मिलकर नृत्य करते हैं। भारतवर्ष में भी इन्द्रध्वज नामक उत्सव लगभग इसी प्रकार से मनाया जाता है। अतः निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नाटकों की उत्पत्ति वसंत में मनाए जाने वाले पर्वों के आधार पर हुई होगी। लेकिन विद्वानों द्वारा प्रतिष्ठापित यह मत निर्भ्रान्त नहीं है। इसका कारण यह है कि विद्वानों ने मे-पोल उत्सव और इन्द्रध्वज पर्व का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करते हुए इस बात का ध्यान नहीं रखा है कि मे-पोल पर्व तो वसंत ऋतु में होता है किन्तु इन्द्रध्वज

पर्व, जो इन्द्र की वृत्ति (मेघ)-विजय का सूचक है, वर्षा के अन्त में पड़ता है।

कृष्णोपासनावाद—इस वाद में नाटक का उद्भव कृष्ण की उपासना के साथ जोड़ा जाता है। वस्तुतः कृष्णोपासना के अनेक अंग यथा रथयात्रायें, नृत्य, वाद्य, गीत, लीलाएँ आदि संस्कृत नाटक के निर्माण में पर्याप्त सहायक सिद्ध हुए हैं। इतना ही नहीं, संस्कृत नाटक का विकास भी कृष्णोपासना के घर शूरसेन प्रदेश में हुआ। संस्कृत नाटकों में शौरसेनी प्राकृत की बहुलता भी यही सूचित करती है। किन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी यह मत निर्भ्रान्त नहीं है। इस मत में सबसे बड़ी त्रुटि तो यही है कि अभी तक ऐसे प्रमाण प्राप्त नहीं हुए हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सके कि कृष्ण सम्बन्धी नाटक ही सबसे प्राचीन हैं। इस मत में दूसरा दोष यह है कि राम, शिव आदि अन्य प्रसिद्ध देवताओं की उपासनाओं ने भारतीय नाटक के विकास में जो भाग लिया उनकी उपेक्षा की गई है।

पुत्तलिका-नृत्यवाद—प्रसिद्ध जर्मन विद्वान डॉ० पिशल के विचारानुसार संस्कृत रूपक का उद्भव कठपुतलियों के नृत्य से हुआ। रूपकों में प्रयुक्त होने वाले सूत्राधार तथा स्थापक आदि शब्द भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं। लेकिन डॉ० पिशल का यह मत निर्भ्रान्त नहीं है। प्रो० हिलब्रैंट के मतानुसार कठपुतलियों के नाच के इतिहास को दृष्टि में रखकर यह मानना पड़ता है कि रूपक का उद्भव इससे पहले ही हो चुका था, जो इस नृत्य का आधार था।

छायानाटकवाद—प्रो० लूडर्स के मतानुसार संस्कृत रूपक के उद्भव में छाया-नाटकों का बहुत बड़ा हाथ रहा है। उनका कथन है कि महाभाष्य में वर्णित शौभिक मूक अभिनेताओं या छाया मूर्तियों की चेष्टाओं के व्याख्याता थे। लेकिन डॉ० कीथ के मतानुसार लूडर्स महोदय का यह विचार महाभाष्य के वाक्य के अशुद्ध अर्थ पर ही आधृत है। इतना ही नहीं, इस वाद में एक सबसे बड़ी त्रुटि यह भी है कि इसके आधार पर रूपकों के गद्य-पद्य के मिश्रण तथा संस्कृत-प्राकृत के प्रयोग का कोई कारण नहीं बतलाया जा सकता। दूसरे अन्य वादों की भाँति इस वाद के मानने वाले को भी रूपकों की सत्ता छाया-नाटक के जन्म से पहले स्वीकार करनी पड़ती है।

लोकप्रिय स्वांगवाद—प्रो० हिलब्रैंट तथा स्टेनकोनो के विचारानुसार प्राचीन भारत में लोकप्रिय स्वांगों का प्रचार था और इन स्वांगों में रामायण और महाभारत के कथानक मिलाकर रूपक का रूप दे दिया गया। लेकिन डॉ० कीथ के

इस मत का खण्डन किया है। उनका कथन है कि रूपक के प्रचार से पूर्व स्वांगों के प्रचलित होने के प्रबल एवं उचित प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं। इतना ही नहीं, स्टेनकोनो ने एतद्विषयक जितने प्रमाण प्रस्तुत किए हैं उन सबका संबंध महाभाष्य अथवा उससे भी परवर्ती काल से है। वस्तुतः प्रारम्भिक स्वांग काल के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान अत्यन्त अपूर्ण तथा कल्पना पर आधृत है। इस प्रकार से स्टेन-कोनो का मत अपने आप में निराधार है।

वैदिकानुष्ठानवाद—ऋग्वेद के मरुत सूक्त के मंत्र की व्याख्या करते हुए जर्मन विद्वान मैक्समूलर ने संवत् १९२६ में यह प्रतिपादित किया कि संस्कृत रूपक की उत्पत्ति वैदिक कर्मकाण्ड से हुई है। फ्रांसीसी विद्वान सिल्वन लेवी ने भी इस मत का समर्थन करते हुए कहा—कि वैदिक साहित्य में बहुत-से ऐसे संवाद हैं जिन्हें भारतीय रूपक का मूल स्रोत समझना चाहिए। उनका यह भी मत था कि ये संवाद केवल कवियों या ऋषियों की कल्पना मात्र नहीं अपितु ये संवाद यज्ञों में नाटकीय ढंग से गाये भी जाते होंगे। इसी सिद्धांत का समर्थन जर्मन विद्वान वॉन श्राडर और हर्टल ने भी किया था। श्राडर महोदय ने तो यह भी कहा है कि बहुत-से ब्राह्मण जलाशय में खड़े होकर सूक्तों को गाते भी होंगे। अतः वैदिक संवादों में नाट्य का बीज अवश्य है।

लेकिन इस सिद्धान्त में भी अनेक त्रुटियाँ हैं। कतिपय पाश्चात्य विद्वान् इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं कि इन संवादों को नाटकीय संवाद समझने की भूल नहीं करनी चाहिए क्योंकि प्राचीन भारतीय यज्ञों में जो कर्मकाण्ड होते थे। वे नाटकीय नहीं अपितु वैसे ही पौरोहित्य कर्म मात्र होते थे जैसे ईसाई गिरजा-घरों में प्रायः हुआ करते हैं जहाँ पादरी कहते हैं—"अपने हृदय ऊपर उठाओ" और एकत्रित जनसमूह उत्तर देता है—"हम अपने हृदय भगवान तक उठाते हैं।" अनुकरण की भावना का प्रभाव होने के कारण ये संवाद नाटकीय नहीं हैं। कर्म-काण्ड और नाटक के इस मौलिक अन्तर को न समझ कर ही ऋग्वेद के मण्डूक सूक्त को नाटकीय बतलाया गया है।

संवादसूक्तवाद—वेदों में यम-यमी संवाद आदि के रूप में अनेक आख्यान पाये जाते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार इन आख्यानात्मक संवादों के द्वारा ही संस्कृत रूपक का उद्भव हुआ है। किन्तु यह सत्य होने पर भी कि ऋग्वेद में बहुत-से ऐसे सूक्त हैं जिनमें दो या दो से अधिक व्यक्तियों की परस्पर बातचीत

होती है इस मत को ठीक नहीं कहा जा सकता क्योंकि आख्यानों में इस प्रकार का प्रयोग स्वाभाविकता लाने के लिए किया जाता है किन्तु इन संवादों में और नाटकीय संवादों में मौलिक अन्तर होता है। नाटकीय संवादों में जहां वाचिक या आंगिक अभिनय के द्वारा कथोपकथन को भावपूर्ण बनाकर रस उत्पन्न करने का उपक्रम किया जाता है वहाँ कथा के सम्वादों में केवल किसी प्रसंग में मिले दो व्यक्तियों के मन की व्यंजना के रूप में ही बातचीत चलाई जाती है। इतना ही नहीं, इनमें न तो नाटकीय सम्वाद वाला जोड़ तोड़ का उत्तर ही होता है और न ही भावों को उत्तेजित करने वाली भाषा-शैली ही।

रूपक का यूनानी उद्भव—वेवर और विंडिश आदि कुछ पाश्चात्य विद्वानों की धारणा के अनुसार संस्कृत रूपकों की उत्पत्ति यूनानी रूपकों के प्रभाव स्वरूप हुई। इनके मतानुसार सिकन्दर महान् के आक्रमण के उपरान्त कुछ यूनानी लोग भारतीय समुद्र तट पर निवास करने लगे थे। ये यूनानी फुर्सत के समय आमोद-प्रमोद के लिए जिन उपकरणों को जुटाते थे उनमें से नाटक भी एक था। उनके इस नाटक का भारतीयों पर उसी प्रकार प्रभाव पड़ा होगा जिस प्रकार से उनके ज्योतिष और गणित विद्या का पड़ा है। इन्होंने (वेवर, विंडिश आदि ने) पुनः कल्पना की है कि यूनानी राजाओं ने अपनी राजसभाओं में यूनानी नाटकों का अभिनय कराया होगा, उन्हीं का अनुकरण करके भारतीयों ने रूपकों की उत्पत्ति की होगी। अपनी इस कल्पना को उचित बतलाते हुए इन्होंने कहा है कि संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त होने वाला यवनिका या जवनिका शब्द भी इस बात का सूचक है कि संस्कृत नाटक पर यूनानी रूपकों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है क्योंकि यह शब्द यवन-यूनानी पद से व्युत्पन्न हुआ है।

लेकिन विद्वानों के उपर्युक्त विचार वास्तविकता से नितान्त परे हैं क्योंकि सर्वप्रथम तो इस बात का उल्लेख प्राप्त नहीं होता कि ग्रीक रूपक भारतवर्ष में अभिनीत किए गए। द्वितीय, सर्वप्रथम रूपक का प्रणयन सिकन्दर महान् के आक्रमण से बहुत पहले हो चुका था। क्योंकि सिकन्दर ने भारतवर्ष पर आक्रमण ३२६ ई० पू० में किया था किन्तु पाणिनि, जिनका समय ४८० ई० पूर्व है, ने अपने 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षनटसूत्रयोः' नामक सूत्र में 'पटसूत्र' अर्थात् नाट्यशास्त्र का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि के समय या उससे पूर्व ही नाटक रचे जा चुके होंगे क्योंकि लक्षण-ग्रन्थों की रचना लक्ष्य-ग्रन्थों के

बाद ही हुआ करती है। इतना ही नहीं, पतंजलि के महाभाष्य में 'कंस-वध' और 'बलि-वध' नामक दो रूपकों का स्पष्ट उल्लेख भी है। इसी प्रकार से यवनिका शब्द का प्रयोग भी इस बात का सूचक नहीं ठहराया जा सकता कि संस्कृत रूपकों का उद्भव ग्रीक रूपकों के प्रभाव-स्वरूप हुआ है क्योंकि संस्कृत रूपकों में यवनिका शब्द का प्रयोग केवल इसलिए होता था क्योंकि यवन-देश से आए कपड़ों से परदे बनाए जाते थे। इतना ही नहीं, अन्तरात्मा, कथावस्तु-क्रम तथा निर्माण-सिद्धान्त की दृष्टि से भी संस्कृत और यूनानी रूपक एक-दूसरे से बिलकुल विपरीत दिशा में चलते हैं।

उपर्युक्त मतों के अध्ययन करने के उपरान्त यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि संस्कृत के उद्भव के सम्बन्ध में किसी एक मत अथवा वाद विशेष को ही मुख्यता प्रदान नहीं की जा सकती है। उसके विकास में तो सभी तत्त्व सहायक रहे हैं, वैदिक सूत्रों में पाये जाने वाले सम्वादों से लेकर ग्रामोत्सव, छाया नाटकों, कठपुतलियों के नृत्य आदि सभी ने समय-समय पर अपना योग दिया है।

प्रश्न ३२—रूपक के विभिन्न तत्त्वों का विवेचन करते हुए उसके उपभेदों पर भी प्रकाश डालिए।

साहित्य-मनीषियों ने रूपक के तत्त्वों का अत्यन्त विशदतापूर्वक विवेचन किया है। इस विवेचन के अन्तर्गत रूपक के प्रणयन से लेकर उसके अभिनय तक की सभी स्थितियों पर विचार कर लिया गया है। साहित्य-मनीषियों द्वारा किया गया विवेचन स्वयं में एक पृथक् पुस्तक का विषय है। यहाँ पर केवल इतना जान लेना ही अभीष्ट है कि रूपक (जिसे आज हम नाटक कहते हैं) के मुख्य तत्त्व तीन हैं : (क) कथावस्तु, (ख) नेता, (ग) रस।

कथावस्तु—कथावस्तु नाटक का प्रमुख तत्त्व है। यह प्रख्यात, उत्पाद्य अथवा मिश्र किसी भी प्रकार की हो सकती है। इस कथावस्तु के दो भेद किए गए हैं : (अ) आधिकारिक, (आ) प्रासंगिक। नाटक की मुख्य कथा को आधिकारिक कथा कहते हैं। आधिकारिक कथा को आगे बढ़ाने तथा उसमें सौन्दर्य की वृद्धि के लिए जिन कथा-प्रसंगों का नियोजन किया जाता है उसे प्रासंगिक कथा कहते हैं। आधिकारिक कथा का संबंध नाटक के प्रमुख पात्रों से होता है। प्रासं-

गिक कथा गौण पात्रों से संबद्ध होती है। वह मुख्य पात्रों के चरित्र पर प्रकाश डालने एवं मुख्य कथा के क्रिया-व्यापार को वेगयुक्त बनाने एवम् फल की ओर ले जाने में सहायता पहुंचाती है। प्रासंगिक कथावस्तु दो प्रकार की मानी गई है: (क) पताका, (ख) प्रकरी। जब कोई प्रासंगिक कथा मुख्य कथा के साथ-साथ चलती है तब उसे 'पताका' कहते हैं। लेकिन जब कोई प्रासंगिक कथा कुछ दूर तक चल कर रुक जाती है अथवा समाप्त हो जाती है तब उसे 'प्रकरी' कहते हैं।

कथावस्तु के सुसंबद्ध नियोजन के लिए उसमें कार्यावस्थाओं, अर्थप्रकृतियों, तथा नाट्य सन्धियों का यथास्थान निरूपण किया जाना चाहिए। इनका पृथक्-पृथक् परिचय निम्नप्रकारेण है :

(क) कार्यावस्था—नाटक में फल-प्राप्ति की इच्छा से किए गए कार्य-व्यापार को कार्यावस्था कहते हैं। इनकी संख्या पाँच है—आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम।

(ख) अर्थप्रकृति—कथावस्तु के जो चमत्कारपूर्ण अंग कथानक को कार्य अर्थात् फलागम की ओर ले जाते हैं उन्हें अर्थ-प्रकृति कहते हैं। ये भी संख्या में पाँच हैं—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य।

(ग) नाट्य-संधि—कार्यावस्था तथा अर्थप्रकृतियों में सम्बन्ध कराने वाली वस्तु नाट्य-संधि कहलाती है। इनके नाम ये हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श या अवमर्श, निर्वहण।

नाटक सामान्यतः अभिनेय होता है, किन्तु कई घटनाएँ ऐसी होती हैं जिनका अभिनय नहीं किया जा सकता। कथावस्तु के ऐसे अंश, जो रंगमंच पर अभिनीत न होकर सूच्य मात्र होते हैं, अर्थोपक्षेपक कहलाते हैं। अर्थोपक्षेपक पाँच प्रकार के होते हैं—विष्कम्भक, चूलिका, अंकास्य, अंकावतार, प्रवेशक।

नेता—नाटक के प्रधान पात्र के नायक को नायक या नेता कहते हैं। इस प्रकार से नायकत्व पद की उपाधि से नाटक का कोई भी प्रधान पुरुष या स्त्री पात्र विभूषित हो सकता है। परन्तु, आज नायक शब्द का प्रयोग प्रमुख पुरुष पात्र के लिए रूढ़िबद्ध हो गया है। साहित्य मनीषियों ने नायक के लिए अपेक्षित अनेक गुणों का उल्लेख किया है। धनंजय के अनुसार, नायक विनीत, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रियंवद, शुचि, वाग्मी, रूढ़वंश, स्थिर, युवा, बुद्धिमान, प्रज्ञावान, स्मृति-

सम्पन्न, उत्साही, कलावान, शास्त्र-चक्षु, आत्मसम्मानी, शूर, दृढ़, तेजस्वी, धार्मिक होना चाहिए। इतना ही नहीं, विभिन्न प्रकार की विशिष्टताओं के आधार पर नायक के चार प्रकार बतलाए हैं—(१) धीरोदात्त, (२) धीरललित, (३) धीर प्रशांत, (४) धीरोद्धत। धनजय ने धीरोदात्त नायक की परिभाषा देते हुए लिखा है; "महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः। स्थिरोनिगूढाहंकारोधिरोदात्त दृढ़व्रतः" अर्थात् धीरोदात्त में गम्भीरता और क्षमाशीलता नामक गुण होते हैं। वह आत्मश्लाघाविहीन, विनयी, दृढ़व्रती तथा स्थिर चित्त वाला होता है। 'उत्तर-रामचरित' के नायक राम तथा 'नागानन्द' के नायक जीमूतवाहन की गणना इसी प्रकार के नायकों के अन्तर्गत की जाती है। धीरललित नायक की परिभाषा देते हुए लिखा गया है, "निश्चिन्तोधीरललितः कलासक्तं सुखी मृदुः" अर्थात् धीरललित नायक निश्चित, कलाप्रिय एवं कोमल स्वभाव वाला होता है। 'स्वप्न-वासवदत्ता' का नायक उदयन तथा 'मालविकाग्निमित्र' का नायक 'अग्निमित्र' इसी प्रकार के नायक हैं। धीर-प्रशांत नायक की परिभाषा इस प्रकार है—"सामान्यगुणयुक्तस्तु धीर शान्तोद्विजादिकः" अर्थात् धीर प्रशांत नायक सामान्य गुणों से युक्त कोई ब्राह्मणादि होता है। यह ध्यातव्य है कि धीर प्रशांत नायक प्रायः ब्राह्मण या वैश्य होते हैं। 'मच्छकटिक' का नायक चारुदत्त तथा 'मालती माधव' का नायक माधव इसी प्रकार के नायक माने गए हैं। धीरोद्धत नायक की परिभाषा देते हुए कहा गया है, "दर्पमात्सर्य भूयिष्ठो मायाछद्म-परायणः। धीरोद्धत स्वत्वहंकारी चलश्चण्डो विकत्थनः" अर्थात् धीरोद्धत नायक ईर्ष्यालु तथा अभिमानी होता है। स्वभाव का क्रोधी होता है तथा माया छद्म छल करने में तनिक भी नहीं चूकता। उसमें चंचलता तथा आत्म-प्रशंसा के गुण कूट-कूटकर भरे हुए होते हैं। रावण की गणना इसी कोटि के अन्तर्गत की जाती है।

शृंगार रस के प्रसंग में विवाह के आधार पर नायक के पुनः चार प्रकार बतलाए गए हैं, यथा—अनुकूल, दक्षिण, शठ और धूर्त्त। अनुकूल नायक एक पत्नीव्रत का पालन करने वाला माना गया है तथा शेष बहुपत्नीक माने गए हैं।

नाटक की प्रधान स्त्री-पात्रा को नायिका माना गया है। यह नायक की पत्नी अथवा प्रेमिका होती है। यह अनुपम रूपवती युवती होती है तथा इसके

दर्शन से अन्तस्तल में रतिभाव जागृत हो जाता है। नायक के साथ नायिका के सामाजिक सम्बन्ध के आधार पर तथा वयक्रमानुसार नायिकाओं के अनेक भेदोपभेद किए गए हैं। सामाजिक सम्बन्धों के आधार पर नायिका स्वकीया, परकीया तथा सामान्या मानी गयी है। वयक्रमानुसार इसके मुग्धा, मध्या व प्रौढ़ा नामक भेद किए गए हैं।

विदूषक भी भारतीय नाटकों का एक प्रमुख पात्र है। यह राजा का विश्वासपात्र तथा सलाहकार होता है। यह भोजनप्रिय होता है तथा मोदकों से इसे विशेष लगाव होता है। अपने भोजनप्रियता नामक गुण से ही यह नाटक में हास्यरस का समावेश करता है।

रस—नाटक में रस का होना भी आवश्यक माना गया है। इसकी महत्ता बतलाते हुए भरत मुनि ने लिखा है, "न रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्त्तते" अर्थात् कोई काव्यार्थ रसविहीन नहीं होना चाहिए। यह माना गया है कि प्रत्येक नाटक में शृंगार रस अथवा वीर रस में से कोई एक रस अंगी रस होना चाहिए।

अभिनेयता—भारतीय मनीषियों ने यद्यपि अभिनव तत्त्व का पृथक् से उल्लेख नहीं किया है, किन्तु इसे एक अनिवार्य तत्त्व अवश्य माना गया है। अभिनय चार प्रकार का होता है—(i) आंगिक, (ii) वाचिक, (iii) आहार्य और (iv) सात्त्विक। आंगिक अभिनय में अंगों के संचालन द्वारा भाव प्रकट किए जाते हैं। वाचिक अभिनय के अन्तर्गत वाणी सम्बन्धी अभिनय आता है। इसी के अन्तर्गत कथनोपकथन आते हैं। आहार्य अभिनय के अन्तर्गत वेश-भूषा सम्बन्धी अभिनय की गणना की जाती है। स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, कंप, अश्रु आदि के माध्यम से भावाभिव्यक्ति सात्त्विक अभिनय कहलाती है। सात्त्विक अभिनय में भावों की प्रधानता रहती है।

भारतीय साहित्य-मनीषियों ने इस बात का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि रंगमंच पर कौन-कौन से दृश्य नहीं दिखलाने चाहिए। यह कहा गया है कि हत्या, उत्पीड़न, भोजन, स्नान, शयन आदि दृश्य रंगमंच पर प्रस्तुत नहीं करने चाहिए।

रूपक के प्रकार—साहित्य-मनीषियों ने रूपक के दस भेद किए हैं, यथा नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, प्रहसन आदि। इन भेदों में नाटक सर्वप्रमुख भेद माना गया है। रूपक के सभी भेदों का संक्षिप्त विवरण अधोलिखित है।

नाटक—इसमें अधिक से अधिक दस और कम से कम पाँच अंक होते हैं। इसका कथानक ऐतिहासिक, पौराणिक अथवा लोक-प्रचलित होता है। इसका नायक कोई प्रसिद्ध, धीरोदात्त, प्रतापी राजर्षि होता है। शृंगार और वीर में से कोई एक अंगी रस के रूप में ग्रहण किया जाता है। शेष रस अंगभूत होते हैं। इसमें पाँच संधियाँ होती हैं जिनसे प्रधान कथा अन्य कथांशों से परिपुष्ट की जाती है।

प्रकरण—इसमें कवि को कल्पित तथा लौकिक कथानक चुनने की सुविधा रहती है। नायक का भी प्रख्यात होना आवश्यक नहीं है। इस प्रकार से अंक-संख्या के संबंध में भी कोई बन्धन आरोपित नहीं किया गया है किन्तु प्रायः इस प्रकार की रचना में १० अंक पाए जाते हैं।

भाण—इसमें किसी कल्पित धूर्त चरित का आख्यान रहता है तथा अंक केवल एक ही होता है।

व्यायोग—व्यायोग से अभिप्राय रूपक के उस प्रकार से है जिसमें वीर रस की प्रधानता होती है तथा स्त्री पात्राओं का या तो नितांत अभाव होता है अथवा नगण्य होती हैं। अंक भी केवल एक होता है तथा आदि से अंत तक संपूर्ण क्रियाएँ एक ही कार्य अथवा उद्देश्य के लिए नियोजित की जाती हैं। कथा में केवल एक दिन की घटनाओं का वर्णन होता है।

समवकार—व्यायोग के समान समवकार में भी वीर रस की प्रधानता होती है। अंकों की संख्या ३ होती है तथा नायकों की संख्या १२ तक हो सकती है। विभिन्न नायकों द्वारा की गई क्रियाएँ और उनके फल अलग-अलग होते हैं।

डिम—इसमें चार अंक होते हैं। नायकों की संख्या १६ तक हो सकती है। अधिकांश नायक दैत्य, राक्षस, गंधर्व, भूत आदि होते हैं। रस की दृष्टि से रौद्र एवं अद्भुत रसों की प्रधानता होती है।

ईहामृग—इसमें दिव्य और लौकिक दोनों प्रकार का कथानक होता है। अंक-संख्या प्रायः चार होती है। नायक धीरोदात्त होता है। प्रतिनायक नायिका के कार्यों में बाधा पहुंचाता है। नायिका के लिए नायक तथा प्रतिनायक में युद्ध होता है। नायक को नायिका की प्राप्ति नहीं हो पाती पर वह मृत्यु से बच जाता है।

अंक—इसमें कुल एक अंक होता है। करुण रस की प्रधानता होती है तथा स्त्रियों के शोक का विशेष रूप से वर्णन किया जाता है।

वीथी—इसमें कल्पना की प्रधानता होती है तथा केवल एक अंक होता है। शृंगार रस तथा आश्चर्यजनक एवम् विनोदपूर्ण बातों की मुख्यता होती है। नायक की संख्या भी केवल एक होती है।

प्रहसन—इसका स्वरूप भाण से मिलता-जुलता है। इसका कथानक कल्पित होता है तथा निंद्य व्यक्तियों के चरित्र को विशेष रूप से प्रस्तुत किया जाता है। इसमें केवल एक अंक होता है तथा हास्यरस की प्रधानता होती है। परन्तु इसका उद्देश्य केवल मनोरंजन न होकर उपदेश देना भी रहता है।

प्रश्न ३३—निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए :

(क) नान्दी, (ख) सूत्रधार, (ग) नेपथ्य, (घ) प्रस्तावना, (ङ) विष्कम्मक, (च) प्रवेशक, (छ) कंचुकी, (ज) विदूषक, (झ) स्वगत, (ञ) अपवारित, (ट) आकाशभाषित, (ठ) प्रकाश, (ड) भरत वाक्य।

संस्कृत के रूपक-साहित्य का अनुशीलन करने पर हमारा ध्यान इस तथ्य की ओर अनायास आकर्षित हो जाता है कि उसमें नान्दी, सूत्रधार, नेपथ्य, प्रस्तावाना, विष्कम्मक, प्रवेशक आदि शब्दों का बारम्बार प्रयोग किया गया है। इन सबका संक्षिप्त विवरण अधोलिखित पंक्तियों में प्रस्तुत किया जा रहा है—

नान्दी—रूपकों के आदि में जो श्लोक लिखा जाता है तथा जिसमें किसी इष्टदेव से दर्शकों की रक्षा या उन पर कृपा करने की प्रार्थना की जाती है उसी को नान्दी कहते हैं। इसमें राजा आदि की स्तुति भी होती है। यह आठ अथवा बारह पदों से युक्त होता है और इसमें शंख, मंगल, चन्द्र, कमल, चक्रवाक और कोकावेली का वर्णन होता है।

सूत्रधार—नाटक के सम्पूर्ण कार्यों को चलाने वाले व्यक्ति को सूत्रधार कहते हैं। जहाँ पात्रों की वेशभूषा तथा अन्य बहुत-से कार्य इसी पर निर्भर होते हैं वहाँ रंगमंच के देवता की पूजा भी यही करता है।

नेपथ्य—जहाँ पर नट लोग वेश रचना करते हैं और मंच पर आने तक प्रतीक्षा करते हैं उस स्थल को नेपथ्य के नाम से सम्बोधित किया जाता है। यह स्थान परदे के पीछे होता है और दर्शक इसे देख नहीं सकते।

प्रस्तावना—नान्दी के उपरान्त जो नटी, विदूषक अथवा पारिपार्श्विक नाटक के खेलने से सम्बन्ध रखने वाली बातें सूत्रधार से करते हैं और नाटक में होने वाली घटना तथा पात्र-प्रवेश की सूचना संकेत मात्र से देते हैं उसे प्रस्तावना के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

विष्कम्भक—यह अंक के प्रारम्भ में होता है इसमें मध्यम तथा निम्न श्रेणी के पात्र वार्तालाप द्वारा बीती हुई तथा आने वाली घटनाओं का निर्देश करते हुए कथा को एक सूत्र में बाँधते हैं। वह (विष्कम्भक) दो प्रकार का होता है—शुद्ध और मिश्र। शुद्ध में मध्यम श्रेणी के पात्र भाग लेते हैं और प्रायः संस्कृत बोलते हैं तथा मिश्र में निम्न श्रेणी के पात्र भाग लेते हैं और मिली-जुली भाषा अर्थात् संस्कृत और प्राकृत का प्रयोग करते हैं।

प्रवेशक—जहाँ दो अंकों की भूत और भविष्यत् काल की घटनाओं को दो नीच पात्रों के द्वारा एक सूत्र में बांधा जाता है वहाँ प्रवेशक होता है। इसकी भाषा प्राकृत होती है तथा अन्य सभी बातें विष्कम्भक के समान होती हैं।

कंचुकी—अन्तःपुर के बूढ़े सेवक को कंचुकी के नाम से सुशोभित किया जाता है। यह शुद्ध चरित्र तथा कामकाज में निपुण होता है। कंचुक लम्बे चोगे को कहते हैं और चोगा धारण करने से ही इसका ऐसा नाम पड़ा है।

विदूषक—यह नाटक के नायक का धर्म-सचिव होता है। ब्राह्मण होते हुए भी यह प्राकृत-भाषी है। विचित्र वेश, अनोखी चेष्टाओं और अंगविकारों के माध्यम से यह हँसी उत्पन्न कराता है। यह प्रायः भोजनप्रिय होता है।

स्वगत—जब कोई पात्र अपने-आपसे बात करता है और दूसरों को सुनाना नहीं चाहता तब इसका प्रयोग किया जाता है। आजकल इसे अस्वाभाविक समझा जाता है। इतने दूर बैठे हुए दर्शकों का सुन लेना और पास वाले व्यक्ति का न सुनना असम्भव प्रतीत होता है।

अपवारित—जब एक पात्र इस प्रकार से बात करे कि केवल वही पात्र सुन सके जिसे वह अपनी बात सुनाना चाहता है तब उसे अपवारित या अपवार्य कहते हैं।

आकाशभाषित—जब एक पात्र स्वयं प्रश्न करके उसका उत्तर 'क्या कहते हो' इन शब्दों से आरम्भ करके दे, मानो वह आकाश से पूछ रहा हो, तब उसे 'आकाशभाषित' कहते हैं।

प्रकाश—स्वगत तथा अपवारित के बाद जब सबको सुनाने के लिए बात की जाती है, तब उसको प्रकाश कहते हैं।

भरतवाक्य—नाटक की समाप्ति पर दर्शकों के कल्याण के लिए जो कामना की जाती है अर्थात् उन्हें जो आशीर्वाद दिया जाता है, उसे 'भरतवाक्य' के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

प्रश्न ३४—त्रिवेन्द्रम में उपलब्ध नाटकों को भास-प्रणीत क्यों माना जाता है, यह बतलाते हुए भास की नाट्यकला पर प्रकाश डालिए।

संस्कृत नाट्य साहित्य में भास का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। कालिदास ने मालविकाग्निमित्र की प्रस्तावना में उनका नामोल्लेख बहुत आदर के साथ किया है। कालिदास के अतिरिक्त बाण, वाक्पतिराज, राजशेखर, जयदेव आदि ने भी भास की बहुत प्रशंसा की है। लेकिन इतना होते हुए भी आज से छः शताब्दी पूर्व तक भास के नाटकों के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात न था किन्तु सन् १९११ में पं० गणपति शास्त्री को मालाबार से अनेक नाटकीय ग्रंथ प्राप्त हुए तथा उन्होंने अनेक प्रमाणों के आधार पर भास को उन नाटकीय ग्रन्थों का प्रणेता घोषित किया और त्रिवेन्द्रम से भास के नाम से कुछ नाटकों को प्रकाशित किया। पं० गणपति शास्त्री की इस उद्घोषणा के उपरान्त भास के नाम से प्रकाशित नाटकों की प्रामाणिकता तथा अप्रामाणिकता के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार-विनिमय हुआ तथा इस सम्बन्ध में विद्वानों के तीन दल बन गए। प्रथम मत के अनुसार इन नाटकों के प्रणेता निश्चित रूप से भास ही हैं। दूसरे मत के अनुसार इन नाटकों का प्रणेता या तो 'मत्तविलास-प्रहसन' का प्रणेता युवराज महेन्द्रविक्रम था अथवा 'आश्चर्य-चूडामणि' नाटक का प्रणेता शीलभद्र। इस विचारधारा के विद्वानों का विचार है कि ये नाटक सातवीं अथवा आठवीं शताब्दी में किसी दाक्षिणात्य कवि के द्वारा प्रणीत किए गए होंगे। प्रो० सिलवाँ लेवी, प्रो० विंटरनिट्ज़ तथा प्रो० सी० आर० धर इसी मत के अनुगामी हैं। इस सम्बन्ध में तीसरी विचारधारा यह है कि उपलब्ध १३ नाटक भास-प्रणीत हैं, किन्तु जिस रूप में उपलब्ध हुए हैं वह उनका संक्षिप्त रंगमंचोपयुक्त रूप ही है। इस विचारधारा की भी अनेक उपविचारधाराएँ हैं, यथा कुछ विद्वानों के विचारानुसार ये सभी नाटक भास के नाटकों के संक्षिप्त रूप हैं तो कुछ विद्वानों के मतानुसार

स्वप्नवासवदत्ता' तथा 'प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्' तो भास के ही नाटकों के संक्षिप्त रूप हैं जबकि 'दरिद्रचारुदत्तम्' शूद्रक के मृच्छकटिक के आरम्भिक चार अंकों का संक्षिप्त रूप है। अधिकांश विद्वान इन नाटकों को भास-विरचित ही स्वीकार करते हैं। डॉ० भोलाशंकर व्यास ने इन नाटकों को भास-प्रणीत मानने के लिए निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत किए हैं—

१—ये सभी नाटक 'नान्द्यन्ते ततः प्रविशति सूत्रधार' से आरम्भ होते हैं जबकि बाद के संस्कृत नाटकों में—कालिदास में भी—पहले नान्दी पाठ होता है तब यह वाक्य पाया जाता है। जब बाण भास के नाटकों को 'सूत्रधारकृतारम्भ' कहता है, तो इसी विशेषता का संकेत करता है।

२—इन नाटकों में प्रस्तावना को इस पारिभाषिक संज्ञा से व्यवहृत न कर स्थापना' कहा गया है।

३—अन्य संस्कृत नाटकों की तरह 'स्थापना' में नाटक तथा नाटककार के नाम का संकेत नहीं मिलता जो शास्त्रीय संस्कृत नाटकों की परम्परा है। अतः ये नाटक इस परम्परा से पूर्व के हैं।

४—प्रत्येक नाटक का भरत वाक्य प्रायः 'इमामपि महीं कृत्स्ना राजसिंहः प्रशास्तु नः' से या इस भाव के अन्य पद्य से समाप्त होता है।

५—सभी नाटकों में समान संघटना पाई जाती है तथा कुछ नाटकों के प्रारम्भिक पद्य में मुद्रालंकार पाया जाता है।

६—इनमें से एक नाटक—स्वप्नवासवदत्ता—का उल्लेख राजशेखर ने किया है और वह संकेत इस नाटक के इतिवृत्त से मिलता है।

७—भास के नाटकों के कई उल्लेख या उद्धरण अलंकार-ग्रंथों में भी मिलते हैं। वामन ने स्वप्नवासवदत्ता, प्रतिज्ञायौगन्धरायण और चारुदत्त के उदाहरण दिए हैं। भामह ने प्रतिज्ञायौगन्धरायण की आलोचना करते हुए उससे पंक्तियाँ उद्धृत की हैं। दण्डी ने बालचरित तथा चारुदत्त के 'लिम्पतीव तमोंगानि वर्षतीवांजनं नभः' आदि पद्य को उदाहृत किया है और अभिनव गुप्त ने भारती तथा लोचन में 'स्वप्नवासवदत्तम्' का उल्लेख किया है और एक पद्य (लोचन में) उद्धृत भी किया है। राजशेखर ने निश्चित रूप से स्वप्नवासवदत्तम् को भास के नाम से उल्लिखित किया है।

८—इन नाटकों की संस्कृत शुद्ध शास्त्रीय नहीं है और उनमें कई अपाणिनीय प्रयोग मिलते हैं। उनकी शैली सरल है तथा कालिदास जैसी स्निग्धता लेकर नहीं आती। इन नाटकों की प्राकृत कालिदास की प्राकृत से पुरानी है।

९—इन नाटकों में भरत के नाट्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों का पूर्णतः निर्वाह नहीं हुआ है। भरत ने जिन दृश्यों को मंच पर दिखाने का निषेध किया है, उनमें से कई दृश्य इन नाटकों में दिखाए गए हैं। इससे यह स्पष्ट है कि भास के नाटक उस काल के हैं जब भरत के सिद्धान्त पूर्णतः प्रतिष्ठित न हुए थे।

भास का रचना-काल—संस्कृत साहित्य के अन्य साहित्यकारों के समान भास के रचनाकाल का प्रश्न भी अत्यन्त विवादास्पद है। फिर भी यह लगभग निश्चित ही है कि वे कालिदास के पूर्ववर्ती थे। इस कथन की पुष्टि निम्नलिखित बातों से होती है—

(१) उनकी रचना-शैली परवर्ती कृतियों की अलंकृत शैली से नितांत भिन्न है।

(२) उनकी भाषा में अनेक आर्ष एवम् अपाणिनीय प्रयोग मिलते हैं।

(३) कालिदास-कृत 'मालविकाग्निमित्र' में भास का उल्लेख मिलता है। इससे यह स्पष्ट है कि कालिदास के समय तक भास एक यशस्वी नाटककार के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे।

भास के कालिदास के पूर्ववर्ती सिद्ध हो जाने पर यह अनुमान लगाना सरल है कि उनका स्थिति-काल क्या था ? कालिदास का स्थिति-काल प्रथम शताब्दी ई० पू० लगभग निश्चित-सा हो गया है। फलतः भास को उनसे ५० वर्ष पूर्व मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। ऐसी अवस्था में यह कहा जा सकता है कि भास का समय ई० पू० दूसरी शताब्दी है।

भास की नाट्यकला—भास के नाटकों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उनकी रचनाएँ नाट्य-कला की दृष्टि से अत्यन्त रमणीय बन पड़ी हैं। उनकी रचनाओं में विषयवस्तु की विविधता है, चरित्र-चित्रण में स्वाभाविकता है तथा शैली में ओज, प्रसाद एवं माधुर्य गुणों का सहज समावेश है। आगामी पंक्तियों में इन सभी दृष्टियों से उनकी नाट्य कला का मूल्यांकन किया जाएगा।

विषय-वस्तु—प्रतिपाद्य विषय के आधार पर भास के रूपकों को चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। ये चार प्रकार निम्नलिखित हैं—

१—रामायण पर आधारित रूपक यथा प्रतिमा और अभिषेक।

२—महाभारत पर आधारित रूपक यथा बाल-चरित, पंचरात्र, मध्यम-व्यायोग, दूतवाक्य, दूतघटोत्कच, कर्णभार, उरुभंग।

३—उदयन सम्बन्धी कथाओं पर आधारित रूपक यथा स्वप्नवासवदत्तम्, प्रतिज्ञायौगन्धारायणम्

४—कल्पित रूपक यथा अविमारक तथा दरिद्रचारुदत्त।

उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि भास के रूपकों की कथावस्तु का क्षेत्र अनेक प्रकार की विविधताओं से आपूर्ण है। लेकिन इतना होते हुए भी यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि भास की सभी रचनाओं में एक जैसी कुशलता के दर्शन नहीं होते। यदि रामायण से सम्बन्धित रूपकों का कथा-संविधान बहुत शिथिल पड़ गया है तो महाभारत से संबंधित रूपकों के अध्ययन से उनकी प्रतिभा का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त होता है लेकिन भास को जितनी सफलता उदयन की रोमांटिक कथा से संबंधित रूपकों में मिली है उतनी अन्यत्र नहीं। फिर भी भास के रूपकों की समग्ररूपेण समीक्षा करने के उपरान्त यह अवश्य कहा जा सकता है कि कथानक के संविधान की दृष्टि से उनकी रचनाएँ सफल बन पड़ी हैं। घटना का ऐक्य, घटना की सार्थकता, घटनाओं की घात-प्रतिघात-गति आदि सभी दृष्टिकोणों से उनके रूपकों के कथानक सफल बन पड़े हैं।

चरित्र-चित्रण—चरित्र-चित्रण के क्षेत्र में भी भास ने अपनी निपुणता का पूर्ण परिचय दिया है। उन्होंने अपने पौराणिक पात्रों को वास्तविकता, मनो-वैज्ञानिकता तथा मार्मिकता के साथ अंकित कर बहुत प्रभावशाली बना दियाहै। लेकिन इतना होने पर भी यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि भास का उद्देश्य कार्य-संचालन है। फलतः उन्होंने चरित्र-चित्रण पर बहुत अधिक बल नहीं दिया है।

संवाद—भास के रूपकों के सम्वाद बहुत चुस्त, संक्षिप्त, अनायासपूर्ण तथा प्रभावोत्पादक हैं। इस दृष्टि से 'स्वप्नवासवदत्तम्' 'अविमारक' तथा 'उरुभंग' नाम्नी कृतियों के सम्वाद विशेषरूपेण अवलोकनीय हैं। उन्होंने किसी पद्य को पादों में या उपपादों में विभाजित कर विभिन्न पात्रों के मुख से जो सम्वाद कराये हैं वे निःसन्देह अनुपम हैं। यह प्रयोग शीघ्र उत्तर-प्रत्युत्तर तथा चुभते हुए संवादों

के लिए विशेष रूप से सफल बन पड़ा है।

भाषा—भाषा की दृष्टि से भास के नाटकों की समीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि उनके यहाँ अनेक अपाणिनीय प्रयोग विद्यमान हैं। अनेक सन्धियाँ अशुद्ध हैं, यथा—अवन्त्याधिपतेः, तमौधम्। अनेक स्थलों पर परस्मैपद तथा आत्मनेपद के प्रयोगों में अपाणिनीय रूप दृष्टिगत होते हैं, यथा —आपृच्छामि भवन्तो, कर्षमाणः, रक्षमाणा। इनमें से कुछ प्रयोग तो छन्दों की सुविधा के हेतु किए गए हैं। इस सम्बन्धों में डॉ० कीथ का कथन है कि भास के इन प्रयोगों पर संभवतः रामायण तथा महाभारत के आर्ष प्रयोगों का प्रभाव है।

भास ने अपने नाटकों में प्रायः शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग किया है। प्रतिज्ञायौगन्धरायण, चारुदत्त, बालचरित, पंचरात्र तथा कर्णभार नाटकों में मागधी का प्रयोग किया गया है।

शैली—भास की शैली के मूल गुण ओज, प्रसाद एवं माधुर्य हैं। उनकी शैली में क्लिष्ट कल्पना, समासभूयस्त्व तथा विकट-बन्धता का अभाव है। उनका पद-विन्यास स्वाभाविकता से युक्त है तथा उन्होंने शब्दों के परिमित प्रयोगों द्वारा अपने भावों को अत्यन्त मार्मिक रूप प्रदान किया है। भावों को स्वाभाविक रूप देने के लिए उन्होंने प्रायः उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा जैसे तरल और स्वाभाविक अलंकारों का ही प्रयोग किया है।

अभिनेयता—भास के रूपक रंगमंच की दृष्टि से बहुत सफल बन पड़े हैं। उनके रूपक न तो परवर्त्ती रूपकों के समान लम्बे ही हैं और न उनमें अस्वाभाविक पद्यों अथवा सम्बादों की योजना ही है। घटनाचक्र की दृष्टि से भी महाभारत, उदयन तथा प्रणयकथा वाले रूपक रंगमंच पर सफलतापूर्वक अभिनीत किए जा सकते हैं। यद्यपि वालि, दुर्योधन, कंस आदि का रंगमंच पर वध कुछ व्यक्तियों को अनुपयुक्त प्रतीत हो सकता है किन्तु ऐसा ज्ञात होता है कि भास दुर्जन पात्रों की रंगमंच पर मृत्यु दिखलाना अनुचित नहीं समझते। इसका कारण यह है कि दुष्ट पात्रों की मृत्यु से सामाजिकों पर कोई बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। भास के नाटकों में कहीं-कहीं पर दृश्य-योजना सम्बन्धी त्रुटियाँ भी देखने को मिलती हैं। लेकिन किंचित् परिवर्तन के उपरांत वे दृश्य भी सरलतापूर्वक रंगमंच पर अभिनीत किए जा सकते हैं।

संस्कृत के रूपकों का मूल लक्ष्य चारित्रिक अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण करना न होकर रसानुभूति उत्पन्न करना है। फलतः संस्कृत के रूपकों में काव्यत्व की मात्रा बहुत अधिक देखने को मिलती है। संस्कृत के अनेक रूपकों में तो काव्यत्व की मात्रा इतनी अधिक हो गई है कि रूपक अपना स्वत्व भी खो बैठे हैं। भवभूति एक ऐसे ही रूपककार हैं जो कविता के प्रवाह में बहुत अधिक बह जाते हैं। लेकिन भास के यहाँ ऐसी स्थिति नहीं है। उनके यहाँ काव्यत्व सदा सहायक बनकर ही आया है जिसके फलस्वरूप उनके कवित्वपूर्ण पद्य ऊपर से जोड़े हुए प्रतीत नहीं होते अपितु घटना-चक्र में सहायता ही प्रदान करते हैं। उनके नाटकों में मुख्यतः वीर तथा शृंगार रस का प्रयोग देखने को मिलता है और इन दोनों रसों की व्यंजना में वे पूर्णतः सफल रहे हैं।

अन्ततः कहा जा सकता है कि भास के रूपकों से उनकी प्रतिभा का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है तथा वे भास की कीर्ति को अजर-अमर बनाने में पर्याप्त समर्थ हैं।

प्रश्न ३५—शूद्रक की नाट्यकला पर एक आलोचनात्मक लेख लिखिए।

यद्यपि संस्कृत साहित्य के इतिहास में 'मृच्छकटिक' नाटक का अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण स्थान है फिर भी इसके प्रणेता शूद्रक के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। यदि कीथ और सिलवाँ लेवी विद्वानों ने शूद्रक को एक काल्पनिक पुरुष माना है तो स्कन्दपुराण के कुमारिका खण्ड, अवन्ति-सुन्दरी-कथासार आदि ग्रंथों तथा राज-शेखर, प्रो० स्टेनकोनो आदि के विचारों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि शूद्रक काल्पनिक पुरुष न होकर कोई ऐतिहासिक व्यक्ति है। इसके विपरीत एक दूसरा वर्ग यह मानता है कि शूद्रक नामक कोई व्यक्ति भले ही रहा हो परन्तु यह रचना उस व्यक्ति की नहीं है जिसे इतिहास-ग्रन्थों आदि में शूद्रक कहा गया है। डॉ० सालेतोर प्रभृति विद्वानों के मतानुसार यह कृति किसी एक व्यक्ति के द्वारा न रची जाकर दो लेखकों द्वारा रची गई है। लेकिन इन विभिन्न प्रकार के मतभेदों के रहते हुए भी आज प्रायः यही माना जाता है कि शूद्रक कोई काल्पनिक व्यक्ति न होकर ऐतिहासिक व्यक्ति ही है और वही मृच्छ-कटिक का प्रणेता है। विद्वानों का यह भी अनुमान है कि वह कालिदास से पहले हुआ है तथा उसका स्थिति-काल द्वितीय शताब्दी ई० पू० है।

मृच्छकटिक के प्रणेता के सम्बन्ध में विद्वानों में भले ही कितना ही मतभेद क्यों न हो किन्तु इस सम्बन्ध में सभी विद्वान एकमत हैं कि रचना-नैपुण्य की दृष्टि से यह एक अनूठी कृति है। देश-विदेश के अनेक विद्वानों ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है। स्वर्गीय पं० जवाहरलाल नेहरू ने भी अपनी पुस्तक 'डिस्कवरी आफ इण्डिया' में नाट्य-कला के प्रसिद्ध आलोचक जौसेफ क्रुच द्वारा दिए गए इस अभिमत को उद्धृत किया है, "इस प्रकरण को देखने से हमें नाट्यकला के शुद्ध स्वरूप का दर्शन होता है जोकि पूर्व की पश्चिम के प्रति एक अमूल्य देन है। इसके रचयिता के समय के विवाद में न पड़ते हुए भी हमें निर्विवाद रूप से स्वीकार करना पड़ता है कि वह एक परम विद्वान व्यक्ति था जिसने जनता के हृदय का सूक्ष्म गंभीर अध्ययन किया था। इस प्रकार का रूपक एक बहुत ही उच्च राजनीतिक सभ्यता में निर्मित हुआ होगा जिसके समक्ष अंग्रेजी के अमर नाटककार शेक्सपीयर के मैकबेथ और औथेलो जैसे ग्रंथ भी निम्न ही प्रतीत होते हैं।" और इस प्रकार प्रजानांतर से कृति की प्रशंसा की है।

स्वदेश और विदेश के विद्वानों से प्रशंसित इस रूपक की सर्वप्रमुख विशेषता यह है कि इसमें अन्य रूपकों के समान दैवी, काल्पनिक अथवा दरबारी वातावरण को कथावस्तु के रूप में ग्रहण नहीं किया गया है अपितु आदर्श ब्राह्मण चारुदत्त तथा वसन्तसेना नाम्नी सर्वगुणसंपन्न वारांगना की प्रणय-कथा के माध्यम से तद्युगीन सामाजिक अवस्था का अत्यन्त सजीव अंकन किया गया है। इतना ही नहीं, वस्तु-विधान की दृष्टि से भी यह रचना अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी है। संपूर्ण संस्कृत-साहित्य में किसी भी अन्य नाटक में न तो इतनी सनसनीपूर्ण तथा प्राणवान घटनाओं का संयोजन ही किया गया है और न घटना-चक्र का नियोजन ही ऐसा है कि पाठक एवम् प्रेक्षक का कौतूहल निरन्तर बना रहे। वस्तु-विन्यास की सर्वप्रमुख विशेषता यह होती है कि प्रासंगिक कथाएँ मुख्य कथानक से मिली तो रहें किन्तु कहीं पर भी वे उस पर हावी न हो जाएँ। इस नाटक की मुख्य कथा वसंतसेना और चारुदत्त की प्रणय-कथा है तथा शर्विलक और मदनिका की प्रणय-कथा प्रासंगिक कथा है। अत्याचारी राजा पालक के उन्मूलन तथा गोपाल-पुत्र आर्यक के राज्यारोहण से सम्बन्धित राजनीतिक क्रांति वाली कथा भी प्रासंगिक कथा है। लेकिन ये दोनों उपकथाएं मूल कथा को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुंचातीं। वस्तुतः ये कथानक तो मुख्य प्रणय-कथा के लिए एक ऐसा रंगीन आधार-

फलक प्रस्तुत करते हैं, जिससे मुख्य कथानक का सौन्दर्य द्विगुणित हो उठता है।

वस्तु-नियोजन ही नहीं चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह रूपक अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। इसमें समाज के विभिन्न वर्गों के पात्र राजदरबारी, सभ्य ब्राह्मण, चोर, लुटेरे, वेश्या, न्यायाधीश, पुलिस के सिपाही आदि हैं।

विभिन्न पात्रों का समावेश तो किया ही गया है, साथ ही उनके व्यक्तित्व भी अत्यन्त स्पष्ट हैं। ध्यातव्य है कि अधिकांश पात्र समाज के निम्न वर्गों से गृहीत हैं तथा प्रत्येक पात्र पाठक तथा प्रेक्षक के मत पर अपनी ऐसी अमिट छाप छोड़ता है कि वह उसे भूल नहीं पाता।

रस-व्यंजना संस्कृत रूपकों का प्राणतत्त्व है। मृच्छकटिक एक उच्चकोटि का रूपक है। फलतः इसमें रस-व्यंजना भी अत्यन्त सहज है। इसका अंगीरस शृंगार है और यह अपने दोनों उपभेदों—संयोग एवम् वियोग शृंगार—के साथ नियोजित है। करुण, भयानक, अद्भुत, बीभत्स और हास्य रस अंग रूप में मिलते हैं। छठे अंक में वीरक तथा चन्दनक के झगड़े में हास्यरस का, आठवें अंक में शकार के चंगुल में फंसी वसन्तसेना वाले प्रसंग में भयानक रस का, नवें अंक में 'दृष्टं मया स्त्री कलेवरम्' आदि प्रसंग के अन्तर्गत बीभत्स रस का, दशम अंक में चारुदत्त को वधस्थल तक ले जाते समय करुणरस का तथा दूसरे अंक में कर्णपूरक-द्वारा मतवाले हाथी से परिव्राजक की रक्षा में अदभुत रस का अत्यन्त मनोहारी समावेश है।

भाषा-शैली की दृष्टि से शूद्रक की सबसे बड़ी विशेषता उसकी सरलता एवं सप्टता है। उसने सरल भाषा-शैली के माध्यम से ही मार्मिक भावों की व्यंजना की है और इस दिशा में उसे पूर्ण सफलता भी मिली है। पात्रानुकूल भाषा रखने के कारण ही उसने अनेक प्रकार की प्राकृतों का प्रयोग किया है। वसन्तसेना, मदनिका, कर्णपूरक, धूता और रदनिका शौरसेनी प्राकृत प्रयोग में लाते हैं तो स्थावरक संस्थानक, कुम्भीलक, वर्धमानक, राहसेन और चाण्डाल ने मागधी प्राकृत का प्रयोग किया है। वीरक और चन्दनक शकार तथा विदूषक ने क्रमशः अवन्तिका, शकारी और प्राच्य प्राकृत प्रयुक्त की है तो विट, आर्यक, चारुदत्त, शार्विलक नामक पात्र शुद्ध संस्कृत का प्रयोग करते हैं।

कथनोपकथन एवम् अभिनेयता की दृष्टि से भी यह रूपक अत्यन्त सफल है। इसमें लम्बे-लम्बे कथनोपकथनों के स्थान पर संक्षिप्त एवम् स्वाभाविक कथनोप-

कथन का समावेश किया गया है। इसमें काव्यात्मक स्थलों में समासबहुल शब्दावली की संख्या भी अत्यल्प है तथा इन्हीं गुणों के कारण यह अभिनय की दृष्टि से अत्यन्त सफल कृति माना जा सकता है। यदि अभिनय की दृष्टि से इसमें कोई दोष है तो केवल इतना कि इसका आकार बहुत बड़ा हो गया है तथा एकाध स्थलों पर ऐसे दृश्यों का समावेश कर दिया गया है जिन्हें रंगमंच पर प्रस्तुत करना कठिन हो सकता है।

अंततः कहा जा सकता है कि शूद्रक कृत मृच्छकटिक संस्कृत-साहित्य की एक गौरवपूर्ण रचना है।

प्रश्न ३६—कालिदास की नाट्यकला पर एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए।

कालिदास संस्कृत साहित्य के सर्वोत्कृष्ट नाटककार हैं तथा सम्पूर्ण विश्व-साहित्य में हलचल मचा देने का श्रेय भी इन्हें प्राप्त है। मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम् उनकी नाट्यकला के तीन सोपान हैं और शाकुन्तलम् उनकी अक्षय कीर्ति का स्थायी स्तम्भ है। वस्तुयोजना, चरित्र-चित्रण, रसाभिव्यंजना शैली-शिल्प एवं अभिनेयता की दृष्टि से कालिदास की रचनाएँ अनुपम हैं और किसी भी साहित्य के लिए गौरव एवम् अभिमान का कारण बन सकती हैं। आगामी पंक्तियों में इन्हीं विभिन्न दृष्टियों से उनकी रचनाओं का मूल्यांकन किया जाएगा।

यद्यपि वस्तु-योजना की दृष्टि से कालिदास की सभी रचनाएँ अत्यन्त सुगठित हैं किन्तु फिर भी यह ध्यातव्य है कि मालविकाग्निमित्र का वस्तु-संविधान उतना प्रौढ़ नहीं है जितना विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम् का। इसका एक कारण यह हो सकता है कि मालविकाग्निमित्र लेखक की आरम्भिक कृति है जबकि शेष दो परवर्ती कृतियाँ हैं। परन्तु यदि तनिक गंभीरता से विचार किया जाए तो यह मानना पड़ेगा कि कालिदास मालविकाग्निमित्र में नाटककार अधिक रहे हैं, कवि कम; जबकि अन्य दोनों रचनाओं में उनका कविरूप अधिक मुखर हो उठा है। मालविकाग्निमित्र का सारा कार्य-व्यापार अत्यन्त क्षिप्र है जबकि विक्रमोर्वशीय में कहीं-कहीं पर कार्य-व्यापार में गति अत्यन्त मन्द हो गई है। विक्रमोर्वशीय के दूसरे और तीसरे अंक हमारे इसी कथन के साक्षी हैं।

लेकिन 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में लेखक की प्रतिभा प्रौढ़ता को प्राप्त कर लेती है। 'शाकुन्तलम्' का सारा कथानक इतना सुगठित है कि उसमें से किसी भी अंश को निकाला नहीं जा सकता। उसमें छोटी से छोटी घटना का अपना अस्तित्व है और उसमें इतनी शक्ति है कि मूल कथानक से पृथक् कर देने पर वह सम्पूर्ण कृति के स्वरूप को ही छिन्न-भिन्न कर दे।

पात्र-योजना एवम् चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी कालिदास के सभी रूपक अत्यन्त श्रेष्ठ बन पड़े हैं। उन्होंने पात्रों का चयन जीवन और जगत् के विभिन्न क्षेत्रों से किया है। यही कारण है कि यदि कहीं स्नेहशील कण्व के माध्यम से पिता का संतति-प्रेम विचित्र है तो अन्यत्र पुलिस-अधिकारियों का यथार्थ चरित्र। इसी प्रकार से यदि कहीं औशीनभी, धारिणी तथा देवी वसुमति के माध्यम से भारतीय नारी के आदर्श का आकलन है तो अन्यत्र स्वाभिमानी धीमर तथा प्रिया-वियुक्त राजा पुरुरवा का करुण विलाप। इतना ही नहीं, पात्रों का चित्रण इस रूप में किया गया है कि वे पाठक के सामने साकार हो उठते हैं। अग्निमित्र, दुष्यन्त, पुरुरवा, उर्वशी, मालविका, धारिणी, अनुसूया, प्रियंवदा, शकुन्तला आदि ऐसे ही पात्र हैं जो पाठक के मन में एक वार साकार होकर अपना स्थायी निवास-स्थान बना लेते हैं।

कालिदास की रचनाओं में नायक का गौरवशाली पद राजा को ही दिया गया है। उनके तीनों रूपकों के नायक राजा हैं और संयोगवश तीनों ही प्रणय-प्रार्थी हैं। लेकिन इतना होने पर भी वे केवल विलासी नहीं कहे जा सकते। उदाहरण के लिए 'शाकुन्तलम्' के नायक दुष्यन्त को ही लिया जा सकता है। वह रसिक तो है, किन्तु अपनी मर्यादा का सदैव ध्यान रखता है। यही कारण है कि शकुन्तला के प्रथम दर्शन के वाद ही वह इस सोच-विचार में डूवा रहता है कि उससे क्षत्रिय का विवाह हो सकता है अथवा नहीं। इन्द्र का सन्देश सुनने के वाद वह अपनी सारी व्यक्तिगत वेदना भुलाकर कर्त्तव्य-प्रेमी राजा के समान राक्षसों से युद्ध के लिए प्रयाण कर देता है।

रूपक के तीसरे प्रमुख तत्त्व रस-योजना की दृष्टि से भी कालिदास की रचनाएं अत्यन्त उच्च कोटि की हैं। उनके तीनों रूपकों में रस की अत्यन्त हृदयग्राही एवं सरस व्यञ्जना है। तीनों ही रूपकों का अंगीरस शृंगार है और वह अपने

दोनों पक्षों–संयोग एवं वियोग–के साथ व्यंजित हुआ है। संयोग शृंगार में लेखक जहाँ एक ओर प्रेमी-प्रेमिका के पारस्परिक हास-परिहास तथा क्रिया-कलापों आदि का वर्णन करता है वहाँ दूसरी ओर रूप-सौंदर्य के अंकन की ओर भी ध्यान दिया करता है। कालिदास के रूपकों में पात्रों के क्रियाकलाप एवं वचन-चातुरी को ही प्रमुखता मिली है। वस्तुतः प्रेमी-प्रेमिका के मधुर सम्बन्धों को व्यक्त करने में कालिदास ने बहुत अधिक कौशल का परिचय दिया है। विक्रमोर्वशीय में उर्वशी के उत्कट एवम् असंयत प्रेम की व्यंजना में लेखक ने कमाल कर दिया है। शाकुन्तलम् नाटक में भी राजा दुष्यन्त का छिपकर सखियों की बातचीत सुनने तथा शकुन्तला का बहाना बनाकर कुछ देर के लिए रुक-रुक जाने में प्रेमी-प्रेमिकाओं के क्रियाकलापों का अंकन लेखक की पैनी दृष्टि का परिचायक है। इसी प्रकार से दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला के रूप-सौंदर्य सम्बन्धी वर्णनों के माध्यम से भी संयोग शृंगार की व्यंजना को पर्याप्त बल प्राप्त हुआ है। संयोग शृंगार ही नहीं वियोग शृंगार की दृष्टि से भी कालिदास की नाट्य-रचनाएँ अत्यन्त सजीव हैं। उनमें न तो अस्वाभाविकता ही है और न ही अनुपयुक्तता।

शृंगार के अतिरिक्त वीर, भयानक, करुण, वात्सल्य एवं हास्य रसों की हृदयग्राही योजना भी कालिदास के यहाँ मिलती है। हास्यरस का समावेश विदूषक के क्रियाकलापों एवं उक्तियों के माध्यम से किया गया है; तो करुण रस की योजना मर्मस्पर्शी घटनाओं के माध्यम से हुई है। शकुन्तला की विदाई का दृश्य एक ऐसा ही घटना-स्थल है जिसमें पाठकों के हृदय को द्रवित करने की पूर्ण क्षमता विद्यमान है। वात्सल्य रस का सरस चित्र अभिज्ञानशाकुन्तलम् के सातवें अंक में देखने को मिलता है। इसी प्रकार से अन्य रसों से संबद्ध हृदयग्राही एवं सजीव शब्द-चित्र यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं।

कालिदास के रूपकों की प्रसिद्धि का एक कारण यह है कि उनकी शैली अत्यन्त मनोहारिणी है। उन्होंने माधुर्य तथा प्रसाद गुणों को चरम सीमा तक पहुँचा दिया है। वैदर्भी रीति के क्षेत्र में तो उनकी समता मिलना बहुत कठिन है। इस दिशा में उनके सम्बन्ध में कहा गया यह वाक्य 'वैदर्भी रीति संदर्भे कालिदासो विशिष्यते' पूर्णतः सत्य है। उनकी भाषा पात्रानुकूल, सरल तथा व्यंजनापूर्ण है। उनकी वर्णन-शैली अत्यन्त मर्मस्पर्शी है। मानव-भावों के सूक्ष्म से सूक्ष्म रहस्यों के उद्घाटन में वे अनुपम हैं। प्रकृति-वर्णन सम्बन्धी स्थलों के लिए

रूपक में अधिक अवकाश नहीं होता किन्तु उन्होंने जहाँ कहीं ऐसे स्थलों का समावेश किया है। वहीं काव्य एवं नाट्य गुणों को एक साथ सफलतापूर्वक प्रस्तुत कर दिया है।

अभिनेयता के गुण का भी कालिदास की रचनाओं में अभाव नहीं है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उनमें न तो समासान्त पदावली वाले लम्बे-लम्बे समास हैं और न पाण्डित्य-प्रदर्शन करने वाले कठिन स्थल। कहीं-कहीं पर आकाश में उड़ते रथ आदि के वर्णन से जो व्याघात पहुँच सकता है, उसका निराकरण भी सहज ही में किया जा सकता है। प्रथम तो आज की विकसित यंत्रीय-प्रक्रिया के फलस्वरूप उन्हें दिखलाना एकदम असंगत नहीं है। दूसरे, उनमें किंचित् सा संशोधन भी किया जा सकता है।

अन्ततः कहा जा सकता है कि कालिदास के रूपक उनके गौरव के सर्वथा अनुकूल हैं।

प्रश्न ३७—भवभूति की नाट्य-कला पर एक आलोचनात्मक लेख लिखिए।

संस्कृत-साहित्य के इतिहास में नाट्य-रचना के क्षेत्र में कालिदास के उपरान्त भवभूति की ही गणना की जाती है। उनके नाटकों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वे तैत्तिरीय शाखा के अनुयायी थे। उनका गोत्र काश्यप था तथा कुल उदुम्बर। वे पद्मपुर के निवासी थे। उनका अध्ययन बहुत विशाल था। व्याकरण, अलंकारशास्त्र, न्याय, मीमांसा, वेद, उपनिषद्, सांख्य और योग में वे पूर्णतः निष्णात थे। उनकी रचनाओं के अध्ययन से ऐसा ज्ञात होता है कि उन्हें अपने जीवन में अनेक बार अनादर सहन करना पड़ा था। आलोचकों ने उनकी रचनाओं की कटु आलोचना की थी। लेकिन उन्होंने उन आलोचकों की कटु आलोचना की कोई चिन्ता न की बल्कि उपेक्षा ही की है। 'मालती-माधव' नाटक में अपने आलोचकों को फटकार बतलाते हुए उन्होंने लिखा है—

ये नाम केचिदिह न प्रथयन्त्यवज्ञां जानन्ति ये किमपि तान् प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोऽपि समानधर्मा कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥

अर्थात् "मैं यह प्रयास तुम लोगों के लिए नहीं कर रहा हूं। मेरा विश्वास है कि मेरे जैसा हृदय और मेरी जैसी प्रतिभा रखने वाला कोई पुरुष कभी अवश्य पैदा

होगा क्योंकि समय का कोई अन्त नहीं और यह पृथ्वी भी बहुत बड़ी है।"

भवभूति की तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं—(क) महावीरचरित, (ख) मालती-माधव, (ग) उत्तररामचरित। ये तीनों रचनाएँ रूपक हैं। इन तीनों रूपकों में मालती-माधव तो एक प्रकरण है तथा शेष दो नाटक। नाटकीय संविधान की दृष्टि से ये तीनों रचनाएं शिथिल हैं। वस्तुतः भवभूति के नाटककर्तृत्व का अध्ययन करते समय हमें यह न भूलना चाहिए कि भवभूति शुद्ध नाटककार न होकर गीतिनाट्यों के प्रणेता हैं। फलतः उनके यहाँ कवियों की-सी भाव-तरलता अधिक है। भवभूति और कालिदास में मुख्य अन्तर यही है कि कालिदास का कवि नाटकीय संविधान पर हावी होकर उसे विकृत नहीं बना देता किन्तु भवभूति का कवि-हृदय नाटकीय संविधान की कोई चिन्ता नहीं करता।

ऊपर कहा जा चुका है कि भवभूति मूलतः कवि हैं। वे जहाँ एक ओर संयोग तथा वियोग शृंगार एवं करुण रस की कोमलता को व्यञ्जित करने में पटु हैं वहाँ दूसरी ओर वीर, रौद्र तथा बीभत्स का अंकन करने में भी अपने पूर्ण कौशल का परिचय देते हैं। दाम्पत्य-प्रणय के संयोग तथा वियोग दोनों अवस्थाओं के चित्र प्रस्तुत करने में उत्तररामचरित अनुपम है। उत्तररामचरित के प्रथम अंक में संयोग शृंगार का अत्यन्त सरस वातावरण उपस्थित किया गया है। इसी प्रकार के शृंगार के वियोग पक्ष का चित्रण हमें उस स्थल पर देखने को मिलता है जब परम प्रेयसी सीता को वनवास देने के उपरान्त राम उसके वियोग में बहुत दुःखी हो उठते हैं। महावीरचरित तथा उत्तररामचरित में कुछ स्थलों पर वीर रस और रौद्र रस की अभिव्यंजना बहुत सफल हुई है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित अवतरण को लिया जा सकता है जिसमें लव की वीरता का अत्यन्त सुन्दर चित्रण है—

ज्याजिह्वया बलयितोत्कटकोटिदंष्ट्रमुद्गारिघोरघनघर्घरघोषमेतत्।
ग्रासप्रसक्तहसदन्तकवक्त्रयन्त्रजृम्भाविडम्बिविकटोदरमस्तु चापम्॥

(उत्तररामचरितम् ४।२६)

इसी प्रकार के महावीरचरित में परशुराम द्वारा कथित निम्नलिखित रौद्र-व्यंजक उक्ति रौद्र रस की अभिव्यंजना में पूर्णतः समर्थ है—

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ यावद्विशलितथकृत्क्लोमपृक्कास्त्रगात्रः
स्नायुग्रन्थ्यस्थिशल्कव्यतिकरितजरत्कन्धरादत्तखण्डः ।
मूर्धच्छेदादुदंचद्गलधमनिशिरासक्तडिण्डीरपिण्ड—
प्रायासृग्भारघोरं पशुमिव परशुः पर्वशस्त्वां भृणातु ।।

(महावीरचरितम् ३।३२)

वीर तथा रौद्र रस के समान बीभत्स रस की व्यंजना में भी भवभूति अत्यन्त दक्ष हैं। संस्कृत साहित्य में बीभत्स रस सम्बन्धी स्थल बहुत अल्प मात्रा में मिलते हैं किंतु भवभूति ने इस क्षेत्र में भी कमाल का कौशल दिखलाया है। मालती-माधव के पाँचवें अंक में श्मशान भूमि के प्रेतों का जो चित्रण किया गया है वह निःसंदेह बीभत्स रस की चर्वणा कराने में पर्याप्त समर्थ है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित अवतरण को लिया जा सकता है—

उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूत्सेधभूयांसि मांसा-
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिंडाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा ।
आर्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरंकः करंका-
दंकस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ।।

(मालती-माधव ५।१६)

लेकिन यह सब होते हुए भी यह नहीं भूलना चाहिए कि भवभूति के काव्य का अंगी रस करुण ही है। इस क्षेत्र में उनकी समानता करने वाला कोई अन्य कवि नहीं है। गोवर्धनाचार्य ने उनके करुण रस की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

भवभूतेः सम्बन्धाद् भूधरभूरेव भारती भाति ।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा ।।

(आर्यासप्तशती १।३६)

यद्यपि 'उत्तररामचरित' करुण रस की व्यंजना करने वाली सर्वश्रेष्ठ कृति है तथा यह आद्यंत करुण रस से आपूर्ण है किन्तु इसका तीसरा अंक तो जैसे करुण रस का अगाध सागर ही है। इस अंक में करुण रस की जैसी मार्मिक और गंभीर व्यंजना हुई है वैसी शायद ही अन्यत्र हुई हो। वस्तुतः भवभूति का करुण रस उस

पुटपाथ के सदृश है जिसके भीतर तीव्र अन्तर्वेदना प्रज्वलित हो रही है। यह वेदना अन्तस्तल में अनी के समान चुभकर दारुण वेदना तो उत्पन्न करती है लेकिन अमर्यादित उद्वेग अथवा अनर्गल प्रलाप का रूप कभी धारण नहीं करती।

भवभूति ने जिस प्रकार से रस व्यंजना के क्षेत्र में कोमल तथा कठोर दोनों ही रसों को अपनाया है, उसी प्रकार से प्रकृति के दोनों रूपों—कोमल और कठोर—को देखने में भी उनकी दृष्टि चूकी नहीं है। वस्तुतः उनकी दृष्टि इतनी पैनी है कि जहाँ वे एक ओर कमल-वनों को कम्पायमान करने वाले मल्लिकाक्ष हंसों अथवा वृक्ष की शाखाओं पर झूमते शकुन्तों की कोमल भंगिमा को निहारते हैं वहाँ दूसरी ओर प्रचण्ड ग्रीष्म-ऋतु में अजगर के पसीने को पीते हुए प्यासे गिरगिटों को देखना भी नहीं चूकते। इसी प्रकार से दण्डकारण्य का चित्रण करते समय उन्होंने उसके दोनों रूपों—कोमल एवम् कठोर—का चित्रण किया है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भवभूति के नाटकों की समीक्षा करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने अपने पात्रों के व्यक्तित्व तथा चरित्र को प्रस्फुटित करने का कोई विशेष प्रयास नहीं किया। फलतः उनके अधिकांश पात्र नाटक के कार्य का निर्वाह मात्र करते हैं। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से महावीरचरित नाम्नी कृति अत्यन्त दुर्बल रचना है, किन्तु 'उत्तररामचरित' के कतिपय चरित्र निःसंदेह अत्यन्त श्रेष्ठ बन पड़े हैं। राम, सीता, जनक तथा कौशल्या उत्तररामचरित के ऐसे पात्र हैं जिनका चरित्र अत्यन्त प्रभावशाली बन पड़ा है।

भाषा पर भवभूति का असाधारण अधिकार दृष्टिगत होता है। अवसरानुकूल भाषा का प्रयोग करने में वे सिद्धहस्त हैं। यदि भयंकर युद्ध-वर्णन के समय वे दीर्घकाय समासों से युक्त तथा ओजगुण से सम्पन्न क्लिष्ट पद्यों की रचना करते हैं तो सुकुमार भावों की व्यंजना करते समय समासरहित सरल एवं मधुर पदावली का प्रयोग करते हैं वे जिस सरलता से 'कूजत्क्लान्त कपोतकुक्कुटकुलाः कूले कुलायद्रुमाः' जैसी समासबहुला क्लिष्ट पदावली का प्रयोग करते हैं, उसी सरलता से 'वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथव तथा जड़े' के समान सरल एवं समास रहित पदावली की योजना भी करते हैं। कभी कभी तो उनकी इस

भाषा-निपुणता का परिचय एक ही पद्य में उपलब्ध हो जाता है जब वे पूर्वार्धं में तो कोमल भावों के प्रकाशन के लिए वैदर्भी रीति की कोमलकान्त पदावली का आश्रय लेते हैं और उत्तरार्ध में वीरोल्लास की भावना को व्यंजित करने के लिए गौड़ी की गाढ़बन्धना का आश्रय लेते हैं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित अवतरण को लिया जा सकता है—

यथेन्दावानन्दं व्रजति समुपोढे कुमुदिनी
तथैवास्मिन्दृष्टिर्मम कलहकामः पुनरयम्।
रणत्कारक्रूरक्वणितगुणगुञ्जद्गुरुधनु-
र्धृतप्रेमा बाहुर्विकचविकरालव्रणमुखः॥

(उत्तररामचरित ५।२६)

वस्तुत: भवभूति के ऐसे वर्णनों को पढ़ने के उपरांत ऐसा प्रतीत होता है कि भाषा उनकी चेरी है, वह उसे जैसा चाहते हैं मोड़ लेते हैं, उसकी यह सामर्थ्य नहीं कि उनके सामने चूँ-चपड़ कर सके।

भवभूति व्याकरण, न्याय तथा मीमांसा आदि विभिन्न शास्त्रों के प्रकाण्ड ज्ञाता थे। फलत: उनकी प्रसिद्ध रचना 'उत्तररामचरित' में ऐसे शब्दों का प्रयोग भी दृष्टिगत होता है जो अमरकोष तक में उपलब्ध नहीं होते। 'आकूत,' 'उत्पीड़,' 'कन्दल,' 'कुम्भीनस,' 'प्रतिसूर्यक' आदि कुछ ऐसे ही शब्द हैं।

शैली का आदर्श बतलाते हुए भवभूति ने कहा है—

यत्प्रौढित्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवम्।
तच्चेदस्ति ततस्तदेव गमकं पाण्डित्यवैदग्ध्ययोः॥

अर्थात् भाषा का प्रौढत्व, व्यंजना-प्रणाली का औदार्य और अर्थगौरव ही पाण्डित्य एवं वैदग्ध्य के परिचायक हैं। यदि भवभूति की रचनाओं को इस कसौटी पर कसा जाए तो वे नि:संदेह खरी उतरेंगी। उनकी भाषा में प्रौढ़ता, शब्द-विन्यास में प्रांजलता तथा भावों में गरिमा के दर्शन होते हैं; परम्परायुक्त-प्रणाली का अनुगमन न कर नवीन एवं मौलिक कल्पनाओं की उद्भावना करते हैं। वे किसी अवस्था-विशेष अथवा भाव-विशेष का ऐसा सजीव तथा क्रमबद्ध रूप प्रस्तुत करते हैं कि पाठक के समक्ष चित्र-सा समुपस्थित हो जाता है। कभी-कभी तो वे इतनी गहराई तक पहुँचते हैं कि अन्तस्तल में उठने वाले विभिन्न

भावों को एक ही पद्य में उपस्थित कर देते हैं। उत्तररामचरित में तृतीय अंक का निम्नलिखित श्लोक ऐसा ही श्लोक है जिसमें कवि ने इस तथ्य का अंकन किया है कि बारह वर्ष के दीर्घ वियोग के उपरांत दण्डकारण्य में अपने प्राणनाथ राम का साक्षात्कार करते समय सीता के अन्तस्तल में कितने विभिन्न प्रकार के भावों का संचार हो रहा था—

तटस्थं नैराश्यादपि च कलुषं विप्रियवशाद्-
वियोगे दीर्घेऽस्मिन् झटिति घटनोत्तम्भितमिव।
प्रसन्नं सौजन्याद्दयितकरुणैर्गाढ-करुणं
द्रवीभूतं प्रेम्णा तव हृदयमस्मिन् क्षण इव॥

(उत्तर रामचरितम् ३।१३)

भवभूति की शैली की एक अन्य विशेषता यह है कि वे अपने पद्यों में भी अर्थानुकूल ध्वनि उत्पन्न करने में समर्थ हैं। उनके शब्दों में प्रतिपाद्य विषय की झंकार स्पष्ट सुनी जा सकती है। जिस समय वे तूफान अथवा रणक्षेत्र के भयावह दृश्यों का शब्दांकन करते हैं उस समय ऐसा प्रतीत होता है मानो वास्तव में तूफान आ गया है अथवा रण-भूमि में युद्ध हो रहा है।

भवभूति ने अपनी शैली में कहीं-कहीं हास्य-व्यंग्यात्मक शैली का आश्रय भी लिया है। लेकिन उनकी हास्य-व्यंग्यात्मक शैली की विशेषता यह है कि उसमें कहीं पर भी अशिष्टता नहीं आने पाई है। उनके व्यंग्य बहुत मार्मिक तथा हास्य बहुत शिष्ट है। उनका गम्भीर हास्य स्मित की सीमाओं तक ही सीमित रहता है।

भवभूति ने छन्दों के प्रयोग में भी बहुत सतर्कता एवं प्रवीणता दिखलाई है। शिखरिणी छन्द तो उन्हें विशेष रूप से प्रिय है। क्षेमेन्द्र ने उनके इस छन्द की प्रशंसा भी बहुत की है—

भवभूतेः शिखरिणी निरर्गलतरंगिणी।
रुचिरा घनसंदर्भे या मयूरीव नृत्यति॥

(सुवृत्ततिलक ३।३३)

अन्ततः कहा जा सकता है कि भवभूति का संस्कृत साहित्य के इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। डा० भोलाशंकर व्यास के शब्दों में, "भवभूति का

व्यक्तित्व संस्कृत साहित्य में जीवन की मधुरता और कटुता, अन्तःप्रकृति तथा बाह्य प्रकृति के कोमल और विकट दोनों रूपों का ग्रहण करने की क्षमता रखता है, भवभूति वह 'श्रीकण्ठ' है, जिसने एक साथ चन्द्रकला की शीतल सरसता और विषय की तिक्तता दोनों को—जीवन के उल्लासमय तथा वेदनाव्यथित दोनों तरह से पहलुओं को—सहर्ष अंगीकार किया है।"

प्रश्न ३८—निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—

(क) अश्वघोष, (ख) हर्ष, (ग) विशाखदत्त, (घ) भट्टनारायण, (ङ) मुरारि, (च) दामोदर मिश्र, (छ) राजशेखर, (ज) कृष्ण मिश्र, (झ) जयदेव, (ञ) वत्सराज।

अश्वघोष—अश्वघोष की गणना संस्कृत के प्रथम बौद्ध नाटककार के रूप में की जाती है। इनका स्थिति-काल ईसा की प्रथम शताब्दी को था। अश्वघोष को नाटककार के रूप में मान्यता प्रदान करने का श्रेय प्रो० लूडर्स को है जिन्होंने सन् १६१० में मध्य एशिया के तूर-धान नामक स्थान में अश्वघोष के तीन नाटक ढूंढ निकाले। परन्तु इन तीनों नाटकों में से केवल एक ही अर्थात् शारिपुत्रप्रकरण ही पूर्ण रूप में उपलब्ध होता है। शेष दो के तो खण्डित अंश ही मिल पाए हैं और उनके नाम तक का पता नहीं चलता। लेकिन फिर भी यह अवश्य ज्ञात होता है कि एक तो 'मृच्छकटिक' की भाँति वेश्यानायिकात्मक है जिसमें मागधवती नामक वेश्या तथा कौमुदग्रंध नामक विदूषक आदि पात्र हैं तथा दूसरा 'प्रबोध-चन्द्रोदय' के समान रूपकात्मक है जिसमें बुद्धि, धृति, कीर्ति और बुद्ध पात्रों के रूप में चित्रित किए गए हैं।

शारिपुत्रप्रकरण में शारिपुत्र और मौद्गल्यायन के भगवान् बुद्ध से उपदेश ग्रहण कर बौद्ध धर्म में दीक्षित होने का वर्णन है। यत्र-तत्र बौद्ध सिद्धान्तों की शिक्षा भी दी गई है। संस्कृत के अन्य नाटकों की भाँति इसमें नान्दी, प्रस्तावना, सूत्रधार, विभिन्न प्राकृतों का प्रयोग आदि सभी नाटकीय लक्षण पाए जाते हैं। हाँ, अन्त में भरत वाक्य का प्रयोग प्राप्त नहीं होता।

अश्वघोष के रूपकों में यत्र-तत्र कतिपय अशुद्धियाँ भी दृष्टिगत होती हैं जो संभवतः प्राकृत भाषाओं के प्रभाव के फलस्वरूप हुई है। कुछ स्थलों पर आर्ष प्रयोग भी दृष्टिगत होते हैं।

हर्ष—इनका समय ६०६-६४८ ई० है। ये कवियों के आश्रयदाता ही न थे

प्रत्युत् स्वयं भी सरस्वती देवी के उपासक थे। ये वाणभट्ट, मयूरभट्ट तथा मतंग दिवाकर के आश्रयदाता थे। कन्नौज तथा समग्र उत्तरी भारत पर राज्य करते थे। इन्होंने तीन रूपकों का प्रणयन किया। ये रचनाएं हैं—प्रियदर्शिका, रत्नावली, नागानन्द। कतिपय आलोचक इन रचनाओं को हर्ष प्रणीत न मानकर यह मानते हैं कि उन्होंने अपने आश्रित वाण आदि से लिखवाकर इन्हें अपने नाम से प्रचलित कर दिया। परन्तु हर्ष स्वयं एक अच्छे लेखक थे। वाण ने उनकी काव्य-चातुरी की प्रशंसा अपने हर्षचरित में की है। जयदेव ने उन्हें कविता-कामिनी का हर्ष कहा है। सोड्ढल ने हर्ष को 'श्रीहर्ष' की उपाधि से विभूषित किया है। अतः हम निस्सन्देह कह सकते हैं कि इन तीनों रचनाओं का प्रणयन श्रीहर्ष ने ही किया है। इन रचनाओं का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है।

(अ) प्रियदर्शिका—रचना-क्रम की दृष्टि से प्रियदर्शिका (राजा) हर्ष की प्रथम कृति है। चार अंकों में विभाजित इस नाटक में राजा वत्स के अन्तःपुर की प्रणय-गाथा गुंफित है। यह गाथा इस प्रकार है—

प्रियदर्शिका के पिता युद्ध में पराजित होते हैं और विजेता राजा वत्स के अन्तःपुर में प्रियदर्शिका आरण्यका नाम से रानी की दासी बनकर रहती है। हर्ष उस पर मुग्ध हो जाते हैं। अन्तःपुर में वत्स का वासवदत्ता के साथ एक अभिनय खेला जाता है। उसमें राजा वत्स स्वयं वत्स बनते है और आरण्यका वासवदत्ता बनती है। रानी दोनों का प्रेम जान जाती है और आरण्यका को राजा से दूर रखने के लिए वन्दीगृह में डाल देती है। अन्त में यह जानकर कि आरण्यका राज-कुलोत्पन्न है रानी स्वयं राजा का विवाह प्रियदर्शिका के साथ होने की अनुमति देती है और उनका विवाह हो जाता है।

यद्यपि रचना-नैपुण्य तथा कल्पना-वैभव की दृष्टि से यह कृति हर्ष की कृतियों के समकक्ष नहीं ठहरती, किन्तु फिर भी रोचक घटनाओं, वस्तु-रचना की सरलता एवं प्रासादिक शैली के कारण अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी है।

(ब) रत्नावली—चार अंकों की इस नाटिका में वत्सराज उदयन तथा उनकी रानी वासवदत्ता की परिचारिका सागरिका की रोचक प्रणय-गाथा का अंकन है। फलतः नाटक शृंगार रस-प्रधान है। सरस और प्रसादपूर्ण शैली, चरित्र-चित्रण की दिशा में स्वाभाविकता तथा कठिन समासों की प्रायः उपेक्षा करने के कारण यह रचना हृदयग्राही बन पड़ी है।

(स) नागानन्द—पाँच अंकों में विभक्त इस नाटक का कथानक बौद्ध जातकों से लिया गया है। इसका नायक जीमूतवाहन बड़ा ही उदात्त-चरित्र है जो गरुड़ से नागों की रक्षा करने के लिए अपने प्रिय प्राणों की बलि भी दे देता है। उसे अपना जीवन प्रिय नहीं है। उसे प्रिय है पर-उपकार, दूसरों का हित-चिन्तन तथा विश्व का मंगल। इस पात्र की कल्पना बड़ी उदात्त, मनोरम तथा पवित्र हो पाई है।

विशाखदत्त—विशाखदत्त की प्रसिद्ध रचना मुद्राराक्षस है। इसकी प्रस्तावना में रचयिता ने स्वयं बतलाया है कि वह दत्त नामक उच्च कुल का वंशधर है। वह कुल सामन्तों और महाराजाओं का कुल रहा है इसीलिए यह निश्चित किया गया है कि ये एक सामन्त के पौत्र और महाराजा के पुत्र थे। कीथ महोदय के अनुसार इनके दादा का नाम वटेश्वरदत्त और पिता का नाम महाराजा पृथु था।

विशाखदत्त की सर्वश्रेष्ठ कृति मुद्राराक्षस है जिसका कथानक राजनीतिक एवं ऐतिहासिक है, लेकिन इतना होने पर भी अरुचिकर नहीं। सर्वत्र घटनाएँ एक-दूसरे से सम्बद्ध तथा सार्थक हैं एवं प्रवाह अकुण्ठित है। लेखक कथावस्तु के विन्यास में ही नहीं अपितु चरित्र-चित्रण के क्षेत्र में भी सफल हुआ है। भागुरायण, निपुणक, सिद्धार्थक, शकटदास और चन्दनदास जैसे गौण पात्रों के चरित्र भी अत्यन्त स्पष्ट एवं सजीव बन पड़े हैं। रस-योजना की दृष्टि से इस नाटक का अंगी रस वीर है, लेकिन वेणीसंहार की तरह नहीं। अभिव्यंजना-कौशल के क्षेत्र में लेखक ने सर्वत्र उत्कृष्ट कलात्मकता का परिचय दिया है। अनुरूप उपमाएँ एवं अप्रस्तुत विधान तथा सहज एवं सुबोध अलंकार योजना का प्रयोग सर्वत्र ध्यातव्य है।

मुद्राराक्षस के अतिरिक्त विशाखदत्त ने देवीचन्द्र गुप्त तथा राघवानन्द नामक नाटकों का भी प्रणयन किया था, किन्तु इनमें से प्रथम की अपूर्ण प्रति तथा द्वितीय की कैसी भी प्रति उपलब्ध नहीं है।

भट्टनारायण—ये वेणीसंहार नाटक के प्रणेता हैं। मैक्डानल ने इनका समय ८४० ई० निर्धारित किया है जिसका प्रमाण ८४० ई० का एक ताम्रपत्र है जिसमें भट्टनारायण को दान दिए जाने का उल्लेख है। यह भट्टनारायण के समय का साक्षात् प्रमाण है। आनन्दवर्धन (८५० ई०), वामन (८०० ई०) आदि ने अपने ग्रंथों में वेणीसंहार से उद्धरण दिए हैं, अतः यह निश्चित है कि

भट्टनारायण ८५० ई० पूर्ववर्ती हैं। अतः भट्टनारायण का समय ८४० ई० निश्चित है।

भट्टनारायण की कीर्ति का एकमात्र आधार उनकी वेणीसंहार नाम्नी रचना है। महाभारत की एक सुप्रसिद्ध घटना इसका प्रतिपाद्य विषय है। दुशासन द्वारा अपमानित होने पर द्रौपदी ने यह प्रण किया था कि जब तक उसके अपमान का बदला नहीं ले लिया जाएगा तब तक वह अपने बालों का जूड़ा नहीं बाँधेगी। यह सुनकर भीम उत्तेजित हो उठा तथा उसने यह प्रतिज्ञा की कि वह दुर्योधन को मारकर तथा उसके रक्त में अपने हाथ सानकर द्रौपदी के बालों की लटें बाँधेगा और इस प्रकार दुःशासन द्वारा किए गए द्रौपदी के अपमान का बदला चुकाएगा। परिणामतः महाभारत का विश्व-प्रसिद्ध युद्ध हुआ तथा भीम ने अपनी प्रतिज्ञा को पूरा करके दिखा दिया। इसी कथानक को इस नाटक में प्रतिपाद्य के रूप में ग्रहण किया गया है।

यह नाटक सात अंकों में विभाजित है तथा इसका अंगीरस वीर है। कथानक के अनुरूप ही उसकी कविता है तथा समास शैली में अनेक ओजस्वी शब्द-चित्र देखने को मिलते हैं। पात्रों का चित्रण भी काफी सफल हुआ है। युधिष्ठिर सात्विक और धीर प्रकृति के नायक हैं। भीमसेन उद्धत योद्धा है, अर्जुन अदम्य उत्साह की प्रतिमूर्ति है और प्रतिनायक दुर्योधन अभिमान का जीता-जागता पुतला है। भाव-धारा तथा अभिव्यंजना-कौशल की दृष्टि से भी यह नाटक श्लाघ्य है। सम्वाद अभिनयोपयुक्त तथा प्रभावोत्पादक हैं।

मुरारि—यह अनर्घराघव के प्रणेता हैं। इन्होंने अपने नाटक में भवभूति-विरचित उत्तररामचरित के दो श्लोक उद्धृत किए हैं। फलतः यह सिद्ध है कि मुरारि भवभूति के पश्चात् हुए। भवभूति का समय सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। अतः यह निश्चित है कि मुरारि ७०० ई० के पश्चात् हुए। कश्मीर-निवासी रत्नाकर ने अपने महाकाव्य हरिविजय में मुरारि की ओर स्पष्ट संकेत किया है। हरिविजय का समय नवीं शताब्दी (८५० ई०) है, अतः यह सिद्ध है कि मुरारि नवीं शताब्दी ई० के पूर्व हुए। इन प्रमाणों के आधार पर मुरारि का स्थितिकाल आठवी शताब्दी ई० के लगभग ठहरता है।

अनर्घराघव में रामचन्द्र की—ताड़का-वध से लेकर राज्याभिषेक तक की कथा वर्णित है। किन्तु, कितने ही स्थलों पर कथा में परिवर्तन भी कर दिया गया

है, फलतः नाटक में चारुता का समावेश हो गया है। शैली-निरूपण की दृष्टि से श्री मुरारि-कृत अनर्घराघव सुन्दर बन पड़ा है। सर्वत्र गम्भीर और प्रौढ़ शब्दावली तथा मौलिक उपमाओं के दर्शन होते हैं। लेकिन अनेक स्थलों पर लम्बे-लम्बे छन्दों में अनगढ़ एवं कटु शब्दों का बाहुल्य भी दृष्टिगत होता है। वास्तविकता तो यह है कि अनर्घराघव में नाट्य-कला की अपेक्षा व्याकरण विषयक पाण्डित्य और कृत्रिमता का प्राधान्य है।

दामोदर मिश्र—मुरारि के उपरान्त दामोदर मिश्र का नाम ही प्रसिद्ध नाटककार के रूप में आता है। इनके नाटक का नाम हनुमन्नाटक है, जो १४ अंकों में विभाजित है और रामायण की कथा को लिए हुए है। यद्यपि इस नाटक के रचना-काल के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता, किन्तु फिर भी इतना तो निश्चित है कि इसकी रचना ८५० ई० के पहले अवश्य हो गई होगी क्योंकि आनन्दवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक (८५० ई०) में इसे उद्धृत किया है। इसके दो संस्करण उपलब्ध होते हैं। पहला संस्करण १४ अंकों वाला है और दूसरा ९ अंकों वाला। पहला संस्करण ही दामोदर मिश्र-विरचित प्रतीत होता है। दूसरा संस्करण मधुसूदनदास विरचित प्रतीत होता है।

दामोदर मिश्र-विरचित संस्करण में प्राकृत का बिल्कुल प्रयोग नहीं हुआ है। पद्य-प्राचुर्य, पात्रों का आधिक्य, गद्य का अत्यल्प प्रयोग तथा विदूषक का अभाव इसकी अन्य उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं।

राजशेखर—इनका समय दसवीं शताब्दी है और यह संस्कृत के नाटक-रचयिताओं में पर्याप्त रूप से प्रसिद्ध हैं। वे अपने को वाल्मीकि का अवतार मानते थे, यायावर वंश के ब्राह्मण थे, जिसमें अकाल-जलद, कविराज, तरल जैसे प्रसिद्ध कवि हो गए थे तथा कान्यकुब्ज नरेश प्रतिहारवंशी महेन्द्रपाल तथा महीपाल (९२५ ई०) के दरबार को सुशोभित करते थे। दरबार में इनका बड़ा आदर था और वह था इनकी कमनीय कविता के कारण। इनके चार नाटक मिलते हैं जो इस प्रकार हैं:—

कर्पूरमंजरी—यह प्राकृत भाषा में लिखा हुआ चार अंकों का एक सट्टक (नृत्य-प्रधान नाटक) है। इसमें राजा चण्डपाल और कुन्तलराजकुमारी कर्पूरमंजरी की प्रणय-कथा अंकित है। कथानक और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण न होने पर भी यह नाटक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इसका

कारण यह है कि भाषा-विज्ञान, पुरातत्व, ग्राम-गीत तथा पदलालित्य की दृष्टि से यह अत्यन्त मनोहारी बन पड़ा है।

विद्धशाल भंजिका--चार अंकों की इस नाटिका में राजकीय जीवन के प्रेम-प्रसंग को मूलाधार बनाया गया है। यद्यपि कथावस्तु अत्यन्त रोचक है किन्तु चरित्र-चित्रण बहुत ही दुर्बल।

बालरामायण—दस अंकों में विभाजित यह कृति राजशेखर की सर्वश्रेष्ठ कृतियों में मानी जाती है। इसमें रामकथा का अनावश्यक विस्तार है। इस नाटक की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें रावण की प्रणय-भावना का सफल अंकन किया गया है। शुरू से ही सीता को प्राप्त करने के लिए रावण राम का प्रतिद्वन्द्वी दिखलाया गया है।

बाल भारत या प्रचण्ड पाण्डव—यह रूपक अपूर्ण है। केवल दो अंक प्राप्त हैं जिनमें द्रौपदी के विवाह, द्यूत दृश्य तथा पाण्डवों के वन-गमन तक का वर्णन है।

नाट्य-कला-कौशल की दृष्टि से राजशेखर की रचनाएँ कोई विशेष महत्व नहीं रखतीं। इसका कारण यह है कि उनकी रचनाओं में काव्यत्व का आधिक्य है। वस्तुतः उनकी विशेषता तो शब्दों की नोंक-झोंक और वाक्यों के सुन्दर विन्यास में ही है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि इनकी प्रतिभा रूपक के अनुकूल न होकर महाकाव्य के अनुकूल है और यदि इन्होंने कोई महाकाव्य लिखा होता तो इन्हें अधिक सफलता प्राप्त हुई होती।

क्षेमीश्वर—नैषधानन्द और चण्ड कौशिक के प्रणेता क्षेमीश्वर राजशेखर के समकालीन थे क्योंकि इन दोनों के आश्रयदाता कन्नौज के राजा महीपाल थे। नैषधानन्द सात अंकों का नाटक है जिसमें नल-दमयन्ती की प्रसिद्ध कथा वर्णित है। चण्ड कौशिक में सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र का आख्यान वर्णित है। भाषा सरल है किन्तु नाटक के कथानक तथा वस्तु-विश्लेषण में कोई विशेषता नहीं है।

कृष्णमिश्र—ये प्रबोधचन्द्रोदय नामक रूपक के प्रणेता हैं और राजा कीर्तिवर्मा के राज्यकाल में हुए हैं। इस राजा का एक शिलालेख १०९८ ई० का प्राप्त हुआ है। अतः कृष्णमिश्र का समय ११०० ई० के लगभग माना जा सकता है।

प्रबोधचन्द्रोदय शान्त रस-प्रधान रूपकात्मक नाटक है जिसमें वेदान्त के अद्वैतवाद को अत्यन्त रोचक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। विवेक, मोह, ज्ञान, विद्या,

बुद्धि, दम्भ, श्रद्धा, भक्ति आदि अमूर्त्त भावों को पुरुष और स्त्री पात्रों के रूप में कल्पित किया गया है तथा अध्यात्म विद्या का हृदयग्राही उपदेश दिया गया है।

जयदेव —ये गीत-गोविन्द के प्रणेता बंगाल निवासी जयदेव से सर्वथा भिन्न हैं। ये जयदेव विदर्भ देशवासी हैं। इन्होंने प्रसन्नराघव नाटक का प्रणयन किया है और इनका समय १२०० ई० माना जाता है।

सात अंकों में विभाजित यह नाटक रामायण की लोक-प्रसिद्ध कथा पर आधृत है, किन्तु लेखक ने ऐतिहासिक कथानक लेते हुए भी अनेक स्थलों पर अत्यन्त रोचक परिवर्तन कर दिए हैं। काव्य-कौशल की दृष्टि से लेखक का संस्कृत भाषा पर असामान्य अधिकार परिलक्षित होता है। उसकी भाषा में अद्भुत लालित्य है।

वत्सराज—ये कालंजर नरेश परमर्दीदेव के मन्त्री थे। परमर्दीदेव का समय ११६३ से १२०३ ई० तक माना जाता है और इसी आधार पर इनका समय १२०० ई० के आस-पास स्थिर किया गया है। इन्होंने छः नाटकों की रचना की। इन छः नाटकों के नाम तथा विवरण अधोलिखित हैं:

१. किरातार्जुनीय व्यायोग—यह एकांकी व्यायोग है तथा भारवि के प्रसिद्ध महाकाव्य किरातार्जुनीय के आधार पर रचा गया है।

२. कर्पूर चरित्र—एक अंक का भाण है जिसमें कर्पूर द्यूत-क्रीड़ा संबंधी अपने रोचक अनुभवों का वर्णन करता है।

३. हास्य चूड़ामणि—यह एकांकी प्रहसन है।

४. रुक्मिणीहरण—यह महाभारत के आधार पर लिखा गया चार अंकों का ईहामृग है।

५. त्रिपुरदाह—यह चार अंकों का डिम है तथा इसका प्रतिपाद्य शिव द्वारा त्रिपुरासुर की नगरी के विध्वंस का वर्णन है।

६. समुद्र-मन्थन—यह तीन अंकों का समवकार है। देवताओं और राक्षसों द्वारा किए गए समुद्र-मन्थन, समुद्र से चौदह रत्नों की उत्पत्ति, विष्णु और लक्ष्मी का प्रणय तथा विवाह आदि घटनाओं के द्वारा इस नाटक का तानाबाना बुना गया है।

इनकी महत्ता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि भास के उपरान्त ये ही एक ऐसे नाटककार हुए हैं जिन्होंने इतने विविध प्रकार के रूपकों की रचना की है। दीर्घ समासों तथा दुरूह वाक्य-विन्यास से सर्वथा मुक्त सरल

एवं लालित्यपूर्ण भाषा लिखने में इन्हें अद्भुत सफलता मिली है।

प्रश्न ३६—संस्कृत नाट्य साहित्य की विशेषताओं पर एक विवेचनात्मक लेख लिखिए।

नाट्य साहित्य संस्कृत साहित्य का सर्वाधिक महत्त्वशाली अंग है। इतना ही नहीं, विश्व-साहित्य को सर्वाधिक प्रभावित करने वाली प्रथम कृति कालिदास कृत 'शाकुन्तलम्' ही थी। केवल शाकुन्तलम् ही नहीं भास, भवभूति, विशाखदत्त, शूद्रक, भट्टनारायण आदि अन्य नाटककारों की रचनाओं में भी इसी प्रकार की अन्य विशेषताएँ भरी पड़ी हैं। संक्षेपतः ये विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(१) संस्कृत नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे दुःखान्त न होकर सुखान्त होते हैं। लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं है कि उनमें दुःखद घटनाओं के संयोजन के लिए स्थान ही नहीं है। वस्तुतः संस्कृत नाटकों में बहुत-सी घटनाएँ ऐसी हैं जो दुःखप्रद और करुणाजनक हैं। उत्तररामचरित, वेणीसंहार और नागानन्द में इस प्रकार के अनेक दृश्य हैं। यदि नाटककार अपनी असाधारण मेधा से इनको सुखान्त न बना देते तो ये दृश्य इन नाटकों को दुःखान्त बना देते।

(२) संस्कृत साहित्य में प्रायः सुखान्त नाटक ही देखने को मिलते हैं, दुखान्त नहीं। सुखान्त नाटकों के आधिपत्य और दुखान्त नाटकों की विरलता का कारण यह है कि संस्कृत नाटककार नाटक का मूल उद्देश्य लोकरंजन समझते थे। जनमात्र के लिए आमोद और मनोरंजन प्रदान करना तथा दुःख-पीड़ित और शोकग्रस्तों को शान्ति प्रदान करना ही संस्कृत नाटककार का परम लक्ष्य था। फलतः उन्होंने मानव-जीवन की उन सभी घटनाओं को सुबोध तथा विश्वसनीय ढंग से इस रूप में प्रस्तुत किया कि वे दर्शक को आनन्द प्रदान कर सकें क्योंकि किसी नाटक का अवसान दुःखमूलक होने पर तो इस उद्देश्य की पूर्ति न होती। ऐसी अवस्था में तो सामाजिक लोग दुःखी और शोकाकुल होकर ही रंगशाला से बाहर निकलते और रचना का मूल उद्देश्य ही समाप्त हो जाता। इसके अतिरिक्त भारतीय पुनर्जन्म के सिद्धान्तों को मानते हैं अतः इनके लिए मृत्यु इतनी दुःखप्रद घटना नहीं है जितनी पाश्चात्य लोगों के लिए।

संस्कृत साहित्य में अपवादस्वरूप एक-दो ऐसे नाटकों की उपलब्धि भी

होती है जो सुखान्त न होकर दुःखान्त हैं यथा उरुभंग, वेणीसंहार आदि।

(३) संस्कृत नाटक रस-प्रधान होते हैं। उनमें प्रेक्षकों अथवा पाठकों के हृदय में रस-विशेष का संचार करने की ओर जितना ध्यान दिया गया है उतना वास्तविकता अथवा कथावस्तु की यथार्थता की ओर नहीं। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि संस्कृत नाटकों में वास्तविकता के लिए कोई स्थान नहीं है। वास्तव में संस्कृत नाटकों का ही नहीं अपितु समस्त संस्कृत साहित्य का लक्ष्य ही आदर्श और यथार्थ का समन्वय प्रस्तुत करना है।

(४) संस्कृत नाटक प्रायः रामायण या महाभारत के उपाख्यानों पर आधृत हैं। ऐतिहासिक अथवा पौराणिक कथानक को लेकर कवियों ने प्रायः मूल कथा में कोई परिवर्तन नहीं किया है, यद्यपि कालिदास और भवभूति प्रभृति नाटककार इसके अपवाद हैं। कुछ नाटककारों ने काल्पनिक कथाओं का संयोजन भी किया है किन्तु केवल शूद्रक ही ऐसे नाट्यप्रणेता हैं जिन्होंने इस दिशा में पूर्ण सफलता प्राप्त की है। उन्होंने अपनी रचना में प्रेम-कथा और राजनीतिक-कथा का सुन्दर सम्मिश्रण कर दिया है। संस्कृत नाटकों की कथानक सम्बन्धी एक अन्य विशेषता यह है कि साधारणतया उनका विषय प्रेम-कथा है।

(५) संस्कृत नाट्य साहित्य में पद्य भाग अधिक होता है। गद्य भाग केवल संवादों में ही यत्र-तत्र प्रयुक्त होता है और वह भी आगे आने वाले पद्य श्लोकों की भूमिका का काम करता है। ये पद्य विभिन्न छन्दों में होते हैं और कवि की काव्य-कुशलता के परिचायक होते हैं।

(६) संस्कृत के रूपकों की एक अन्य विशेषता यह है कि उनमें पात्रों की संख्या निश्चित नहीं होती। इतना ही नहीं, किसी भी नाटक में लौकिक, दिव्य अथवा अर्धदिव्य इनमें से किसी भी प्रकार के पात्र हो सकते हैं या फिर इनके मिश्रित रूप। किन्तु संस्कृत नाट्य साहित्य के पात्रों की सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि वे व्यक्तिमूलक (Individual) न होकर वर्गमूलक (Typical) होते हैं। इसी प्रकार से संस्कृत नाटकों में नायक, प्रतिनायक, विदूषक, भृत्य आदि पुरुष पात्रों का होना आवश्यक है। यही अवस्था स्त्री पात्रों की भी है। नायक चार प्रकार के होते हैं—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीर-प्रशान्त। नाटक में इन्हीं में से किसी एक प्रकार का नायक होना चाहिए। इस

नायक की विजय दिखाना ही नाटककार का प्रमुख लक्ष्य होता है। उसका पहले से ही निर्णय होता है कि नायक का पतन नहीं होना चाहिए और जैसे भी हो उसकी विजय-पताका फहरनी चाहिए। इस प्रकार से यह सिद्ध है कि संस्कृत नाटकों में नायक को दबाकर प्रतिनायक विजयी नहीं हो सकता है। विदूषक कोई ब्राह्मण व्यक्ति ही होता है।

(७) संस्कृत रूपकों के पात्र अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार विभिन्न भाषाओं का प्रयोग करते हैं। नायक तथा उच्चवर्ग के पात्र संस्कृत का प्रयोग करते हैं। निम्न श्रेणी के लोग और स्त्री पात्र प्राकृत में ही बोलते हैं। प्राकृत के भी पुनः भेद किए गए हैं यथा उत्तम श्रेणी की स्त्रियाँ पद्यों में महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग करती हैं तथा गद्य में वे स्त्रियाँ, बालक तथा अच्छी श्रेणी के सेवक शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग करते हैं। राजगृह के अनुचर मागधी तथा दुष्ट और द्यूत-क्रीड़ा करने वाले अवन्ती का प्रयोग करते हैं। गोपाल आभीरी का प्रयोग करते हैं और अग्नि के अंगार जलाने वाले पैशाची का प्रयोग करते हैं। सबसे नीच, अत्यन्त घृणित लोग और विदेशी अपभ्रंश का प्रयोग करते हैं। संक्षेपतः पात्र अपनी सामाजिक स्थिति के अनुसार ही विभिन्न प्राकृतों का प्रयोग करता है।

(८) प्रत्येक रूपक का श्रीगणेश इष्टदेवता के स्तुतिपाठ से होता है जिसे नान्दीपाठ की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। इसके बाद प्रस्तावना होती है। प्रस्तावना में सूत्रधार नटी, विदूषक अथवा परिपार्श्वक के साथ बातचीत करता हुआ नाटक की कथावस्तु और कवि का संक्षिप्त परिचय देकर नाटक का आरम्भ कराता है। अंक की समाप्ति तक रंगमंच कभी खाली नहीं रहता। प्रथम अंक के आरम्भ में अथवा दो अंकों के बीच में प्रवेशक या विष्कम्भक नाम से एक तरह की भूमिका होती है जिसमें उन घटनाओं का वर्णन किया जाता है जो उनके सामने रंगमंच पर घटित न होकर नेपथ्य नें घटित हुई हैं। यह इसलिए कि वे अगली घटनाओं को अच्छी तरह समझने में समर्थ हो जाएं। संस्कृत नाटक में कम से कम पाँच और अधिक से अधिक दस अंक होते हैं। अन्त भरतोक्ति के द्वारा होता है जिसमें देश या समाज की उन्नति की कामना निहित होती है।

(९) संस्कृत रूपकों का प्रकृति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। प्राकृतिक सुषमा नाटक की रमणीयता में वृद्धि करती है। पात्र अपने चारों ओर की प्रकृति से साक्षात् सम्बन्ध रखते हैं। वृक्ष, लताएँ, पशु-पक्षी आदि सभी रूपक के सजीव अंग हैं जिनसे पात्र वार्तालाप करते हैं और जिनके बीच पात्र चलते-फिरते हैं। कालिदास की शकुन्तला, चमेली की लता, वृक्ष, हरिण आदि को अपना साथी मानती हैं। उसे वृक्षों से वन देवताओं के दिए हुए भूषण, वस्त्र आदि प्राप्त होते हैं। कण्व ऋषि वृक्षों से शकुन्तला के लिए अपने पति के घर जाने के लिए आज्ञा मांगते हैं और कोयल की बोली द्वारा वृक्ष जाने की आज्ञा देते हैं, आदि।

(१०) संस्कृत रूपकों में काल, स्थान और क्रिया सम्बन्धी संकलनत्रय का पूर्णतया पालन नहीं हुआ है। वहाँ तो कथानक की एकता की ओर ही मुख्यतः ध्यान रखा गया है।

(११) संस्कृत नाट्य शास्त्र में नाटक के अभिनय सम्बन्धी अनेक संकेत भी दिए हुए हैं, यथा रंगशाला के सम्बन्ध में उनका विचार है कि वह वर्गाकार, आयताकार या त्रिभुजाकार होनी चाहिए। इसी प्रकार से नाट्यशास्त्र में नाटक खेलने के समयों का विधान है। वे समय हैं—चान्द्रिक अध्याय, राजतिलक, राजा के उत्सव, धार्मिक पर्व, विवाह, पुत्र-जन्म, मित्र-मिलन, गृह-प्रवेश या नगर-विजय। इतना ही नहीं. कौन-कौन-से दृश्य अभिनीत किए जा सकते हैं और कौन-कौन-से नहीं इस बात का आलेखन भी हमें संस्कृत नाट्यशास्त्र में मिलता है। उनका सिद्धान्त है कि कोई बहुत दुःखदायक घटना रंगमंच पर नहीं दिखाई जा सकती है, यथा मृत्यु रंगमंच पर नहीं दिखाई जाती है। रंगमंच पर वध, युद्ध, विवाह, भोजन, अशुभ अथवा व्रीड़ाजनक व्यापार जैसे चुम्बन आदि का अभिनय निषिद्ध माना गया है।

(१२) संस्कृत नाटकों की कुछ विशेषताएँ यूनानी रूपकों के समान हैं। इतना ही नहीं, रानी एलिज़ाबेथ के समय में निर्मित और शेक्सपीयर द्वारा रचित अंग्रेजी रूपकों से भी कुछ समानताएँ मेल खा जाती हैं यथा—

(क) संस्कृत नाटकों का विदूषक शेक्सपीयर के मूर्ख के समान है।

(ख) कल्पित विषयों का समावेश तथा गद्य-पद्य का मिश्रण और हास्य

तथा गम्भीर विषयों का मेल संस्कृत रूपकों में भी पाया जाता है।

(ग) जिस प्रकार से अंग्रेजी नाटकों में बहुत वर्षों की घटनाएँ एक ही नाटक में अभिनीत की जाती हैं ठीक उसी प्रकार से संस्कृत नाटकों में भी। उदाहरण के लिए संस्कृत के उत्तररामचरित आदि रूपकों में १२ वर्षों की और बहुत दूर-दूर की घटनाएँ दी गई हैं।

(घ) रूपक की क्रिया बढ़ाने के लिए जो उपाय किए जाते हैं वे भी दोनों में समान ही हैं। पत्रों का लिखना, भूत को जीवित करना और कहानी में कहानी भरना आदि बातें दोनों ही भाषाओं के नाट्य-साहित्य में समान हैं।

(ङ) काल्पनिक और भयंकर अंशों का समावेश भी हमें दोनों ही भाषाओं के नाट्य-साहित्य में समान रूप से देखने को मिलता है।

(च) श्लेषालंकार का प्रयोग तथा शब्दों की हास्योत्पादक तोड़-मरोड़ भी दोनों में समान ही है।

(छ) पात्रों के वर्गगत चरित्र-चित्रण की अपेक्षा व्यक्तिगत चरित्र-चित्रण का भी व्यापक मात्रा में समावेश हमें दोनों ही भाषाओं की रचनाओं में देखने को मिलता है।

o

८ | गद्य-साहित्य

प्रश्न ४०—'संस्कृत-गद्य-साहित्य' पर एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए।

संस्कृत का गद्य साहित्य अत्यधिक सम्पन्न एवं प्रभावपूर्ण है।

विकास-क्रम की दृष्टि से हम इसे चार भागों—(क) वैदिक गद्य, (ख) पुराणों में उपलब्ध गद्य, (ग) व्याकरण दर्शन आदि के ग्रंथों में उपलब्ध गद्य, (घ) साहित्यिक गद्य में बाँट सकते हैं।

संस्कृत कविता के समान उसके गद्य का प्रारम्भिक रूप भी वैदिक साहित्य में परिलक्षित होता है। यजुर्वेद एवम् अथर्ववेद में पाए जाने वाली गद्यात्मक ऋचाओं और ब्राह्मणग्रन्थों तथा उपनिषदों के गद्यात्मक अंशों में वैदिक गद्य का स्पष्ट रूप देखा जा सकता है। वस्तुतः यजुर्वेद का तो नामकरण ही यजुष् के आधार पर हुआ है यजुष् का प्रयोग अध्वर्यु यज्ञ के अवसर पर प्रयुक्त होने वाले गद्यात्मक वाक्य-समूह के लिए किया जाता था। अथर्ववेद के छठे भाग में अनेक ऐसी ऋचाएँ मिलती हैं जहाँ पद्य का प्रयोग किया गया है। वैदिक साहित्य में प्रयुक्त गद्य के अनुशीलन के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यहाँ जिस गद्य का प्रयोग किया गया है उसमें किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं है। सच तो यह है कि यह गद्य अत्यंत स्वाभाविक बन पड़ा है और बोलचाल की भाषा का ही अंग प्रतीत होता है। ऐतरेय आदि ब्राह्मण ग्रन्थों में यही गद्य पल्लवित एवम् विकसित हुआ है। ब्राह्मण ग्रन्थों से उपनिषदों तक पहुँचने पर भी वैदिक गद्य की इस विशिष्टता का लोप नहीं होता। हाँ, यह अवश्य है कि उपनिषदों में

पाया जाने वाला गद्य लौकिक संस्कृत के अधिक निकट परिलक्षित होता है—वह पहले की अपेक्षा अधिक प्रसादपूर्ण तथा मसृण हो गया है; किन्तु इसकी आत्मा वैदिक ही रही है।

यद्यपि पुराणों में प्रयुक्त गद्य का विकास वैदिक गद्य से ही हुआ है किन्तु पुराणों में पाया जाने वाला गद्य नितान्त भिन्न रूप लिए हुए है। पुराणों तक पहुँचते-पहुँचते गद्य का ढांचा लगभग एकदम बदल गया है और वह लौकिक संस्कृत के अधिक निकट आ गया है। गद्य शैली अब आलंकारिक हो गई है। श्री-विष्णुपुराण तथा श्रीमद्भागवत पुराण में प्रयुक्त गद्य के अध्ययन-अनुशीलन के अनंतर हमें यह सहज ही ज्ञात हो जाता है कि उस समय गद्य ने किस प्रकार सहज साहित्यिक रूप धारण कर लिया था। पुराणों में प्रयुक्त गद्य तक पहुँचते-पहुँचते वैदिक गद्य मुख्यतः दो रूपों में बँट जाता है। इनमें से एक का रूप शास्त्रीय है और दूसरे का साहित्यिक। यास्क विरचित निरुक्त, कात्यायन प्रणीत वार्तिक ग्रन्थ, पतंजलि कृत महाभाष्य और शबरस्वामी शंकराचार्य तथा जयन्त भट्ट प्रभृति के दर्शनशास्त्र विषयक भाष्यों में शास्त्रीय गद्य का स्वरूप देखा जा सकता है। यास्क के निरुक्त में निर्वचन शास्त्र का आख्यान है तो कात्यायन तथा पतंजलि ने व्याकरण शास्त्र विषयक विवेचन प्रस्तुत किया है शबरस्वामी शंकराचार्य और जयन्त भट्ट ने क्रमशः मीमांसा, वेदान्त और न्याय दर्शन के मूलभूत सिद्धांतों का निरूपण किया है। गद्य का जो शास्त्रीय रूप इन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है वही आगे चलकर आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट, पंडितराज जगन्नाथ आदि के काव्यशास्त्रीय प्रबन्धों में प्राप्त होता है।

संस्कृत के साहित्यिक गद्य का एक रूप तो पौराणिक गद्यांशों में उपलब्ध होता है तथा दूसरा नाट्य कृतियों में प्रयुक्त गद्यात्मक संवादों और शिलालेखों में उत्कीर्ण गद्यात्मक प्रशस्तियों में। जैसा कि पीछे कहा जा चुका है पुराणों में प्रयुक्त गद्य में आलंकारिकता का प्राधान्य है तथा गाढ़बन्धता का अभाव। नाट्य-ग्रन्थों में प्रयुक्त गद्य के प्रतिनिधि उदाहरण भास, शूद्रक और कालिदास की रचनाओं में देखे जा सकते हैं। इन तीनों का रचना काल ई० पूर्व से पहले का माना जाता है और इनकी रचनाओं में प्रयुक्त गद्य अत्यन्त स्वच्छ, प्रभावपूर्ण तथा भावाभिव्यंजना में पूर्णतः समर्थ है।

संस्कृत गद्य के विकास में प्रशस्तिलेखों में प्रयुक्त गद्य का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। अब तक जो शिलालेख उपलब्ध हुए हैं उनमें गिरनार का रुद्र-दामन का शिलालेख सर्वाधिक प्राचीन है। यह शिलालेख इस समय जूनागढ़ जिले में स्थित है और १५० ई० के आस-पास का माना जाता है। दूसरे महत्त्वपूर्ण शिलालेख का सम्बन्ध समुद्रगुप्त से है जिसके रचयिता महाकवि हरिषेण माने जाते हैं तथा जिसका समय ३५० ई० के आस-पास निर्धारित किया गया है। इन दोनों शिलालेखों में उत्कीर्ण प्रशस्ति के अध्ययन-अनुशीलन के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इनका उद्देश्य रामचरित तथा विजय आदि का ऊहापूर्ण वर्णन करना है। कथ्य को प्रभावपूर्ण रूप प्रदान करने के लिए गाढ़बन्ध की सामासिकता का आश्रय लिया गया है। इन्हीं शिलालेखों में परवर्ती गद्य के उस निखरे हुए रूप के अंकुर देख सकते हैं जो सुबन्धु, दण्डी, बाणभट्ट आदि की रचनाओं में प्राप्त होता है।

एक स्वतन्त्र साहित्य-विधा के रूप में संस्कृत गद्य का विकास कब प्रारम्भ हुआ इसकी कहानी अन्धकाराच्छन्न है। पर कात्यायन, पतंजलि आदि की रचनाओं में कतिपय ऐसे संकेत अवश्य प्राप्त होते हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि गद्य-साहित्य की परम्परा कम से कम उनसे पूर्व अवश्य विद्यमान थी। प्रसिद्ध वार्तिककार कात्यायन, जिनका रचनाकाल ५०० ई० पू० माना जाता है, के इस वाक्य 'लुबाख्यायिकेभ्यो बहुलम् आख्यानाख्यायिकेतिहास पुराणेभ्यश्च' से यह निष्कर्ष निकलता है कि वह आख्यायिका से परिचित थे। महाभाष्यकार पतंजलि, जिनका स्थितिकाल २०० ई० पू० माना जाता है, के महाभाष्य से उद्धृत इस अंश 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे बहुलं लुग्वक्तव्यः। वासवदत्ता, सुमनोत्तरा। न च भवति। भैमिरथी' से यह विदित होता है कि वह न केवल आख्यायिका से परिचित थे बल्कि उन्होंने वासवदत्ता, सुमनोत्तरा तथा भैमरथी नामक रचनाओं का अध्ययन-अनुशीलन भी किया था। कतिपय विद्वान् मनीषियों के मतानुसार वररुचि ने 'स्वर्गारोहण' महाकाव्य के अतिरिक्त 'चारुमती' नामक गद्यकाव्य का प्रणयन भी किया था। 'तिलक मंजरी' के प्रणेता धनपाल ने इस बात का उल्लेख किया है कि सुबन्धु, दण्डी और बाण से पूर्व श्रीपालित ने 'तरंगवती कथा' का प्रणयन किया था, आंध्रभृत्य सातवाहन राजाओं के समय प्रणीत 'शातकर्णीहरण',

नमोवंती कथा' आदि भी सुबन्धु, दण्डी और बाण की समृद्ध रचनाओं से पूर्व की रचनाएँ मानी जाती हैं। लेकिन इतना सब होने पर भी यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि संस्कृत गद्य साहित्य के सर्वाधिक जाज्वल्यमान रत्न सुबन्धु, दण्डी और बाण ही हैं।

जैसा कि पीछे संकेत किया जा चुका है संस्कृत-गद्य-साहित्य में सुबन्धु, दण्डी और बाण भट्ट का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। कालक्रम की दृष्टि से सुबन्धु और दण्डी में से किसे पहले माना जाए यह अत्यन्त विवादास्पद विषय है। लेकिन फिर भी सुबन्धु को दण्डी और बाण भट्ट से पूर्व ही माना जाता है। सुबन्धु ने एक स्थल पर प्रसिद्ध नैयायिक तथा न्याय वार्तिककार उद्योतकर की ओर संकेत किया है, 'न्यायस्थितिमिवोद्योतकरस्वरूपाम्' उद्योतकर का समय छठी शताब्दी का अंत तथा सातवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जाता है। ऐसी अवस्था में सुबन्धु का रचना-काल ६०० ई० के आस-पास माना जा सकता है, सुबन्धु की ख्याति का एक मात्र आधार है "वासवदत्ता" इस रचना में सुबन्धु कीकल्पनाप्रियता, पाण्डित्य, वर्णनविस्तार, आलंकारिकता आदि गुणों का पूर्ण परिचय प्राप्त होता है। इन सब कारणों से वासवदत्ता में कथा का कलेवर बहुत क्षीण हो गया है और कथासूत्रों में पारस्परिक सम्बन्ध भी नहीं रह पाया है—हाँ लेखक की कल्पना बहुत खुलकर खेली हैं। अलंकारों के प्रयोग में अपनी चातुरी को व्यक्त करने की प्रवृत्ति के फलस्वरूप समूची रचना अत्यन्त बोझिल हो गयी है। श्लेष गुम्फित वाणी तो सुबन्धु को विशेष रूप से प्रिय है। कहीं-कहीं अलंकार-प्रयोग में लेखक का मन इतना अधिक रम गया है कि लगभग सवा सौ पंक्तियों तक पहुंच जाने के बाद ही वाक्य पूरा हुआ है।

संस्कृत के गद्य-साहित्य में दूसरा उल्लेखनीय व्यक्तित्व दण्डी का है। संस्कृत-साहित्य के अन्य अनेक कलाकारों के समान दण्डी के जीवनवृत्त तथा रचनाकाल के सम्बन्ध में भी विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। संस्कृत-साहित्य में दण्डी के नाम से दो प्रकार की रचनाएँ मिलती हैं। इनमें से एक का सम्बन्ध तो काव्य-शास्त्र से है जिसके अन्तर्गत काव्यादर्श को परिगणित किया जाता है तथा दूसरे वर्ग के अन्तर्गत दशकुमारचरित, अवन्ति सुन्दरी कथा आदि गद्यात्मक रचनाएँ आती हैं। यद्यपि ऐसे विद्वानों का सर्वथा अभाव नहीं है जो यह मानते हैं कि काव्य-शास्त्र-मर्मज्ञ तथा गद्य-कृतियों का प्रणेता एक ही व्यक्ति नहीं है किन्तु

आज अधिकांश विद्वानों का मत यह है कि ये सभी रचनाएँ एक ही व्यक्ति ने लिखी थीं और उस व्यक्ति का नाम दण्डी था। दण्डी के रचनाकाल के सम्बन्ध में यह बात तो सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं कि वह सातवीं शताब्दी में हुए किन्तु इस सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है कि वह सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हुए अथवा उत्तरार्द्ध में जो विद्वान् यह मानते हैं कि दण्डी का रचनाकाल सातवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है वह अपने पक्ष की पुष्टि के लिए निम्नलिखित तर्क देते हैं—(क) काव्यादर्श के २।१७७वें पद में कादंबरी के शुकनासोपदेश की स्पष्ट छाया देखी जा सकती है। (ख) दण्डी ने बाण तथा मयूर की प्रशंसा की है। (ग) अवन्तिसुन्दरी कथा पर कादम्बरी का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है।

लेकिन आज अधिकांश विद्वानों ने इन तर्कों को स्वीकार नहीं किया है और दण्डी का रचनाकाल सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना है। उनकी इस मान्यता का आधार यह है कि 'दशकुमारचरित्' में जिस भौगोलिक तथा राजनीतिक वातावरण को रूपायित किया गया है वह निश्चय ही हर्षवर्द्धन से पूर्व के भारत का चित्र प्रस्तुत करता है। इसके अतिरिक्त दण्डी की रचनाओं में जिस सरल तथा प्रसादपूर्ण शैली का प्रश्रय लिया गया है वह बाणभट्ट की आलंकारिक शैली से अप्रभावित है। ऐसी अवस्था में यही उपयुक्त प्रतीत होता है कि दण्डी का रचनाकाल सातवीं शताब्दी का पहला-दूसरा दशक माना जाए।

काव्यादर्श तथा दशकुमारचरित के अध्ययन-अनुशीलन के अनन्तर यह ज्ञात होता है कि दण्डी दाक्षिणात्य थे तथा विदर्भ के रहने वाले थे। कलिंग तथा आन्ध्र देशों के उल्लेख कावेरीतीरपत्तन सदृश शब्दों के प्रयोग और दक्षिण में लोकप्रिय सामाजिक-पारिवारिक प्रथाओं के वर्णन के द्वारा इस बात की सहज ही में पुष्टि हो जाती है कि दण्डी दाक्षिणात्य थे। दण्डी ने महाराष्ट्री प्राकृत तथा वैदर्भी शैली की बहुत प्रशंसा की है जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वह विदर्भ के निवासी थे। अवन्तिसुन्दरी कथा के माध्यम से दण्डी के जीवन वृत्त के सम्बन्ध में भी कतिपय सूचनाएँ प्राप्त होती हैं—यद्यपि अवन्तिसुन्दरी कथा का दण्डी विरचित होना स्वयं में एक विवाद का विषय है। इस ग्रंथ के आधार पर यह ज्ञात होता है कि महाकवि भारवि के तीन पुत्र थे जिनमें से मध्यम पुत्र का नाम मनोरथ था। मनोरथ के चार पुत्र हुए जिनमें सबसे छोटे पुत्र का नाम

वीरदत्त था। वीरदत्त दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित थे। इसकी स्त्री का नाम गौरी था। दण्डी इन्हीं दम्पत्ति की सन्तान थे।

संस्कृत गद्य साहित्य में दण्डी एक सिद्धहस्त लेखक के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनके पद-लालित्य की तो अत्यधिक प्रशंसा की गई है और इसीलिए यह कहा गया है, 'दण्डिनः पदलालित्यम्'। वस्तुतः अनुप्रासपूर्ण मनोरम पदविन्यास में दण्डी को कमाल हासिल है। दण्डी की रचनाएँ अपनी सरसता तथा यथार्थवादिता के लिए भी प्रख्यात है। अपने युग के सामाजिक ढाँचे का जैसा सजीव और सशक्त अंकन दण्डी ने किया है वैसा अन्यत्र दुष्प्राप्य है। तपस्वी, कपटी, ब्राह्मण और छलनाप्रिय वारवनिताओं में से कोई भी दण्डी की दृष्टि से बच नहीं पाया। दण्डी का वैशिष्ट्य केवल यहीं तक सीमित नहीं है बल्कि उसका वैशिष्ट्य इस बात में भी है कि इन सबका वर्णन सहज, स्वाभाविक एवं मुहावरेदार भाषा तथा प्रवाहपूर्ण शैली में कर दिया गया है इतना ही नहीं दण्डी ने अपनी भाषा को न कहीं श्लेष से बोझिल बनाया हैं और न कहीं उसे सामासिकता के कड़े बन्धन में ही जकड़ा है वह तो संक्षिप्त, सरल और अर्थपूर्ण वाक्यों के द्वारा सहनीय जीवन मूल्यों को व्यक्त करने में पूर्णतः समर्थ है।

संस्कृत गद्य साहित्य के तीसरे प्रमुख प्रणेता हैं वाणभट्ट। वाणभट्ट संस्कृत-साहित्य के उन विरल कलाकारों में से हैं जिनके जीवनवृत्त के सम्बन्ध में बहुत अधिक मतभेद नहीं है। वाणभट्ट ने अपने ग्रन्थों—कादम्बरी और हर्षचरित में ऐसे अनेक संकेत दिए हैं जिनसे उनके जीवनवृत्त का सहज ही ज्ञान हो जाता है। इन दोनों ग्रन्थों में पाये जाने वाले संकेतों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि उनके वंश के प्रवर्तक दधीच तथा सरस्वती के पुत्र तथा सारस्वत के चचेरे भाई वत्स थे। वत्स के वंश में बहुत दिन बीत जाने के बाद कुवेर का जन्म हुआ। कुवेर गुरुभक्त थे। इस कुवेर के चार पुत्र हुए—अच्युत, ईशान, हर और पाशुपत। पाशुपत के अर्थपति नामक पुत्र ने जन्म लिया। इसी अर्थपति के ग्यारह पुत्र हुए जिनमें से एक का नाम चित्रभानु था वाणभट्ट इन्हीं चित्रभानु की सन्तान थे। इनके पूर्वज श्रीवत्स के समय से ही हिरण्यवाह अथवा शोणानन्द के प्रीतिकूट नामक ग्राम में निवास करते थे तथा अपनी धार्मिक निष्ठा और विद्या-व्यसन के लिए प्रख्यात थे। बचपन में ही वाण की माता की मृत्यु हो गई तथा पिता ने ही

इनका पालन-पोषण किया, लेकिन देव इनसे रुष्ठ था। अतः जब इनकी आयु चौदह वर्ष की हुई तब इनके सिर से पिता की छत्रछाया उठ गई। पिता की मृत्यु से बाण को अत्यधिक दुःख हुआ। किसी संरक्षक के न रहने और पुष्कल मात्रा में पैतृक सम्पत्ति के मिलने के फलस्वरूप वाण नानाविध शैशवोचित चपलताओं में फंस गए। अनेक भले-बुरे व्यक्ति उनके साथी हो गए। एक दिन वह अपने सम-वयस्क मित्रों को साथ लेकर देशाटन के लिए निकल पड़े। अपनी इस यात्रा में वाण अनेक गुणी व्यक्तियों के सम्पर्क में आये तथा उन्होंने अनेक राजकुलों को देखा। वहुत समय तक घूमने के वाद बाण अपने घर वापिस लौट आये। घर लौट आने पर वाण के सम्बन्धियों को बहुत अधिक प्रसन्नता हुई। इन दिनों सम्राट् श्रीहर्ष का शासन-काल था और वह बाण के कुल-गौरव से भली-भाँति परिचित था, लेकिन वह बाण के सम्बन्ध में प्रचलित विभिन्न प्रवादों के फल-स्वरूप रुष्ट हो गया था। अतः उसने प्रारम्भ में तो बाण का सम्मान न किया, किन्तु जब एक बार बाण उसकी राज्यसभा में स्थान पा गये तब वह बाण के अगाध पाण्डित्य, अद्भुत भाषाधिकार और कवित्व-शक्ति से प्रभावित हुए बिना न रह सका। बाण सम्राट् हर्षवर्धन के समकालीन थे। हर्षवर्धन का शासनकाल ६०६ ई० से ६४८ ई० तक माना जाता है। अतः बाण के स्थिति-काल के निर्धारण के सम्बन्ध में कोई विशेष कठिनाई नहीं है और हम यह निस्संकोच कह सकते हैं कि उनका समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्घ है।

संस्कृत गद्य साहित्य में बाणभट्ट अपनी दो रचनाओं—हर्षचरित् और कादं-वरी के लिए प्रसिद्ध हैं। ये दोनों रचनाएँ बाण की सर्जनात्मक प्रतिमा का अत्यन्त पुष्ट परिचय देती हैं। साहित्य-जगत में बाण की प्रतिष्ठा का अनुमान इसी वात से लगाया जा सकता है कि उनके सम्बन्ध में यह उक्ति प्रसिद्ध है 'बाणोच्छिष्टं जग-त्सर्वम्'। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बाण ने अपनी रचनाओं में नितान्त नूतन तथा अत्यन्त प्रौढ़ एवं उत्कृष्ट शैली का आश्रय लिया था। बाण की रचनाएँ उसकी प्रखर कल्पना-शक्ति का भी परिचय देती हैं। कादम्बरी एक काल्पनिक रचना है और प्रेम उसका मुख्य तत्व है कवि ने इस क्षेत्र के विभिन्न रूपों के हृदयहारी चित्र प्रस्तुत करने में अत्यधिक सफलता प्राप्त की है। रूप-चित्रण के समय तो कवि-कल्पना का चमत्कार देखते ही बनता है। वस्तुतः वाचस्पति

गोरोला का यह कथन पूर्णतः सत्य है कि शृंगाररस का ऐसा रस-पेशल एवं चित्ता-कर्षक चित्रण केवल कादम्बरीकार ही कर सका है। इस ग्रन्थ का एक अन्य वैशिष्ट्य भी है और वह यह कि वाण ने अपने युग के सामाजिक सन्दर्भों का भी अत्यन्त यथार्थ चित्रण किया है जिसके फलस्वरूप उनकी कल्पना केवल वाग्विलास बनकर नहीं रह गई है। वाण की रचना-शैली भी अत्यन्त उत्कृष्ट बन पड़ी है। उसमें अर्थ, भाषा और भाव का अत्यन्त उपयुक्त सामंजस्य है। इसी प्रकार से वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली रीतियों का निर्वाह भी अत्यन्त सहज है--हाँ, वाण का रुझान पांचाली के प्रति ही विशेष रूप से रहा है। यही सब ऐसे कारण हैं जिनके फलस्वरूप विदग्धमुखमण्डनम् के प्रणेता धर्मदास को यह कहना पड़ा :

रुचिरस्वरवार्णपदा रसभाववती जगल्मनो हरति ।
सा किं तरुणि ? नहि नहि वाणी बाणस्य मधुर शीलस्य ॥

अर्थात्, 'उसका क्या कहना ? रुचिर स्वर, रुचिर वर्ण, रुचिर पद और रस-भाव से परिपूर्ण वह प्रथम दृष्टि में ही जगतींतल के मन का हरण कर लेती है।

'क्या वह नवयौवना है ? नहीं, नहीं, मैं तो वाण की सरस और मधुर वाणी के विषय में कह रहा हूँ।'

वाणभट्ट की रचनाओं में संस्कृत गद्य-साहित्य अपने पूर्ण उत्कर्ष पर दिखाई देता है। तदनन्तर जो रचनाएँ लिखी गईं उनमें कोई भी ऐसी नहीं जिसे वाण की रचनाओं के समकक्ष रखा जा सके। धनपाल ने दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में 'तिलक मंजरी' की रचना की। यद्यपि यह रचना बाण के अनुकरण पर ओजपूर्ण एवम् प्रवाहपूर्ण भाषा में लिखी गई है और इसमें चित्रकला, प्रस्तर कला आदि अन्य विविध कलाओं का विशद वर्णन है जिससे तद्युगीन भारतीय कला-कौशल का पता चलता है, किन्तु फिर भी यह पाठक के मन को आद्यन्त अपने में रमाये रखने में पूर्णतः समर्थ नहीं है जिसका मुख्य कारण यह है कि इसमें गद्यकाव्यो-पयोगी विशिष्टताओं का अभाव है। दसवीं-ग्यारहवी शताब्दी में ही वादीभसिंह ने 'गद्य-चिन्तामणि' की रचना की। इस रचना पर भी कादम्बरी का पूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है। लेखक कथानक, रीति तथा भाषा-भंगिमा तीनों ही दिशाओं में वाण को अपना आदर्श मानकर चला है। वैसे उसने इस बात का प्रयत्न किया

है कि समूची कथा को मनोविश्लेषणात्मक ढंग से व्यक्त किया जाये और इस दिशा में उसे सफलता भी मिली है।

संस्कृत गद्य-साहित्य में बाण के बाद सर्वाधिक सफलता सोढल्ल को ही मिली है। सोढल्ल का रचनाकाल भी ग्यारहवीं शताब्दी माना जाता है। ये शैव मत के अनुयायी थे और इन्होंने 'उदय सुन्दरी कथा' की रचना की। आठ उच्छ्वासों में विभक्त यह ग्रन्थ गद्य-पद्य की मिश्रित शैली में लिखा गया है। इस ग्रन्थ का नामकरण नागलोक के अधिपति शिखण्डी तिलक की कन्या उदयसुन्दरी के नाम पर किया गया है। उदयसुन्दरी इस ग्रन्थ की नायिका भी है। यह ग्रन्थ अपनी कवित्वपूर्ण शैली के फलस्वरूप पाठक को अनायास मोह लेने की सामर्थ्य रखता है।

सोढल्ल के बाद वामनभट्ट बाण का नाम उल्लेखनीय है। यह त्रिलिंग प्रदेश के नरेश राजा वेमभूपाल के सभा-कवि थे। वेमभूपाल का शासन-काल १४०३ ई० माना जाता है जिसके आधार पर हम इनका स्थिति-काल पन्द्रहवीं शताब्दी मान सकते हैं। इन्होंने 'वेमभूपालचरित' की रचना की। इस रचना पर भी बाण का अत्यधिक प्रभाव है और यह हर्षचरित के अनुकरण पर लिखी गई है; किन्तु फिर भी यह एक अत्यन्त भावपूर्ण कृति है तथा लेखक की अभिव्यंजना-शक्ति का परिचय देने में पूर्णत: समर्थ है। मधुर पद-विन्यास एवम् सरस अलंकार योजना इस कृति की ऐसी विशेषताएँ हैं जो पाठक के मन को अनायास अपनी ओर आकर्षित कर लेती हैं।

वामन भट्ट बाण के बाद जिन लेखकों ने संस्कृत गद्य साहित्य को समृद्ध किया उनके नाम अन्धकाराच्छन्न हैं। आज जो रचनाएँ उपलब्ध हैं उनमें पण्डित हृषीकेश भट्टाचार्य, पण्डित अंबिकादत्त व्यास, श्रीनिवास शास्त्री, हरिदास सिद्धान्तवागीश तथा क्षमाराव के नाम उल्लेखनीय हैं जिन्होंने क्रमशः 'प्रबन्ध मंजरी', 'शिवराज विजय', 'चन्द्रमहीपति', 'सरला' तथा 'कथा मणिमाला' की रचना कर संस्कृत-गद्य-साहित्य को समृद्ध किया है। इन रचनाओं में भी 'शिवराज विजय' का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस ग्रन्थ में शिवाजी के गौरवपूर्ण चरित्र से सम्बद्ध घटनाओं को निबद्ध किया गया है। रचना-शिल्प की दृष्टि से इसमें जहाँ एक ओर गद्य-काव्य की प्राचीन शैली का निर्वाह है वहाँ दूसरी ओर पश्चिम के प्रभावस्वरूप अंकुरित एवम् विकसित ऐतिहासिक औपन्यासिक

शैली का मिश्रण है। श्रीनिवास शास्त्री ने चन्द्रमहीपति में तिलस्मी उपन्यासों की शैली को अपनाया है तो श्री हरिदास सिद्धान्तवागीश ने 'सरला' की रचना एक सामाजिक उपन्यास के रूप में की है। क्षमाराव ने 'कथामणि माला' में जो छोटी-छोटी कथाएँ प्रस्तुत की हैं उन पर आधुनिक कहानी-कला का स्पष्ट प्रभाव है।

प्रश्न ४१—सुबन्धु के रचना-काल का निर्धारण कीजिए।

संस्कृत की गद्य-काव्य परम्परा में सुबन्धु का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। बाण ने अपनी पुस्तक 'हर्षचरित' की भूमिका में इनकी प्रसिद्ध कृति वासवदत्ता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। किन्तु फिर भी इनके रचना-काल के सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। निम्न तथ्यों के आधार पर इनका रचना-काल सातवीं शताब्दी का प्रारम्भ निर्धारित किया गया है—

(१) ११६८ ई० के एक कन्नड़ी शिलालेख में सुबन्धु के काव्य की प्रशंसा की गई है। इससे सिद्ध है कि सुबन्धु ११६८ ई० के पूर्ववर्ती हैं।

(२) वामन जिनका रचनाकाल ८०० ई० है अपनी प्रसिद्ध पुस्तक काव्यालंकार सूत्रवृत्ति में सुबन्धुकृत वासवदत्ता और बाणकृत कादम्बरी से उद्धरण प्रस्तुत करते हैं। फलतः यह कहा जा सकता है कि सुबन्धु ८०० ई० के पूर्व हुए।

(३) कविराज ने अपनी पुस्तक राघव-पाण्डवीय में सुबन्धु, बाण और अपने आपको वक्रोक्ति में कुशल बतलाया है। उनका कथन है—

सुबन्धुर्बाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः।
वक्रोक्तिमार्गनिपुणश्चतुर्थो विद्यते न वा॥

(राघव-पाण्डवीय १।४१)

इस पद के अनुशीलन से ऐसा ज्ञात होता है कि जो पहले हुआ उसका नाम पहले लिया गया और जो बाद में हुआ उसका नाम बाद में लिया गया। कहने का अभिप्रायः यह है कि यह पद स्पष्टरूपेण इस तथ्य की ओर उन्मुख करता है कि सुबन्धु का रचनाकाल बाण से पूर्ववर्ती है। बाण का रचनाकाल ६२५ ई० से ६४५ ई० के मध्य में है। अतः कहा जा सकता है कि सुबन्धु का रचनाकाल ६२५ ई० से पूर्व का है।

(४) कीथ के मतानुसार सुबन्धु ने अपनी कृति में 'उद्योतकर' और 'वौद्धसंगत्य-लंकार' नामक ग्रंथों का संकेत किया है । इनका समय ७वीं शताब्दी का प्रारम्भ था। इससे सिद्ध होता है कि सुबुन्धु सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ के पूर्ववर्ती थे।

(५) वाण ने अपने हर्षचरित में वासवदत्ता का उल्लेख किया है। वाण का समय ६२५ से ६४५ ई० निश्चित है। अतःसुबुन्धु वाण के पूर्ववर्ती हैं।

प्रश्न ४२—सुबुन्धु कृत वासवदत्ता की कथा अपने शब्दों में लिखिए।

सुबन्धु की केवल एक ही रचना प्राप्त होती है। इस रचना का नाम वासवदत्ता है। वासवदत्ता का नाम सुनते ही हमारे मन में यह विचार उत्पन्न होता है कि इस पुस्तक की कथा का मूल आधार उदयन और वासवदत्ता संबंधी कोई कथा रही होगी। परन्तु ग्रन्थानुशीलन के उपरान्त यह धारणा निर्मूल सिद्ध होती है। हमें यह विदित हो जाता है कि यह कथा जहाँ एक ओर उदयन-वासवदत्ता की प्रचलित कथा से भिन्न है वहाँ दूसरी ओर बृहत् कथा के विभिन्न रूपों में भी यह कथा उपलब्ध नहीं होती। कथा इस प्रकार है—

एक वार राजा चिंतामणि का पुत्र राजकुमार कंदर्पकेतु स्वप्न में किसी सुन्दर कन्या के दर्शन करता है। वह उसके रूप-लावण्य एवं अनुपम शारीरिक अंग-सौष्ठव को देखकर प्रेम-मग्न हो जाता है। उसकी ऐसी अवस्था देखकर उसका परम मित्र मकरंद उसे नाना प्रकार से समझाता है। परन्तु कंदर्पकेतु के मन पर मकरंद के समझाने-बुझाने का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अंततः मकरंद और कंदर्पकेतु उस परम सुन्दरी कन्या को ढूँढ़ने के लिए निकल पड़ते हैं। घूमते-घूमते वे विन्ध्यवन में पहुँच जाते हैं। उसी वन में किसी वृक्ष के नीचे रात काटते हुए वे शुक-दम्पति की पारस्परिक वार्ता सुनते हैं। उस वार्ता को सुनने से उन्हें ज्ञात होता है कि पाटलिपुत्र-नरेश की कन्या राजकुमारी वासवदत्ता ने स्वप्न में किसी राजकुमार कंदर्पकेतु के दर्शन किए हैं तथा वह उसके प्रति अनुरक्त हो उठी है तथा अपने प्रियतम का पता लगाने के लिए उसने तमालिका को भेजा है। यह समाचार सुनते ही कंदर्पकेतु एवं मकरन्द अत्यधिक आनंदित होते हैं। शुक-दम्पति की सहायता से राजकुमार कंदर्पकेतु तथा राजकुमारी वासवदत्ता मिल जाते हैं। लेकिन पाटलिपुत्र-नरेश अपनी कन्या वासवदत्ता को किसी विद्याधर को दे देना चाहता है। परिणामतः वासवदत्ता तथा कंदर्पकेतु भाग जाते हैं। जंगल

में प्रात:काल के समय किरातों के दो दल वासवदत्ता को देखते हैं। वासवदत्ता को हस्तगत करने के लिए दोनों में परस्पर युद्ध होता है। वासवदत्ता अनुकूल अवसर देखकर बच निकलती है तथा एक आश्रम में घुस जाती है। परन्तु मुनि के द्वारा श्राप दिए जाने पर पाषाणशिला के रूप में परिवर्तित हो जाती है।

जब कंदर्पकेतु उठता है तथा वासवदत्ता को अपने निकट नहीं पाता तो अत्यन्त दु:खी हो उठता है और आत्महत्या का निश्चय कर लेता है। लेकिन उसी समय आकाशवाणी होती है तथा वासवदत्ता से पुनर्मिलन की आशा बंधाकर आत्महत्या करने से रोकती है। कंदर्पकेतु घूमते-घूमते उसी आश्रम में पहुंच जाता है जहाँ वासवदत्ता पहुँच गई थी। सहसा वह मुनि के श्राप से पाषाण-शिला के रूप में परिवर्तित हुई वासवदत्ता का स्पर्श कर लेता है। कंदर्पकेतु का शिलास्पर्श करना था कि वासवदत्ता पुनर्जीवित हो उठती है। इधर मकरन्द भी घूमता-घूमता वहाँ आ पहुँचता है। सब लोग अपनी नगरी में लौट आते हैं। वहीं पर वासवदत्ता तथा कंदर्पकेतु आनन्दमग्न हो जाते हैं।

प्रश्न ४३—सुबन्धु के रचना-कौशल पर एक आलोचनात्मक लेख लिखिए।

रचना-कौशल की दृष्टि से सुबन्धु अन्य गद्य-कवियों—बाण और दण्डी—से बहुत पीछे हैं। इनके पास न तो बाण के समान अपार शब्द-भण्डार, अलंकारों और कल्पनाओं की अपूर्व सूझ-बूझ, वर्णन की तीव्र पर्यवेक्षण-शक्ति, संगीतात्मक भाषा एवं भाव-पक्ष की तरलता देखने को मिलती है और न ही दण्डी के समान यथार्थ जीवन का ज्यों का त्यों चित्रित करने की शक्ति ही। इनके काव्य में तो शब्द-क्रीड़ा के चित्र ही देखने को मिलते हैं। आनुप्रासिक चमत्कार और श्लिष्ट पद-योजना के कारण इनका काव्य अत्यन्त कठिन हो गया है। इसीलिए सहृदय पाठक इनके काव्य का अनुशीलन करते समय झुँझला उठता है। उदाहरण के लिए वासवदत्ता के विरह-वर्णन से सम्बन्धित निम्न पद को देखा जा सकता है—

सुकान्ते कान्तिमति, मन्द मन्दमपयन बाष्पबिन्दून्। यूथिकालंकृते यूथिके, संचारय नलिनीदलतालवृन्तेनार्द्रवातान्। एहि भगवति निद्रे अनुगृहाण माम्, धक् इन्द्रियैरपरैः, किमिति लोचनमयान्येव कृतान्यगांनि विधिना। भगवन् कुसुमायुध, तवायमंजलि: अनुवशो भव भाववति मादृशे जने। मलयानिल सुरत-

महोत्सव दीक्षागुरो वह यथेष्टम्, अपगता मम प्राणाः, इति बहुविधं भाषमाणा वासवदत्ता सखीजनेन समं संमुमूर्च्छ ।" (वासवदत्ता पृ० १४३-४४)

अर्थात्—"सखि कान्तिमति मेरे आँसुओं को धीरे-धीरे पोंछ दे। यूथिका के फूलों से अलंकृत सखि यूथिके, कमल-पत्र के पंख से शीतल हवा कर। भगवति निद्रे! आ मेरे ऊपर कृपा कर। अन्य इन्द्रियाँ व्यर्थ हैं, ब्रह्म ने मेरे शरीर में सब इन्द्रियों को नेत्र ही क्यों न बना दिया। भगवान् कुसुमायुध, यह प्रणामांजलि है, प्रेम के अभिप्राय वाले इस व्यक्ति पर (मुझ पर) कृपा करो। सुरतमहोत्सव-दीक्षागुरु मलयानिल, खूब बहो, मेरे प्राण निकल रहे हैं, इस प्रकार अनेक उक्तियों के साथ वह मूर्छित हो गई।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि सुबन्धु ने यहाँ पर आनुप्रासिक चमत्कार का खूब प्रदर्शन किया है। इसी प्रकार से निम्न उद्धरण में श्लेष-योजना देखने को मिलती है—

"उपनिषदमिवानन्दमेकमुद्योतयन्तीम् द्विजकुलस्थितिमिव चारुचरणाम्, विन्ध्यगिरिश्रियमिव सुनितम्बाम्, तारामिव गुरुकलत्रतयोपशोभिताम्, शतकोटि यष्टिमिव मुष्टिग्राह्यमध्याम्' प्रियंगुश्यामासखीमिवं प्रियदर्शनाम्, ब्रह्मदत्त-महिषीमिव सोमप्रभाम्, दिग्गजकरेणुकामिवानुपमाम्, रेवामिव नर्मदाम् वेलामिव तमालपत्रप्रसाधिताम्, अश्वतरकन्यामिव मदालसां वासवदत्तां ददर्श।"

अर्थात्—"उस कंदर्पकेतु ने वासवदत्ता को देखा, जो ब्रह्मानन्द देने वाली उपनिषद् की तरह सदा आनन्द को प्रकाशित करती थी, सदाचारी ब्राह्मण की कुल मर्यादा की भाँति सुन्दर चरणों से युक्त थी, ढालू प्रदेशों से युक्त विन्ध्य-गिरि की शोभा की भाँति सुन्दर नितम्बों से युक्त थी, वज्र की यष्टि की तरह उसका मध्य भाग पतला था, नरवाहन दत्त की रानी प्रियंगुश्यामा की सखी प्रिय-दर्शना की तरह वह प्रियदर्शना (सुन्दर दर्शन वाली) थी, ब्रह्मदत्त राजा की रानी सोमप्रभा की तरह यह सोमप्रभा (चन्द्रमा के समान कान्ति वाली) थी, दिग्गज की पत्नी अनुपमा के समान वह अनुपमा (जिसकी सौन्दर्य में कोई तुलना न कर सके) थी, नर्मदा नाम वाली रेवा नदी की तरह नर्मदा (रतिक्रीड़ा का आनन्द देने वाली) थी, तमालपत्र से विभूषित समुद्रवेला

की भाँति तिलक से अलंकृत (तमालपत्र-प्रशाधिता) थी, अश्वतर नामक विद्याधर की कन्या मदालसा के समान वह यौवन-मद से अलसाई-सी थी।"

वस्तुत: सुबन्धु एक चमत्कारवादी कवि है। इसने अपने काव्य में अलंकारों का प्रयोग अलंकारों के लिए किया है, अलंकार्य या रसानुभूति कराने के लिए नहीं। इसीलिए इनके काव्य में दुरूहता का समावेश हो गया है।

यद्यपि सुबन्धु के काव्य में चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति है किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि सरल एवं स्वाभाविक पद-विन्यास का सुबन्धु में नितांत अभाव है। वस्तुत: लम्बे-लम्बे समासांत पदों से सुबन्धु को कोई अनुराग नहीं है। यदि वह समासांत पदों का प्रयोग भी करता है तो केवल छोटे-छोटे वाक्यों में। दण्डी के समान उसका वाक्य सामान्यत: पाँच-पाँच छ:-छ: पृष्ठों तक नहीं चलता, यद्यपि वर्णनों में उसके वाक्य में कहीं-कहीं उतने ही बड़े हो गए हैं जितने बाण के। सरल एवं स्वाभाविक पद-विन्यास ही नहीं अपितु स्वाभाविक एवं रमणीय दृश्यों के आकलन में भी कवि को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। विंध्याटवी में हाथी से लड़ते हुए शेर के चित्र में कवि ने जितनी स्वाभाविकता दिखलाई है वह वस्तुत: दर्शनीय है—

पद्योदञ्चददाञ्चदञ्चितवपु: पूर्वार्धपश्चार्धभाक्
स्तब्धोत्तानितपृष्ठनिष्ठितमनाग्भुग्नाग्रलाङ्गूलभृत।
दंष्ट्राकोटिविशंकटास्यकुहर: कुर्वन्सटामुत्कटा-
मुत्कर्ण:कुरुते क्रमं करिपतौ क्रूराकृति: केसरी॥

अर्थात्—"देखो वह भयंकर आकृति वाला सिंह हाथी पर आक्रमण कर रहा है, उसके शरीर का अगला हिस्सा उठा हुआ और पिछला हिस्सा झुका हुआ है, पूँछ निश्चल और खड़ी हुई है, उसकी पूँछ का अग्रभाग कुछ मुड़ा हुआ है और पीठ को छू रहा है, उसका बड़ा-सा मुख दाँतों के किनारे से भयंकर है और उसने अपने अयाल उठा रक्खे हैं तथा कान खड़े कर रक्खे हैं।"

अन्तत: कहा जा सकता है कि सुबन्धु चित्रोपम और अलंकृत गद्य-शैली तथा छोटे-छोटे वाक्यों के कारण सदैव अमर रहेंगे।

प्रश्न ४४—बाण का रचनाकाल निश्चित करते हुए कादम्बरी की कथा अपने शब्दों में लिखिए। उनके रचना-कौशल पर भी प्रकाश डालिए।

संस्कृत साहित्य की अन्यतम विभूतियों में बाण का प्रमुख स्थान है। इन्होंने [cut]ने दोनों ग्रन्थों 'हर्षचरित' व 'कादम्बरी' में अपने जीवन के सम्बन्ध में पर्याप्त [cut]केत दिए हैं। इन दोनों रचनाओं के आधार पर ज्ञात होता है कि ये जाति के [cut]ह्मण थे तथा वात्स्यायन कुल में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम चित्रभानु [cut]था माता का नाम राज्य देवी था। लेकिन इनके भाग्य में माता-पिता का सुख [cut]बदा था। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इन्हें बाल्यकाल में ही माता-[cut]ता का वियोग-दुःख अंगीकार करना पड़ा। इनके माता-पिता अतुल सम्पत्ति [cut]ड़कर मरे थे। माता-पिता के मरने के अनन्तर ये भ्रमणशील हो गए। भ्रमण [cut]ते-करते ये अनेक विद्वानों तथा कलाकारों के सम्पर्क में आए। विभिन्न विद्वानों [cut]संसर्ग से ये एक अच्छे विद्वान् बनकर घर लौटे। लेकिन राजा हर्ष किन्हीं [cut]रणों से इनसे रुष्ट हो चुके थे। परन्तु हर्ष के भाई कृष्ण ने बाण की सहायता [cut] तथा हर्ष को वास्तविक तथ्यों से परिचित कराकर बाण को राजसभा में [cut]लाया। परन्तु हर्ष की रुष्टता दूर न हुई थी, फलतः बाण का उपयुक्त स्वागत [cut]किया गया। लेकिन बाण ने अत्यन्त शीघ्र हर्ष के हृदय में अपना स्थान बना [cut]या। जब बाण राजसभा से लौटकर वापस आया तो उसने अपने रिश्तेदारों [cut]हर्षचरित सुनाया।

बाण का रचनाकाल—सम्राट् हर्षवर्धन के सभापण्डित होने के कारण [cut]म्राट् का स्थितिकाल निर्धारित करते समय किसी कठिनाई का सामना नहीं [cut]ना पड़ता। सम्राट् का राज्याभिषेक ६०६ ई० माना जाता है और उनका [cut]निवास ६४८ ई० में। ये तिथियाँ ताम्रदान-पत्रों तथा ६२९ से ६४५ ई० तक [cut]रत में भ्रमणार्थ आए हुए चीनी यात्री ह्वेनसांग के संस्मरणों के आधार पर [cut]स्वीकृत हो चुकी हैं। फलतः बाण का रचनाकाल सातवीं शताब्दी का पूर्वार्ध [cut]।

यदि बाण के हर्ष के समकालीन होने का वृत्तान्त न भी ज्ञात होता तो भी [cut]बहिरंग एवं अन्तरंग प्रमाणों से बाण का रचनाकाल सातवीं शताब्दी में [cut]ही सिद्ध होता। रुय्यक ने—जिनका रचनाकाल ११५० ई० है—अपने [cut]कार सर्वस्व में बाण का नामोल्लेख अनेक बार किया है। इसी प्रकार से [cut]न्द्र भी—जिनका रचनाकाल १०५० ई० में है—अपनी रचनाओं में बाण का

नामोल्लेख करते हैं। रुद्रट कृत काव्यालंकार के टीकाकार नमिसाधु (१०६९ ई०) भी कादम्बरी तथा हर्षचरित नामक पुस्तकों में से कथा तथा आख्यायिका के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रकार से १०२५ ई० में हुए भोज बाण के पद्य की अपेक्षा उनके गद्य को अधिक श्रेष्ठ बतलाते हैं। धनंजय (१००० ई०) अपनी पुस्तक 'दशरूपक' में बाण का उल्लेख इस प्रकार करते हैं—'यथा हि महाश्वता-मंट्ट वर्णनावसरे स्था बाण'। आनन्दवर्धन (८५० ई०) ने अपनी प्रमुख कृति 'ध्वन्यालोक' में तथा वामन ने 'काव्यालंकार की सूत्रवृत्ति' में बाण की रचना का उल्लेख किया है। इस प्रकार बारहवीं शताब्दी से लेकर आठवीं शताब्दी तक निरन्तर सभी प्रसिद्ध लेखकों ने बाण की रचनाओं का नामोल्लेख किया है। फलत: बाण का स्थिति-काल सातवीं शताब्दी पूर्वार्ध मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

केवल बहिरंग प्रमाणों के आधार पर ही नहीं अपितु अन्तरंग प्रमाणों के आधार पर भी बाण का रचनाकाल सातवीं शताब्दी का पूर्वार्ध ही ठहरता है। उन्होंने अपने 'हर्षचरित' के प्रारम्भिक पद्यों में अनेक कवियों एवं कृतियों का उल्लेख किया है। व्यास, वासवदत्ता, भट्टार हरिचन्द, सातवाहन, प्रवरसेन कृत सेतुबन्ध, भास, कालिदास, बृहत्कथा और आढ्यराज आदि कवि और कृति उन्हीं में से कुछेक हैं। इन सभी कृतियों एवं लेखकों के सम्बन्ध में यह ध्यातव्य है कि किसी एक का भी रचनाकाल सातवीं शताब्दी के बाद का नहीं है। अत: बाण का रचनाकाल इनके बाद ही होना चाहिए। बाण अपने 'हर्षचरित' में लिखते हैं कि हर्ष ने अपना समस्त धन-वैभव ब्राह्मणों एवं बौद्ध भिक्षुओं को दान कर दिया था। ह्वेनसांग ऐसे एक अवसर पर ६४३ ई० में उपस्थित था। अत: बाण का रचनाकाल सातवीं शताब्दी का पूर्वार्ध ही होना चाहिए।

बाण की रचनाएँ—बाण के नाम से चार रचनाएं प्राप्त होती हैं। ये चार रचनाए हैं—चण्डीशतक, पार्वती-परिणय, हर्षचरित, कादम्बरी। डा० कीथ के विचारानुसार चण्डीशतक तथा पार्वती परिणय को बाण-विरचित नहीं माना जा सकता। इसका कारण यह है कि ये दोनों ग्रंथ रचना-कौशल की दृष्टि से अत्यन्त अवर कोटि के हैं। वस्तुत: बाण की कीर्ति तो 'हर्षचरित' तथा 'कादम्बरी' पर आधृत है। कादम्बरी की कथा अधोलिखित है :

विदिशा के राजा शूद्रक एक दिन अपने दरबार में बैठे हुए थे। वहाँ कोई चाण्डाल कन्या एक मेधावी शुक के साथ आई। उस शुक ने राजा को आशीर्वाद देकर अपनी दुःखभरी कथा मानवी-भाषा में सुनानी आरम्भ की। उसने बतलाया कि उसकी माता की मृत्यु उसके जन्म के समय ही हो गई थी। फलतः वह अपने पिता के साथ विन्ध्यारण्य के वृक्ष पर निवास करने लगा। लेकिन कुछ समय के उपरान्त किरातों ने उसके पिता को मार दिया और वह नीचे गिर गया। वहाँ से जाबालि मुनि का एक शिष्य दयार्द्र होकर उसे अपने गुरु के आश्रम में ले गया। आश्रम में पहुंचने पर जाबालि मुनि ने उसके पूर्व-जन्म का वृत्तान्त शिष्यों को सुनाया जो इस प्रकार था—

उज्जयिनी नरेश तारापीड़ की रानी का नाम विलासवती था। उसके मन्त्री का नाम शुकनास था। बहुत समय बीतने पर तारापीड़ के यहाँ चन्द्रापीड़ और शुकनास के यहाँ वैशम्पायन नामक पुत्रों ने जन्म लिया। दोनों पुत्रों का पालन-पोषण साथ-साथ हुआ और धीरे-धीरे दोनों घनिष्ठ मित्र हो गये। सोलह वर्ष की अवस्था में इन्होंने समस्त विद्याओं में निपुणता प्राप्त कर ली। शिक्षा-समाप्ति पर शुकनास ने चन्द्रापीड़ को एक मनोहर एवं राजोपयोगी उपदेश दिया। तब राजकुमार को युवराज पद देकर इन्द्रायुध नामक एक विलक्षण घोड़ा तथा पत्र-लेखा नामक एक विश्वासपात्र सेविका दी गई। अब राजकुमार अपने अभिन्न मित्र वैशम्पायन के साथ दिग्विजय के लिए निकल पड़ा। तीन वर्षों तक निरन्तर विजय प्राप्त करने के उपरान्त एक दिन वे एक किन्नर-युगल का पीछा करते हुए आच्छोद नामक एक रमणीय सरोवर के निकट पहुँचे। वहाँ पर राजकुमार का परिचय तपश्चर्या करती हुई महाश्वेता नाम्नी रमणी से हुआ। उसने राज-कुमार को बतलाया कि एक गन्धर्व कन्या थी। पुण्डरीक नामक एक ऋषि कुमार को देखकर वह उस पर अनुरक्त हो गई। एक दिन जब वह अच्छोद सरोवर पर स्नान के लिए आई तब पुण्डरीक भी उसके प्रेम-पाश में बंध गए। लेकिन मिलन के पूर्व ही पुण्डरीक की स्मर-पीड़ा से मृत्यु हो गई। जब वह उसकी चिता के साथ सती होने लगी तब एक दिव्य-मूर्ति ने पुनर्मिलन का आश्वासन देकर पुण्डरीक के शरीर को ग्रहण कर लिया। इस आत्म-कथा के अतिरिक्त महा-श्वेता ने राजकुमार को अनुपम लावण्यवती तथा अपनी प्रिय सखी कादम्बरी के

सम्बन्ध में भी अनेक बातें बतलाईं। तदुपरान्त चन्द्रापीड़ कादम्बरी के दर्शन करने गया। प्रथम साक्षात्कार में ही दोनों एक दूसरे पर मोहित हो गए। दोनों अभी पारस्परिक अनुराग को प्रकट भी नहीं कर पाये थे कि चन्द्रापीड़ को पिता का बुलावा आने के कारण शीघ्र लौटना पड़ता है। वे वैशम्पायन को सेना के लौट आने का निर्देश करके उज्जयिनी चले जाते हैं। इस अवसर पर कादम्बरी बहुत दुःखी हो जाती है आत्म-हत्या के द्वारा अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देना चाहती है किन्तु पत्र-लेखा—जिसे चन्द्रापीड़ पीछे छोड़ गया था—समझा-बुझाकर उसे ऐसा करने से रोक देती है। तदुपरान्त स्वयं चन्द्रापीड़ के पास आकर कादम्बरी की प्रेम-विह्वलता की गाथा सुनाती है।

बाण-कृत कादम्बरी की कथा यहीं समाप्त हो जाती, इसके आगे की कथा उनके पुत्र भूषणभट्ट ने लिखी है जो इस प्रकार हैं—

पत्रलेखा के मुख से कादम्बरी की विरह-विह्वलता सुनने के उपरान्त चन्द्रापीड़ उससे मिलने के लिए उद्यत होता है। वह महाश्वेता के पास पहुंचता है। महाश्वेता से उसे अपने परम मित्र वैशम्पायन की विपत्ति का अवबोध होता है। उसे ज्ञान होता है कि वैशम्पायन ने महाश्वेता पर मोहित होकर उससे एकांत में प्रणय का प्रस्ताव रक्खा था जिसके फलस्वरूप महाश्वेता ने उसे श्राप दे दिया और वह तोता बन गया। मित्र की इस विपत्ति को सुनने के बाद चन्द्रापीड़ भी प्राण त्याग देता है। कादम्बरी विलाप करने लगती है। इतने में आकाशवाणी होती है कि इसके प्राण शापवश निकले हैं, अतः तुम इसके शव को सुरक्षित रखो, अन्त में तुम दोनों को तुम्हारे प्रियतमों की प्राप्ति होगी। तारापीड़ और देवी विलासवती भी पुत्र की मृत्यु का समाचार सुनकर अत्यधिक उद्विग्न हो जाते हैं। जाबालि की कथा यहीं पर समाप्त हो जाती है। इसके उपरान्त शुक (पुण्डरीक) को खोजता हुआ उसका मित्र कपिंजल जाबालि के आश्रम में प्रवेश करता है और अपने मित्र की ऐसी अवस्था देखकर अत्यन्त दुःखित होता है। एक दिन शुक आश्रम से उड़ निकलता है और किसी चाण्डाल के द्वारा पकड़ा जाता है, वह उसे अपनी पुत्री को दे देता है। यह चाण्डाल-कन्या ही उसे शूद्रक के पास लेकर आती है। इसके बाद का वृत्तान्त शुक को ज्ञात नहीं हैं। इतना ही

नहीं उसे यह भी मालूम नहीं है कि चाण्डाल-कन्या उसे यहाँ क्यों लाई है। इसके बाद चाण्डाल कन्या अपना परिचय प्रस्तुत करते हुए कहती है कि पुण्डरीक की माता लक्ष्मी है, पुण्डरीक पिछले जन्म का वैशम्पायन तथा इस जन्म का शुक है। शूद्रक स्वयं पिछले जन्म में चन्द्रापीड़ था और उसके पूर्व जन्म में भगवान् चन्द्रमा जिसे पुण्डरीक ने श्राप दे दिया था। इतना कुछ कहने के उपरान्त चाण्डाल-कन्या (पुण्डरीक की माता लक्ष्मी) अन्तर्धान हो जाती है। लक्ष्मी के जाने के उपरान्त शूद्रक और शुक भी अपना यह शरीर छोड़ देते हैं, चन्द्रापीड़ का शव भी पुनर्जीवित हो जाता है। इसके बाद महाश्वेता तथा पुण्डरीक और कादम्बरी तथा चन्द्रापीड़ का मिलन होता है तथा वे कभी चन्द्रलोक तथा कभी मृत्युलोक में विहार करते हुए सानन्द जीवन व्यतीत करते हैं।

बाण का रचना-कौशल—सानुप्रासिक समसांत पदावली, अपार शब्द-भण्डार, प्रकृति का विशद चित्रण, मानवीय मनोवृत्तियों के सूक्ष्म पर्यवेक्षण एवं काव्योपयोगिनी कल्पना की आश्चर्यजनक शक्ति आदि का दर्शन करने की चाह यदि किसी पाठक को है तो उसे बाण के काव्य का अनुशीलन करना चाहिए। वस्तुत: बाण इन सब गुणों में इतना दक्ष था कि उनके समकालीन एवं परवर्ती साहित्य-पंडितों ने उनके काव्य की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है, उन्हें 'बाणोच्छिष्टं जगत सर्वम' अर्थात् बाण ने सारे जगत को जूठा कर दिया है की पदवी से विभूषित किया है।

साहित्यिक दृष्टि से बाण के काव्य का निरीक्षण करने पर ज्ञात होता है कि वह रमणीय प्रणय-चित्र, नखशिख वर्णन तथा प्राकृतिक दृश्यों ने आकलन में बहुत कुशल हैं। उनके प्रणय-चित्रों में संयोग और वियोग दोनों ही प्रकार के भावों का सफल अंकन हुआ है। महाश्वेता-विलाप और कादम्बरी के विरहवर्णन में कवि ने कमाल ही कर दिया है। नखशिख-वर्णनों के क्षेत्र में उन्होंने केवल स्त्रियों के नखशिख का वर्णन ही नहीं किया है अपितु पुरुषों के अंग-प्रत्यंग का निरीक्षण भी किया हैं। जहां वे एक ओर चाण्डाल-कन्या, शूद्रक की स्नानक्रिया के अवसर पर वारिविलासिनियों, महारानी विलासवती, तांबूलकरक-वाहिनी पत्र-लेखा, तप:पूत महाश्वेता और गंधर्वराजपुत्री कादम्बरी का रूप-वर्णन अत्यन्त रसता के साथ करते हैं वहाँ दूसरी ओर शूद्रक और चन्द्रापीड़ जैसे राजाओं की

पुरुषोचित आकृति, जाबालि और जाबालिपुत्र हारीत तथा पुण्डरीक और कपिंजल के तपस्विजनोचित वर्णन में भी अपूर्व सूझ बूझ का परिचय देते हैं। इतना ही नहीं, विशद, सजीव, अलंकृत और सूक्ष्म प्रकृति-चित्रण करने में भी कवि पर्याप्त कुशल हैं। विंध्याटवी, सूर्य और चन्द्रमा के उदय और अस्त, उठती हुई संध्या और रात्रि के अन्धकार उन्नत हिमालय के भव्य दृश्यों और भयानक वनों के बीच स्थित अच्छोद सरोवर आदि के वर्णनों में बाण को पर्याप्त सफलता की प्राप्ति हुई है। प्रमाणस्वरूप एक-दो चित्र देखिये :

"बनकरिकुलमदजलसेक संवर्धिवैरतिविकचधवलकुसमनिकरमत्पुच्चतया तारकागणमिव शिखरप्रदेशसंलग्नमुद्वहद्भिः पादपैरुपशोभिता, मदकलकुररचलदश्यमानमरियपल्लवा, कटिकलभकरमृदिततमालकिसलयामोदिनी, मधुदोयरक्तकेरलीकपोलच्छाविना संचरद्देवताचरणालक्तकरसरंचितेनेव, पल्लव चयेन संच्छादिता"......

यहाँ पर कवि ने विंध्याटवी की शोभा का वर्णन किया है। इसी प्रकार से सूर्याप्त का दृश्य प्रस्तुत करते समय कवि एक स्थल पर लिखता है—

"अनेन च समयेन परिणतो दिवसः। नानोत्थितेन मुनिजनेनार्धविधिमुपपादयता यः क्षितितले दत्तस्तमम्बरतलगतः साक्षादिव रक्तचन्दनांगरागं रविरुद्वहत्। ऊर्ध्वमुखैरर्कबिम्बविनिहितदृष्टिभिरुष्मपैस्तपोधनैरिव। परिपीयमानतेजः प्रसरो विरलातपो दिवसस्तनिमानमभजत्। उद्यत्सप्तर्षिसार्थस्पर्शपरिजिहीर्षयेव संहृतपादः पारावतचदणपाटलरागो रविरम्बरतलादलम्बत्। विहाय धरणतलमुन्मुच्य कमलनीव नान शुकतनथइव दिवसावसाने तपोवन तरुशिखरेषु पर्वताग्रेषु च रविकिरणाः स्थितिमकुर्वतः।"

इन्होंने प्रकृति-चित्रण करते समय अलंकारों से भी पर्याप्त सहायता ग्रहण की है। इस दृष्टि से श्लेष, उत्प्रेक्षा, परिसंख्या और विरोध आदि कवि के प्रमुख प्रिय अलंकार रहे हैं।

कवि का भावपक्ष जितना सबल है उतना ही सबल उनका कलापक्ष भी। वस्तुतः उनकी वर्णन-शक्ति बहुत भारी है। भाषा पर उनका विद्वत्तापूर्ण अधिकार है। इसीलिए उन्होंने कितने ही कठिन और अप्रसिद्ध शब्दों का प्रयोग कर डाला है। इसलिए वेंबर ने लिखा है—"उनका (बाण का) गद्य

एक ऐसा भारतीय जंगल है जिसमें झाड़-झंखाड़ों के आने के कारण पथिक जब तक मार्ग न बना ले, आगे नहीं बढ़ सकता, और जिसमें उसे अप्रसिद्धि शब्दों के रूप में भयानक जंगली जानवरों का सामना करना पड़ता है।" लेकिन बाण के काव्य पर ऐसा आरोप करना बाण के साथ अन्याय करना है क्योंकि उन्होंने अपनी रचनाओं में केवल शब्द-क्रीड़ा का ही परिचय नहीं दिया है, उनके यहाँ तो भाषा की जटिलता के साथ ही साथ भाव-सौन्दर्य भी दर्शनीय है।

वाण की रचनाओं में अलंकारों की छटा भी दर्शनीय है। इस दिशा में उन्होंने केवल अति प्रचलित उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों को ही नहीं अपनाया है अपितु अप्रचलित रसनोपमा, विरोधाभास, आक्षेप, परिसंख्या, वक्रोक्ति आदि अलंकारों का भी बड़ी सहजता के साथ प्रयोग किया है। एकाध चित्र देखिए कितने सुन्दर बन पड़े हैं अपने आप में—

रसनोपमा—'क्रमेण च कृतं मे वपुषि वसंत इव कुसुमेन, कुसुम इव मधुकरेण मधुकर इव मदेन नवयौवनेन पद्म।

विरोधाभास—'शिशिरस्यापि रिपुजनसंतापकारिणः, स्थिरस्याप्यनवरतं भ्रमतः, निर्मलस्यापि सर्वजनरागकारिणः।

वस्तुतः कवि को इस दिशा में इतनी सफलता की प्राप्ति हुई है कि पं० चन्द्रशेखर पाण्डेय के शब्दों में कहना पड़ता है कि, "बाण की शैली में अलंकारों का समुचित प्रयोग अपूर्व रमणीयता का संचार करता है। उनके अलंकारों की छटा दर्शनीय है। उनके लम्बे-लम्बे समास यदि गिरि नदी के उद्दाम प्रवाह की भाँति हैं तो उनकी श्लिष्ट उपमाएँ इन्द्रधनुष की छाया की भाँति उसे रंगीन बना देती हैं। उनके अनुप्रास भाषा में विलक्षण स्वर-माधुर्य का संचार करते हैं।"

शैली के क्षेत्र में कवि ने न गौड़ी का ही आश्रय ग्रहण किया है और न वैदर्भी का ही। वह तो गौड़ी और वैदर्भी के छोर को छूता हुआ मध्यम मार्ग की पांचाली सरणि का ही आश्रय ग्रहण करता है।

अन्ततः गोवर्धनाचार्य के शब्दों में बाण के सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त है—

जाता शिखण्डिनी प्राग यथा शिखण्डी तथावगच्छामि।
प्रागल्भ्यमधिकमाप्तुं वाणी बाणो बभूवेति ॥
(आर्या सप्तशती ३७)

प्रश्न ४५—दण्डी का रचनाकाल निश्चित कीजिए।

दण्डी की तिथि विवादास्पद तथा अन्धकार के आवरण से आच्छन्न है। इस ओर सर्वप्रथम प्रयास स्व० प्रो० विलसन ने किया था। उन्होंने इनका रचनाकाल ११वीं शताब्दी का उत्तरार्ध अथवा बारहवीं शताब्दीं का पूर्वार्ध माना था। उनके अनुसार दशकुमार चरित में आए हुए भवनों और भोज वंशों के उल्लेख तिथि निर्णायक हैं। किन्तु वस्तुतः श्री विलसन की उक्तियों में बल नहीं है। यवनों के उल्लेख से केवल यही सिद्ध होता है कि दण्डी मुस्लिम विजय से पूर्व हुए हैं। परन्तु कितने पहले, यह पता नहीं। फिर संस्कृत साहित्य में यवन शब्द ग्रीक आदि अनेक विदेशी जातियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। अतः यवनों का उल्लेख तिथि-निर्णय में सहायक नहीं। इसी प्रकार भोज एक वंश का नाम है। कालिदास ने भी भोज का उल्लेख किया है और महाभारत में भी भोज का वर्णन है। अतः दण्डी का सकेत किस काल के भोजवंशीय राजा की ओर है, यह ज्ञात नहीं। अतः श्री विलसन का मत माननीय नहीं है।

श्री अगाशे के अनुसार दण्डी ने अपने ग्रन्थ 'दशकुमारचरित' की रचना ११वीं या १२वीं शताब्दी में की क्योंकि दसवीं शताब्दी से पूर्व दशकुमारचरित का उल्लेख किसी संस्कृत के लेखक ने नहीं किया है। नृपतुंग ने भी बाण की तो प्रशंसा की है किंतु दण्डी की नहीं। परन्तु इस युक्ति में भी सार नहीं है क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि पीछे आने वाले लेखक अपने पूर्ववर्ती सभी लेखकों की ओर निर्देश करें अथवा वे उन सबकी कृतियों से उद्धरण दें। अतः इस मत को मानना सम्भव नहीं।

दशकुमारचरित में वर्णित सामाजिक स्थिति भी इस समस्या पर कोई प्रकाश नहीं डालती। ठीक इसी प्रकार की सामाजिक अवस्था शूद्रक के मृच्छकटिक में मिलती है। राजनैतिक और भौगोलिक वर्णन भी यही सिद्ध करते हैं कि यह पुस्तक मुसलमानों के आने से पूर्व की है।

दण्डी के नाम का उल्लेख नवीं शताब्दी के ग्रन्थों में मिलता है, अतः यह

निश्चित है कि नवीं शताब्दी तक दण्डी अपने काव्य का प्रणयन कर चुके होंगे।

श्री काले के मतानुसार दण्डी आचार्य वामन के पूर्ववर्ती हैं। वामन का समय ८वीं शताब्दी का पिछला भाग है अतः वे मानते हैं कि दण्डी की तिथि की निचली सीमा ८वीं शताब्दी का पूर्वार्ध है।

वस्तुतः दण्डी का काल-निर्णय काव्यादर्श के आधार पर ही किया जा सकता है और इसके आधार पर दण्डी का काल ६५० ई० के आस-पास ठहरता है, क्योंकि पाँचवीं शताब्दी ई० के राजा प्रवरसेन द्वारा रचित सेतुबन्ध नामक प्राकृत काव्य का उल्लेख दण्डी के काव्यादर्श में है।

प्रश्न ४६—दशकुमार चरित की कथा अपने शब्दों में लिखिए।

जैसा कि इस ग्रंथ के नाम से प्रकट है इसमें दस राजकुमारों की कहानी है। इस ग्रंथ का वर्तमान स्वरूप तीन भागों में विभाजित है—

(क) पूर्वपीठिका, जिसमें पांच उच्छ्वास (अध्याय) हैं। (ख) दशकुमार-चरित जिसमें आठ उच्छ्वास हैं। (ग) उत्तरपीठिका, जिसमें अन्तिम राजकुमार विश्रुत की कहानी पूरी हो गई है।

संक्षेप में इसकी कहानी इस प्रकार है—

मगधप्रदेश की पुष्पपुरी नाम्नी नगरी में राजहंस नामक एक प्रतापी नरेश शासन करता था। उसकी भार्या वसुमती परम लावण्यवती एवं गुणवती थी। राजहंस ने मालव-नरेश मानसार पर आक्रमण किया। मानसार पराजित हुआ, इस पराजय से उसे बहुत लज्जा का अनुभव हुआ। इसलिए उसने शिवजी की आराधना कर दिव्य-शक्ति प्राप्त की। इस शक्ति की सहायता से उसने राजहंस को पराजित कर उसके राज्य को अपने राज्य में मिला लिया। राजहंस अपने परिवार और सचिवों सहित विन्ध्याटवी में निवास करने लगा। धर्मपाल, पद्मोद्भव तथा सितवर्मा नामक सचिव यहाँ पर भी उसकी पूर्ववत् सेवा करने लगे। कुछ समय के उपरांत धर्मपाल के सुमंत्र, सुमित्र और कामपाल, पद्मोद्भव के सुश्रुत और रत्नोद्भव तथा सितवर्मा के सुमति और सत्यवर्मा नामक पुत्र उत्पन्न हुए। इनमें से कामपाल, रत्नोद्भव और सत्यवर्मा ने तो विदेश-यात्रा के लिए प्रस्थान किया और शेष पिताओं की मृत्यु के उपरान्त सचिव नियुक्त हुए।

कुछ समय के अनन्तर वसुमती के गर्भ से राजवाहन नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। इसी समय राजा के मन्त्रियों के भी पुत्र उत्पन्न हुए। कामपाल, रत्नोद्-भव और सत्यवर्मा के पुत्र भी राजा के पास आ गए। राजा (राजहंस) के परम मित्र प्रहारवर्मा के दो पुत्र भी राजा के समीप लाए गए। जब इन सब कुमारों ने सब प्रकार की विद्याओं में निपुणता प्राप्त कर ली तब वामदेव के कहने पर इन्हें दिग्विजय के लिए प्रेषित कर दिया गया। ये सब कुमार संख्या में दस थे।

राजवाहन ने विन्ध्याटवी के मध्य में अपना प्रथम शिविर (Camp) डाला। वहाँ एक ब्राह्मण ने आकर उसे अपनी कथा सुनाई कि क्यों ब्राह्मण वंशज होने पर भी वह किसानों का जीवन व्यतीत करता था। एक बार उसने अपने साथियों से एक ब्राह्मण को प्राण-दान देने का आग्रह किया किन्तु वे उसे अपशब्द कह-कर तथा मार कर चले गये। इसके बाद वह यमपुरी पहुँचा और यम के आदेश से पुनः जीवित हो गया। तदुपरान्त वह शिव की उपासना करने लगा। शिव ने उसे स्वप्न में दर्शन दिए और पाताल का राज्य प्राप्त करने की विधि बतलाई। शिव ने यह भी बतलाया कि इस कार्य में तुम्हारी सहायता करने वाला राज-कुमार एक-दो दिन में आ जाएगा। राजवाहन ने ब्राह्मण के पास जाकर उसकी सहायता की जिससे ब्राह्मण की इष्ट-सिद्धि हो गई। अब राजवाहन ब्राह्मण से विदा माँगकर अपने शिविर-स्थान पर लौटा। यहाँ पर उसने देखा कि उसक साथी पहले ही उसकी खोज में जा चुके हैं। अतः राजवाहन भी उन्हें खोजने के लिए निकल पड़ा। ढूँढते-ढूँढते वह उज्जयिनी के समीप पहुँचा। यहाँ पर उसकी भेंट सोमदत्त पुरुषोद्‌भव से हो गई। दोनों ने उसे (राजवाहन को) अपनी-अपनी कथा सुनाई। अब राजवाहन उज्जयिनी में निवास करने लगा। यहाँ पर उसका प्रेम अवन्तिसुन्दरी से हो गया जिसके कारण वह बन्दी बन गया। उज्ज-यिनी-नरेश चण्डवर्मा ने चंपाधिपति सिंहवर्मा पर आक्रमण किया और राज-वाहन को लकड़ी के पिंजरे में बन्द करके साथ ले गया, तदुपरान्त चण्डवर्मा राज-वाहन के सखा अपहारवर्मा द्वारा मृत्यु को प्राप्त हुआ। इतने में ही सिंहवर्मा के सहायक नरेश आ पहुँचे। इन सहायकों में ही राजवाहन को शेष मित्र मिल गए। अब सबने अपनी-अपनी कथा सुनानी आरम्भ की। लेकिन इसी समय जब

सब मित्र अपनी-अपनी कथा सुना रहे थे पुष्पपुर से राजहंस का संदेशवाहक आया। उसने बतलाया कि महाराज ने सब राजकुमारियों को एकदम वापस बुलाया है। यह आज्ञा सुनकर सब राजकुमारों ने पुष्पपुर की ओर प्रस्थान किया। मार्ग में मालव-नरेश मानसार को पराजित कर उसके राज्य को हस्तगत कर लिया, फिर उस राज्य का समुचित प्रवन्ध कर पुष्पपुर पहुँचे। तदुपरान्त उन्होंने वसुमति, राजहंस और वामदेव को प्रणाम कर अपनी-अपनी कथा सुनाई। राजहंस ने राजकुमारों को विभिन्न प्रदेशों का शासक नियुक्त कर वानप्रस्थ ले लिया। इधर सभी राजकुमार अपने-अपने राज्यों का न्यायोचित प्रवन्ध करते हुए राजवाहन की छत्रछाया में आनन्दपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगे।

प्रश्न ४७—दण्डी के रचना कौशल पर एक संक्षिप्त निवन्ध लिखिए।

संस्कृत साहित्य में दण्डी को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान की प्राप्ति हुई है जिसका अनुमान उनकी प्रशंसा में लिखे गए निम्नलिखित अवतरणों से सहज ही में लगाया जा सकता है।

(क) आचार्यदण्डिनो वाचामाचान्तामृतसम्पदाम्।
विकासो वेधसः पत्न्या विलासमणिदर्पणम्॥ (गंगादेवी)

(ख) दण्डिनः पद लालित्यम्।

(ग) जाते जगति वाल्मीकौ शब्दः कविरिति स्थितः।
व्यासे जाते कवि चेति कवयश्चेति दण्डिनी॥
—(सुभाषित रत्न भाण्डागार),

(घ) कविर्दण्डी कविर्दण्डी कविरदण्डी न संशयः।

वस्तुतः काव्य-कला के विभिन्न उपकरणों का समुचित नियोजन करने में दण्डी इतने कुशल हैं कि उनके सम्बन्ध में कही गई उपर्युक्त उक्तियाँ सत्य प्रतीत होती हैं।

दण्डी के गद्य-ग्रन्थों विशेषतः दशकुमारचरित की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने अपने युग के मध्यवर्गीय जीवन का जैसा यथार्थपूर्ण चित्र खींचा है वैसा अन्य संस्कृत लेखकों ने नहीं। उन्होंने जादूगर, चंचल तपस्वी, जैन क्षपणक, वेश्याओं, कुट्टिनियों, रागाविष्ट उत्सुक प्रेमियों और राज्यभ्रष्ट

राजाओं आदि के चरित्रों का जमघट-सा लगा दिया है। उन्होंने इन सभी चरित्रों की दुर्बलताओं को अभिव्यक्त किया है। लेकिन इन सभी तथ्यों की अभिव्यंजना करते समय इन्होने दुरूह और आरोचक पद-शैली को अपनाया है। उनके ये वर्णन न तो सुवन्धु के समान 'प्रत्यक्षरश्लेषमय' हैं और न ही वाण की भाँति 'सरसस्वरवर्ण पद' से सुशोभित साहित्यिक गद्य के आदर्श। उन्होंने तो अपने वर्णनों में प्रतिदिन काम में आने वाले गद्य का प्रयोग किया है। लम्बे-लम्बे समासों के स्थान पर छोटे-छोटे वाक्यों का ही प्रयोग किया गया है। इतना ही नहीं, उनकी शैली विषयानुरूप परिवर्तित भी होती रहती है।

लेकिन उपर्युक्त कथन से यह न समझ लेना चाहिए कि दण्डी की शैली अन-लंकृत है। अनुप्रास, यमक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग कवि ने बड़ी कुश-लता के साथ किया है। एक-दो चित्र देखिए—

यमक—कुमारामाराभिरामा रामाद्यौपौरुषा भस्मीकृतारयो रयोपहसित-समीरणा रणाभियानेन यानेनाभ्युदयाशंसं राजानमकार्षुः।

अनुप्रास—अयुग्मशरःशरशयने शाययिष्यतिः।

उत्प्रेक्षा— चिन्तयत्येवमयिव महार्णवोन्मग्नतमातण्डतुरंग श्वासरयावधूतेव व्यवर्तत त्रियामा। समुद्रगर्भवासजड़ीकृत इव मन्द प्रतापो दिवसकमः प्रादु-रासीत। (दशकुमार चरित, तृतीय उच्छ्वास)

वस्तुतः दण्डी में भाव-पक्ष और कला-पक्ष का समन्वित रूप बहुत सुन्दर रूप में दृष्टिगत होता है। यद्यपि कवि ने मूलतः भाव-पक्ष पर ही विशेष ध्यान केन्द्रित किया है किन्तु कला-पक्ष को भी उसने विस्मृत नहीं किया है।

○

९ | गीतिकाव्य

प्रश्न ४८—संस्कृत साहित्य के प्रमुख-प्रमुख गीतिकाव्य-लेखकों और उनकी कृतियों का परिचय प्रस्तुत कीजिए।

गीतिकाव्य संस्कृत-साहित्य का अत्यन्त रमणीय अंग है। कालिदास, घट-कर्पर भर्तृहरि, अमरुक, बिल्हण, धोयी, गोवर्धनाचार्य, जयदेव, पण्डितराज जगन्नाथ आदि अनेक कवियों ने सुन्दर-सुन्दर काव्य-ग्रंथ प्रस्तुत किए हैं। आगामी पंक्तियों में हम इन्हीं विभिन्न लेखकों के काव्य-कौशल का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करेंगे। अस्तु!

कालिदास—ये संस्कृत साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवियों और नाटककारों में से हैं। जिस प्रकार से शाकुन्तलम् सर्वप्रसिद्ध नाटक, रघुवंश एवं कुमारसंभव सर्व-प्रसिद्ध महाकाव्य के रूप में प्रख्यात हैं उसी प्रकार से ऋतुसंहार, मेघदूत और शृंगार-तिलक की गीति-काव्य के श्रेष्ठतम ग्रंथों में गणना होती है।

ऋतुसंहार—यह छः सर्गों का एक छोटा-सा काव्य है। इसका प्रतिपाद्य विषय प्रकृति-चित्रण है। इसमें ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर और वसन्त ऋतुओं का यथाक्रम वर्णन किया गया है। कवि ने काव्य ग्रीष्म की प्रचण्डता के साथ आरम्भ किया है और वसन्त की सरलता के साथ काव्य की परिसमाप्ति की गई है। काव्य-कौशल की दृष्टि से यद्यपि यह ग्रंथ विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है किन्तु कालिदास की सूक्ष्म ईक्षिता और प्रसादगुणशीलता का परिचय कराने में यह पूर्णतः समर्थ है। प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् मैकडानल के मतानुसार 'प्रकृति के प्रति कवि की गहरी सहानुभूति, सूक्ष्मईक्षिका और भारतीय प्राकृतिक दृश्यों को विशद रंगों में चित्रित करने की कुशलता को जितने सुन्दर रूप

में यह ग्रंथ सूचित करता है उतने में कदाचित् कोई भी दूसरा ग्रंथ नहीं करता।" केवल मैकडानल ने ही ऋतुसंहार की इस प्रकार से प्रशंसा की हो ऐसी बात नहीं है। यह ग्रंथ अन्य साहित्य-रसिकों के मन को भी मुग्ध करता रहा है। पाश्चात्य साहित्य-मनीषी ए० बी० कीथ तो इसकी गणना कालिदास के श्रेष्ठतम ग्रंथ के रूप में करते हैं। उनका कथन है, "कालिदास के दूसरे किसी भी ग्रंथ में वह पूर्ण प्रसाद गुण नहीं है जिसे आधुनिक अभिरुचि कविता की एक बड़ी रमणीयता समझती है, चाहे अलंकार-शास्त्रियों को इसने बहुत आकृष्ट न किया हो।"

मेघदूत—संस्कृत साहित्य की गीतिकाव्य परम्परा में इस ग्रंथ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। किन्तु इतना होने पर भी इस ग्रंथ की प्रामाणिक प्रति नहीं मिलती। मल्लिनाथ की टीका में यदि ११८ पद्य प्राप्त होते हैं तो वल्लभदेव की टीका में १११ ही पद्य संकलित हैं। इतना ही नहीं यदि किसी संस्करण में पद्यों की संख्या १२१ है तो किसी में इससे भी अधिक। लेकिन इन सब वैषम्यों के होते हुए भी मल्लिनाथ की टीका में प्राप्त होने वाले पद्यों की संख्या को ही ठीक माना गया है।

मेघदूत में यद्यपि कथा-वस्तु नगण्य-सी है, किन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वह अति रोचक है। एक यक्ष धनपति कुवेर के कोप से एक वर्ष के लिए निर्वासित कर दिया जाता है। वह अपनी पत्नी से वियुक्त होकर रामगिरि पर्वत पर निवास करने लगता है। आठ मास व्यतीत करने के उपरान्त वर्षा ऋतु के आगमन पर प्रिया-वियोग से उन्मत्त होकर एक मेघ के द्वारा प्रेम का संदेश प्रेषित करता है। वह मेघ से कहता है कि यहाँ से उत्तर दिशा में चलने पर तुम माल नामक क्षेत्र में पहुँच जाओगे। वहाँ से कुछ दूर तक पश्चिम में चलने के बाद की ढलान पर तुम्हें अलका नगरी मिलेगी फिर तुम उत्तर दिशा की ओर मुड़ जाना। इस प्रकार से तुम आम्रकूट पर्वत पर पहुँच जाओगे। यहाँ पर वृष्टि द्वारा दावानल को बुझाते हुए जब तुम आगे बढ़ोगे तब तुम्हें विन्ध्य पर्वत के नीचे बहती हुई नर्मदा और वेत्रवती नदी के किनारे बसी हुई विदिशा नदी के दर्शन होंगे। वहाँ से तुम उज्जयिनी को

जाना। वहाँ क्षिप्रा का स्वाद लेकर, महाकाल की सेवा कर आगे बढ़ना। आगे गम्भीरा नदी को पार कर स्कन्द के निवास स्थान देवगिरि से होकर दशपुर पहुँचना। यहाँ से आगे चलकर ब्रह्मावर्त, कुरुक्षेत्र और सरस्वती नदी से होते हुए, कनखल के पास गंगा-पार कर हिमालय पर चढ़ना। इसके बाद चरण-न्यास आदि स्थलों पर होकर क्रौंचरंध्र से निकलते हुए उत्तर दिशा में कैलाश पर्वत पर पहुँच जाना। इसी पर्वत पर तुम्हें अलका नगरी मिलेगी।

उत्तर मेघ में यक्ष अलका नगरी के वैभव का वर्णन करते हुए मेघ को अपने निवास-स्थान का सरस और विलासमय विवरण देता है ताकि उसे ढूँढ़ने में कोई कठिनाई न हो। तदन्तर वह मेघ से अभ्यर्थना करता है कि जब तुम मेरी अर्धांगिनी के निवास-स्थान पर पहुँचो तब तुम अपनी बिजली को ज़ोर से न चमकने देना क्योंकि कहीं ऐसा न हो कि मेरी पत्नी कोई ऐसा स्वप्न देख रही हो जिसमें वह मेरा ही ध्यान कर रही हो और तुम्हारी गर्जना सुनकर वह जाग पड़े। यक्ष का पुनः कथन है कि जब वह स्वयं जग जाए तभी तुम मेरे प्रेम का संदेश देना और यह कहकर धीरज बँधाना कि हमारा संयोग शीघ्र ही होगा।

काव्य-कौशल की दृष्टि से मेघदूत एक अनुपम रचना है। कवि जहाँ एक ओर कोमल कल्पनाओं की उद्भावना में दक्ष होने का परिचय देता है वहाँ दूसरी ओर अभिव्यञ्जना-कौशल के क्षेत्र में पूर्णतः पारंगत दृष्टिगत होता है। शब्दों के चुनाव में तो कवि ने विशेष कौशल दिखलाया है। कहीं वह कोमल-कान्त पदावली के द्वारा प्रेमिका के अति सुकुमार हृदय का आभास करता है तो कहीं शब्दों की नादात्मक ध्वनि से ही वर्णित विषय का चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। शब्द-चित्रों की भी मेघदूत में कमी नहीं है। अलंकारों की दृष्टि से कवि के यहाँ उपमा और उत्प्रेक्षा ही अधिक देखने को मिलते हैं। उपमा का तो वह आचार्य ही है। मन्दाक्रान्ता छन्द को अपनाने के कारण सारा काव्य मन्द मन्थर गति से चलता है। वस्तुतः मेघदूत की शैली स्वाभाविकता और प्रासादयिकता का उत्कृष्ट उदाहरण है। उसमें अन्तः प्रकृति और बाह्य प्रकृति के एक-से-एक सुन्दर चित्र भरे पड़े हैं। उदाहरण-स्वरूप एक-आध पद देखिए—

तां जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम् ।
गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम् ॥

यहाँ पर कवि ने यक्ष-पत्नी के बाह्य एवं अन्तःसौन्दर्य का सुकुमार एवं करुण अंकन किया है।

उपर्युक्त विशेषताओं के कारण मेघदूत को सार्वभौम प्रशंसा प्राप्त हुई है। पाश्चात्य कवियों ने अपनी भाषाओं में इस ग्रन्थ के रोचक अनुवाद प्रस्तुत किए हैं। इतना ही नहीं जर्मन कवि शीलर ने तो इस ग्रन्थ से प्रभावित होकर 'मारिया स्टुअर्ट' नामक काव्य ही लिख डाला है।

शृंगार-तिलक—जनश्रुति के अनुसार कालिदास शृंगार-तिलक नामक गीति-काव्य के प्रणेता भी माने जाते हैं। इसमें शृंगार रस के २३ आकर्षक पद्य हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ में कहीं पर भी कालिदास की प्रांजल शैली के दर्शन नहीं होते। इतना ही नहीं, सूक्तियाँ भी इनी-गिनी हैं। लेकिन फिर भी कल्पना की उड़ान, प्रसादपूर्ण भाषा और सरल शैली की दृष्टि से इस ग्रन्थ को हेय नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के लिए निम्न पद्य देखिए—

इन्दीवरेण नयनं मुखमम्बुजेन
कुन्देन दन्तमधरं नवपल्लवेन ।
अंगानि चम्पकदलैः स विधाय धाता
कान्ते कथं कटितवानुपलेन चेतः ॥

इस पद्य में कवि ने कोमलांगी किन्तु पाषाण-हृदया प्रियतमा का सुन्दर चित्रण किया है।

घटकर्पर—जन-श्रुति के अनुसार यह महाराज विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त इनके विषय में और कोई तथ्य ज्ञात नहीं होता है। इन्होंने २२ श्लोकों में एक लघु काव्य का प्रणयन किया है जो 'घटकर्पर' के नाम से प्रसिद्ध है। यह नाम सम्भवतः इसलिए पड़ा कि कवि ने अपने काव्य के अन्तिम श्लोक में यह प्रतिज्ञा की है कि जो कवि यमक

अलंकार के प्रयोग में मुझसे बाजी मार ले जायगा उसके यहाँ मैं घड़े के कर्पर (खप्पर) से पानी भरूंगा। इस काव्य का विषय मेघदूत से बिल्कुल उल्टा है, अर्थात् इस ग्रन्थ में एक नवयुवती पत्नी मेघ के द्वारा अपने पति के पास प्रणय-सन्देश भेजती है।

भर्तृहरि—गीतिकाव्य के इतिहास में भर्तृहरि का उल्लेख कालिदास के उपरान्त तथा शेष कवियों से पहले किया जाता है। लेकिन इतने प्रसिद्ध लेखक के जीवन के विषय में हमारा ज्ञान अपूर्ण है। जनश्रुति भी इस दिशा में हमारी कोई विशेष सहायता नहीं करती। सामान्यतः इन्हें वैराग्यशतक, नीतिशतक और शृंगारशतक का प्रणेता माना जाता है तथा इनका रचना-काल छठी शताब्दी का उत्तरार्ध ठहराया जाता है।

शृंगार-शतक—इसमें काम की विभिन्न स्थितियों, स्त्रियों के हाव-भाव, कटाक्ष, गति और वचनों का हृदयस्पर्शी वर्णन है। इसमें दिखलाया गया है कि शूर से शूर पुरुष भी कामदेव का गर्व चूर करने में असमर्थ रहता है। उसका कथन है कि स्त्री का प्रत्येक कर्म और भाव मोहक होता है—

स्मितेन भावेन च लज्जया भिया पराङ मुखैरर्धकटाक्षवीक्षणैः।
वचोभिरीर्ष्याकलहेन लीलया समस्तभावैः खलु बन्धनं स्त्रियः॥

इसी प्रकार से एक स्थल पर कवि कहता है कि स्त्रियों को अबला कहना ठीक नहीं क्योंकि इनके प्रभाव और शक्ति से तो इन्द्र आदि भी नहीं बच सके—

नूनं हि ते कविवरा विपरीतवाचोये नित्यमाहुरबला इमिकामिनीस्ताः।
याभिर्विलोसतरतारकदृष्टिपातैः शक्रादयोऽपि विजितास्त्वबलाकथंताः॥

इस प्रकार से कवि ने इस शतक में शृंगार रस का आकर्षक चित्र प्रस्तुत किया है।

वैराग्यशतक—इसमें सांसारिक सुखों की अस्थिरता तथा मानव-जीवन की दुःखमयता का प्रभावोत्पादक चित्रण है। कवि का कथन है कि मानव-जीवन का प्रतिक्षण नाश, व्यग्रता, विपत्ति, भय, मरण, आदि दुःख से आपूर्ण है। अतः मनुष्य को इस जीवन से तनिक भी मोह नहीं रखना चाहिए। मनुष्य को

तो पर्वतीय प्रदेश में बैठकर ब्रह्मा के ध्यान में मग्न होना और विलीन होना चाहिए क्योंकि इसी के द्वारा मनुष्य को वास्तविक सुख और अनन्त आनन्द की प्राप्ति हो सकती है।

नीतिशतक—इसमें कवि ने विद्या, वीरता, साहस, मैत्री, उदारता, परोपकार-परायणता आदि वृत्तियों का वर्णन किया है। समस्त रचना प्रसाद और माधुर्य गुणों से आप्लावित है। इसलिए कवि के कितने ही वाक्य सूक्तियों के रूप में प्रचलित हो गये हैं।

अमरुक—इनके अमरु और अमरुक दो नाम मिलते हैं। ये कब और कहाँ हुए इस सम्बन्ध में कुछ ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। लेकिन फिर भी विभिन्न विद्वानों के अनुसार इनका रचनाकाल ७०० ई० के लगभग माना जाना चाहिए। विद्वानों ने अपने इस अनुमान की पुष्टि निम्न तर्कों से की है—

(क) श्री आनन्दवर्धनाचार्य, जिनका रचनाकाल ८५० ई० है, ने ध्वन्यालोक में अमरुक का उल्लेख किया है अतः अमरुक ८५० ई० से पहले हुए।

(ख) वामन ने, जिनका रचनाकाल ८०० ई० है, अपने ग्रन्थ में अमरुक के तीन श्लोकों को उद्धृत किया है। अतः अमरुक ८०० ई० से पहले रहे होंगे।

अमरुक के नाम से केवल एक ही रचना अमरुकशतक प्राप्त होती है। इसके कई संस्करण प्रकाशित हुए हैं जिनमें पूर्ण समानता नहीं पाई जाती। इन विभिन्न संस्करणों में पद्य संख्या ९० से ११५ तक पाई जाती है। इन विभिन्न पद्यों में केवल ५१ पद्य समान हैं।

अमरुकशतक सहृदयों का हृदय-हार है। इसमें शृंगार की विविध स्थितियों के एक से एक सुन्दर चित्र भरे पड़े हैं। इसमें एक ओर दम्पतियों के प्रेमालाप तथा मान-मनौवल के पारिवारिक चित्र हैं, तो दूसरी ओर गुप्त प्रणय चित्रों की भी कमी नहीं है। वस्तुतः प्रणय के विभिन्न दृश्यों का नियोजन करने में कवि पूर्णतः सफल है। इसीलिए यदि वह एक स्थान पर मुग्धा नायिका की लज्जाशीलता का वर्णन करते हुए निम्न पद कहता है—

पटालग्ने पत्यौ नमयति मुखं जातविनया
हठाश्लेषं वांछत्यपहरति गात्राणि निभृतम् ।
न शक्नोत्याख्यातुं स्मितमुखसखीदत्तनयना
ह्रिया ताम्यत्यन्तः प्रथमपरिहासे नववधूः ॥

तो दूसरी ओर प्रवत्स्यत्पतिका नायिका (वह नायिका जिसका पति परदेश जाने वाला हो) की हृदय-विह्वलता का मार्मिक चित्र प्रस्तुत करते हुए उसका कथन है—

प्रस्थानं वलयैः कृतं प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतं
धृत्या न क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेन गंतुं पुरः ।
यातुं निश्चितचेतसिप्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता
गन्तव्ये सति जीवितप्रिय सुहृत्सार्थः किमुत्यज्यते ॥

अमरुक ने अपने काव्य में कलापक्ष की ओर कोई ध्यान नहीं दिया है। वह तो भावपक्ष के प्रवाह में इतना बह जाता है कि अर्थ या शब्द को सोच-सोचकर रखने की उसे सुधि ही नहीं रहती। लेकिन इसके द्वारा यह अनुमान नहीं लगाना चाहिए कि अमरुक के यहाँ प्रासाद्गिक एवं प्राञ्जल भाषा का अभाव है। वस्तुतः भावों के प्रवाह में कवि की भाषा स्वयं ही सशक्त हो गई है। इसी प्रकार से अर्थालंकारों तथा शब्दालंकारों का स्वाभाविक प्रयोग भी देखते ही बनता है। इतना ही नहीं, अमरुक में संक्षेप की भारी शक्ति भी परिलक्षित होती है। इस संक्षेप में उनमें भावों का सौन्दर्य, मनोहारिता और वैदग्ध्य किसी प्रकार क्षीण नहीं होता। निम्न पद्य में नायक और मानिनी नायिका का संवाद हमारे इसी कथन का प्रमाण है—

बाले नाथ विमुञ्च मानिनि रुषं रोषान्मया किं कृतं
खेदोऽस्मासु न मेऽपराध्यति भवान्सर्वेऽपराधा मयि।
तत्किं रोदिषि गद्गदेन वचसा कस्याग्रतो रुद्यते
नन्वेतन्मम का त्वास्मि दयिता नास्मीत्यतो रुद्यते ॥

संक्षेपतः हम कह सकते हैं कि भावपक्ष और कलापक्ष दोनों ही दृष्टियों से अमरुक का काव्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और अर्जुनवर्मदेव द्वारा उनके सम्बन्ध में कही गई निम्न उक्ति नितान्त सत्य है—

अमरुककवित्वडमरुनादेन विनिन्हुता जयति ।
शृंगारभणितिरन्या धन्यानां श्रवणविवरेषु ।।

बिल्हण—'विक्रमांकदेव चरित्' नाम ऐतिहासिक महाकाव्य के प्रणेता बिल्हण 'चौरपंचाशिका' नामक गीतिकाव्य के प्रणेता भी माने जाते है। जनश्रुति है कि किसी राजकुमारी से गुप्त प्रेम करने पर कवि को प्राण-दण्ड मिला। उसने वध-स्थल पर जाते हुए अपने प्रणय की स्मृति के रूप में ५० श्लोक बनाए और गाए। राजा इन पद्यों से बहुत प्रभावित हुआ और उसने कवि को क्षमा कर राजकुमारी के साथ विवाह कर दिया। लेकिन इतिहासज्ञ उपर्युक्त घटना को पूर्णत: असत्य ठहराते हैं। कीथ के मतानुसार बिल्हण सम्बन्धी यह किंवदन्ती कपोल-कल्पित है। विक्रमांकदेव चरित् में प्राप्त होने वाले कवि के जीवनवृत्त से भी यह जनश्रुति मेल नहीं खाती। काव्यत्व की दृष्टि से यह ग्रन्थ बहुत सुन्दर बन पड़ा है। सरस और मधुर शैली के माध्यम से कवि ने सुखमय प्रेम के बीते दृश्यों के जो सूक्ष्म और विस्तृत चित्र उतारे हैं वे अत्यन्त हृदयस्पर्शी हैं। इसी प्रकार से प्रेमी के अपने अपराध की क्षमा माँगने का निम्न दृश्य भी अति सुन्दर है—

अद्यापि तामविगणय्य कृतापराधं
मां पादमूलपतितं सहसा गलन्तीम ।
वस्त्रांचलं मम करान् निजमाक्षपन्तीं
मा मेति रोषपरुषं ब्रुवतीं स्मराम ।।

कवि की इस रचना का अनुशीलन करते समय यह द्रष्टव्य है कि प्रत्येक पद्य का आरम्भ अद्याऽपि नामक पद से हुआ है ।

धोयी—ये बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के आश्रित कवि थे। इन्होंने मेघदूत के अनुकरण पर 'पवनदूत' नामक काव्य का प्रणयन किया है। इस काव्य में एक गन्धर्व कन्या कवि के आश्रयदाता लक्ष्मणसेन के पास पवन के द्वारा अपना प्रणय-संदेश भेजती है। इसी कारण इस काव्य का नाम पवन-दूत रखा गया है। काव्य-कौशल की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। इसका वाक्य-विन्यास मनोरम तथा प्रवाह स्वाभाविक है।

गोवर्धनाचार्य—बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के आश्रित कवि गोवर्धनाचार्य भी गीतिकाव्य के प्रणेता के रूप में प्रख्यात हैं। इन्होंने आर्यसप्तशती नामक ग्रन्थ

का प्रणयन किया है। यह ग्रन्थ आर्या छन्द में लिखा गया है तथा इसमें शृंगार रस का स्निग्ध चित्रण हुआ है। शृंगार रस के दोनों पक्षों, संयोग और वियोग, के मार्मिक और स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत करने में कवि को पर्याप्त सफलता की प्राप्ति हुई है। प्रेमी-प्रमिकाओं के अन्तस्तल की भावनाओं को साकार रूप देने में कवि पूर्ण कुशल प्रतीत होता है। लेकिन कवि ने ऐसा करते समय सादृश्यमूलक अलंकारों और ध्वनि से बहुत अधिक सहायता ग्रहण की है। फलतः इनका काव्य कुछ कठिन हो गया है। लेकिन इतना होते हुए भी गीतगोविन्द के प्रणेता जयदेव द्वारा इनके सम्बन्ध में कही गई निम्न उक्ति सत्य ही उतरती है—

"शृंगारोत्तर सत्प्रमेयरचनैराचार्य गोवर्धनस्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः।"

—(गीत गोविन्द)

जयदेव—संस्कृत-साहित्य की गीतिकाव्य परम्परा में महाकवि जयदेव का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये बंगाल के 'किन्दुविल्व' नामक ग्राम के वासी थे, गोवर्धनाचार्य और धोयी के समसामयिक थे। बंगाल नरेश लक्ष्मणसेन की राजसभा के प्रमुख रत्न थे और ११०० ई० के लगभग विद्यमान थे।

जयदेव की कीर्ति का मूल आधार उनकी एकमात्र कृति गीतगोविन्द है। इस कृति में राधा और कृष्ण के प्रेम का वार्तालाप के रूप में वर्णन किया गया है। इसमें प्रेम के प्रत्येक पक्ष को लिया गया है। भारतीय टीकाकार इस गीतिकाव्य के प्रेम की रूपकात्मक व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार इसमें कृष्ण ब्रह्म के प्रतिनिधि हैं और राधा जीवात्मा की। लेकिन गीतगोविन्द अपने आध्यात्मिक पक्ष के कारण प्रसिद्ध है। उनकी प्रसिद्धि का मूल कारण उसकी ललित पदावली और गेयता है। उसमें दुर्बोधता या क्लिष्टता लेशमात्र भी नहीं है। वहाँ तो सर्वत्र लघु पदों की वेगवती धारा पाठकों का मन मुग्ध कर देती है। इतना ही नहीं, कवि छन्दों के प्रणयन में भी सिद्धहस्त दीखता है। उदाहरण के लिए निम्न पद देखिए—

कथित समयेऽपि हरिरहह न ययौ वनम्।
मम विफलमिदममलरूपमपि यौवनम्।
यामि हे कमिह शरणं सखीजनवाचनवंचिता।
मम मरणमेव वरमिति वितथ केतना॥
किमिति विषहामि विरहानलमचेतना॥

कवि का यह ग्रन्थ कितना लोकप्रिय रहा है इस तथ्य का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ लिखी जा चुकी हैं तथा अनेक कवियों ने इसके अनुकरण पर काव्य रचे हैं। इतना ही नहीं अनेक भाषाओं में इस ग्रन्थ का अनुवाद भी हो चुका है।

पण्डितराज जगन्नाथ—संस्कृत गीतिकाव्य के इतिहास में जयदेव के उपरान्त सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण नाम पण्डितराज जगन्नाथ का है। ये तैलंग ब्राह्मण थे तथा अपने युवाकाल में सम्भवतः मुगल दरबार में गए और शाहजहाँ से पण्डितराज की उपाधि प्राप्त की। इन्होंने १३ ग्रन्थों का प्रणयन किया किन्तु गीतिकाव्य के क्षेत्र में इनकी एक ही कृति 'भामिनी-विलास' मिलती है। इसमें चार विलास हैं—प्रस्ताविक-विलास, शृंगार-विलास, करुण-विलास तथा शान्त-विलास। इसके पद्य अत्यन्त सरस, सुन्दर, भावपूर्ण और मन पर एकदम प्रभाव डालने वाले है। इनकी शैली भी अत्यन्त मधुर एवं लालित्यपूर्ण है। शब्द-शोधन में भी ये पर्याप्त कुशल हैं। इनके पद्यों के अत्यधिक हृदयस्पर्शी होने का एक कारण उनका (पद्यों का) अभिनव विचारधारा से युक्त होना भी है। इनकी रचना का एकाध उदाहरण देखिए—

> निर्दूषणा गुणवती रसभावपूर्णा
> सालंकृतिः श्रवणकोमलवर्णराजिः
> सा मामकीनकवितेव मनोभिरामा
> रामा कदापि हृदयान्मम नापयाति॥

इस पद्य में कविता और प्रियतमा की श्लेषपूर्ण तुलना की गई है। अपनी विशेषताओं से कवि अपरिचित हो ऐसी बात नहीं है। वह तो स्वयं ही कहता है—

> गिरां देवी वीणागुणरणनहीनादरकरा
> यदीयानां वाचाममृतमयमाचामति रसम्॥
> वचस्तस्याकर्ण्य श्रवणसुभगं पण्डितपते—
> रधुन्वन मूर्धानं नृपशुरथवाऽयं पशुमतिः।

○

१० | कथा-साहित्य

प्रश्न ४९.—संस्कृत-कथा-साहित्य के उद्‌भव और विकास पर एक निबन्ध लिखिए।

मनुष्य स्वभावतः कथा-प्रेमी है। कथाओं के कहने और सुनने में उसे विशेष आनन्द की प्राप्ति होती है। कथाओं के लोकप्रिय होने का कारण यह भी है कि वह कलेवर में संक्षिप्त तथा रोचक हुआ करती हैं साथ ही घरेलू घटनाओं के द्वारा पाठकों के चित्त पर प्रभाव डालने में भी समर्थ होती हैं। फलतः कथाओं और आख्यानों ने साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है।

यह ज्ञात नहीं है कि कथा-साहित्य के आरम्भ के समय कौन-सी भाषा और कौन-से रूप का आश्रय लिया गया था किन्तु इस सम्बन्ध में कोई भी मतभेद नहीं है कि विश्व-साहित्य में संस्कृत में आख्यान साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मौलिकता, रचना-नैपुण्य तथा विश्व-व्यापक प्रभाव की दृष्टि से वह अनुपम और अद्वितीय सिद्ध हो चुका है।

संस्कृत कथा-साहित्य के प्रकार—विद्वानों ने संस्कृत कथा-साहित्य को दो भागों में विभाजित किया है—नीति-कथा और लोक-कथा। आगामी पंक्तियों में हम इन्हीं भेदों पर पृथक्-पृथक् विचार करेंगे। अस्तु !

नीति-कथा—नीति-कथाएँ भारतीय साहित्य की एक मुख्य विशेषता रही हैं। पतंजलि के एक कथन से इनकी सत्ता ई० सन् से पूर्व ज्ञात होती है। इतना ही नहीं पं० बलदेव उपाध्याय के अनुसार तो इन कहानियों का उदय वैदिक काल

में हुआ प्रतीत होता है। ऋग्वेद के मंडूक सूक्त तथा छान्दोग्य उपनिषद् के शौक उद्गीथ में इस प्रकार के आख्यानों के स्पष्ट संकेत हैं। महाभारत में इन कहानियों का उपयोग राजनीति के दुरूह सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण के लिए किया गया है। पालि भाषा में लिखित जातक नीति-कथाओं का अग्रणी है। भरहूत के स्तूपों पर अनेक जातक कहानियाँ अंकित की गई हैं।

नीति-कथा के प्रतिनिधि ग्रंथ—नीति-कथा के प्रतिनिधि ग्रन्थ पंचतंत्र और हितोपदेश हैं। कुछ विद्वानों द्वारा तंत्राख्यायिका, सरल ग्रन्थ, नीति सागर आदि ग्रन्थ भी गिनाए जाते हैं। किन्तु वस्तुतः वे तो इन्हीं मूल ग्रन्थों के रूपान्तर मात्र हैं।

पंचतंत्र—विष्णु शर्मा द्वारा प्रणीत इस ग्रन्थ के आज २०० से अधिक संस्करण निकल चुके हैं, अनेक भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है तथा जावा से लेकर आइसलैंड तक इसका पठन-पाठन होता है। किन्तु, दुर्भाग्य से इस ग्रन्थ के विकृत एवं परिवर्द्धित रूप के ही दर्शन होते हैं और मौलिक रूप का कोई भी पता नहीं है। इतना ही नहीं विद्वानों में तो इस सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है कि इस ग्रन्थ का वास्तविक नाम क्या था, इसका उत्पत्ति-स्थान कौन-सा है तथा इसका प्रणयन किस समय हुआ था? परन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी विभिन्न संस्करणों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर इन सभी प्रश्नों को सुलझाया जा सकता है। अस्तु!

नाम—इस ग्रन्थ का असली नाम अवश्य ही पंचतंत्र रहा होगा क्योंकि दक्षिण और नेपाल आदि सभी देशों तथा हितोपदेश और उन सभी संस्करणों में जिनमें कोई नाम नहीं दिया गया है, यही नाम आता है। उदाहरणतः हितोपदेश के प्रणेता का कथन है—

पंचतन्त्रात् तथाऽन्यस्माद् ग्रंथादाकृष्य लिख्यते।

अर्थात् पंचतंत्र और दूसरे ग्रन्थ से आशय लेकर यह ग्रन्थ लिखा जाता है। इस प्रकार से पंचतंत्र की भूमिका में भी लिखा है—

एतत् पंचतंत्रकं नाम नीतिशास्त्रं बालावबोधनार्थं भूतले प्रवृत्तम्।

यहाँ पर तन्त्र शब्द का अर्थ है किसी ग्रन्थ का एक अध्याय या खंड।

आभ्यन्तरिक साक्ष्य से भी इसकी पुष्टि होती है—

तन्त्रैः पंचभिरेतच्चकार सुमनोहरं शास्त्रम् ।

इस प्रकार के नाम भी मिलते हैं यथा अष्टाध्यायी (आठ अध्यायों की एक पुस्तक—पाणिनि के व्याकरण का नाम)। सम्भवतः 'तन्त्र' शब्द से अभिप्रेत उस ग्रन्थ खंड से हो जिसमें 'तन्त्र' का अर्थात् राजनीति और व्यवहारोपयोगी ज्ञान का निरूपण हो। प्रो० हर्टल ने तन्त्र का अर्थ दाँव-पेच किया है किन्तु बुद्धिग्राह्य न होने के कारण विद्वत्-समाज में इसे किसी मान्यता की प्राप्ति नहीं हो सकी है।

उत्पत्ति-स्थान—पंचतंत्र की मूल प्रति के उत्पत्ति-स्थान के सम्बन्ध में निश्चय-पूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध में हर्टल का यह विचार है कि इसकी रचना काश्मीर में हुई किन्तु वर्णनों के आधार पर विद्वानों ने इसे दक्षिण में रचा गया माना है।

रचना-काल—पंचतंत्र की रचना का ठीक समय बतलाना कठिन है क्योंकि यह ग्रन्थ अपने मूल रूप में प्राप्त नहीं होता। बादशाह खुसरु अनुशेरवा (५३१-५७९ ई०) की आज्ञा से पंचतन्त्र का अनुवाद पहलवी भाषा में किया गया था। इससे सिद्ध होता है कि पचतंत्र छठी शताब्दी ई० पू० विद्यमान था और इतना प्रसिद्ध हो गया था कि एक विदेशी राजा, अपने देश में उसका अनुवाद करावे और इतनी प्रसिद्धि के लिए लगभग १०० वर्ष अवश्य चाहिए।

पंचतंत्र का मूलरूप—पंचतंत्र अपने मौलिक रूप में प्राप्त नहीं है किन्तु उसके विभिन्न संस्करण प्राप्त होते हैं जिनके आधार पर मूल ग्रन्थ की कल्पना सहज ही में की जा सकती है। ये संस्करण इस प्रकार हैं—

१. पंचतंत्र के अप्राप्य पहलवी अनुवाद से अनूदित आसुरी और अरबी संस्करण।

२. पंचतन्त्र के उत्तर-पश्चिमी भारतीय संस्करण का उपयोग गुणाढ्य की वृहत्कथा में हुआ था, जो अब -सोमदेव के कथासरित्सागर में प्रस्तुत है। इसमें पंचतंत्र के पाँचों भाग सुरक्षित हैं। पर बीच-बीच में विषयान्तर की बहुलता दीख पड़ती है।

३. तन्त्राख्यायिका (३०० ई०) में मूलग्रन्थ का बहुत कुछ रूप सुरक्षित है

और इसके दो काश्मीरी संस्करण भी प्राप्त हैं।

४. पंचतन्त्र के जिस संस्करण का भारत में सर्वाधिक प्रचलन है उसे पाश्चात्य विद्वानों ने सरल संस्करण के नाम से अभिहित किया है।

५. पंचतन्त्र का एक दक्षिण भारतीय संस्करण भी मिलता है जो भारवि (६०० ई०) के वाद का है। इसमें कथाएँ संक्षिप्त रूप में दी गई हैं।

६. पूर्णभद्र जैन संस्करण (११९९ ई०) में २१ नई कथाओं का समावेश है तथा यत्र-तत्र गुजराती और प्राकृत के दर्शन भी होते हैं।

७. १६६० ई० में मेघविजय ने पंचतन्त्र के उपलब्ध संस्करणों के आधार पर पंचाख्यानोद्धार की रचना की।

८. एक नेपाली संस्करण में पंचतन्त्र के केवल पद्य ही दिए गए हैं।

उपर्युक्त सभी संस्करणों के आधार पर प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् एडगर्टन् ने जिस पंचतन्त्र का प्रकाशन किया है वही आज सर्वाधिक प्राचीन और प्रामाणिक माना जाता है।

पंचतन्त्र का वर्तमान रूप और भाषा-शैली—पंचतन्त्र के इस समय पाँच भाग हैं—मित्र-भेद, मित्र-लाभ, सन्धि-विग्रह, लब्धप्रणाश तथा अपरीक्षा कारित्व या अपरीक्षित कारिकम्। प्रत्येक भाग में मुख्य कथा के अन्तर्गत अनेक गौण कथाओं का समावेश है। इन कथाओं में पाण्डित्य और हास्यरस दोनों का ही समावेश है तथा अधिकांश के पात्र पशु हैं। ये कथाएँ केवल कथामात्र नहीं हैं अपितु किसी न किसी धार्मिक या राजनीतिक वात का सुन्दर दृष्टांत भी देती हैं।

पंचतन्त्र के प्रणेता ने सर्वत्र भावानुरूप सरल भाषा-शैली का प्रयोग किया है तथा वाक्य-विन्यास में किसी प्रकार की दुरूहता नहीं है। इस ग्रन्थ में समास वहुत कम हैं और यदि हैं तो बहुत छोटे-छोटे।

हितोपदेश—नारायण पंडित नामक किसी लेखक के द्वारा रचे गए इस ग्रन्थ का रचना-काल १३७३ ई० अथवा उसके पूर्व है। इस प्रकार के अनुमान का आधार यह है कि इसकी एक पाण्डु-लिपि १३७३ ई० की मिली है।

हितोपदेश की रचना पंचतन्त्र के आधार पर की गई है। इसमें १७ नवीन

नीति-कथाएँ भी मिलती हैं जो पंचतन्त्र में नहीं मिलतीं। समस्त कथाओं को चार भागों में बाँट दिया गया है—मित्र-लाभ, सुहृद-भेद, विग्रह और संधि। पुस्तक में सर्वत्र रोचक शैली और सरल भाषा का प्रयोग किया गया है।

लोककथा—संस्कृत के कथा-साहित्य का दूसरा भाग लोककथा के नाम से अभिहित किया जाता है। ये कथाएँ नीति-कथाओं के समान उपदेश-प्रधान न होकर मनोरंजन-प्रधान होती हैं। साथ ही, इन कथाओं के पात्र पशु न होकर प्रायः मनुष्य ही हुआ करते हैं। इसके प्रतिनिधि एवं लोकप्रिय ग्रंथों का विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है—

बृहत्कथा—डा० ब्यूलर के मतानुसार गुणाढ्य कृत इस रचना का रचना-काल प्रथम या द्वितीय शताब्दी ईस्वी है, किन्तु अद्यतन शोधों के आधार पर इसका रचनाकाल ७८ ई० माना जाने लगा है।

इस ग्रंथ का प्रणयन पैशाची भाषा में हुआ था किन्तु आज इसका मूल रूप प्राप्त न होकर संस्कृत अनुवाद ही प्राप्त होता है। आकार में यह ग्रंथ महाभारत से सात गुना बड़ा बताया जाता है और कहा जाता है कि इसके मूल में ७ लाख श्लोक थे किन्तु अब केवल एक लाख श्लोक ही प्राप्त हैं और जैसा कहा जा चुका है वे भी अपने मूल रूप में नहीं। इसके तीन संस्कृत अनुवादों में बुधस्वामी का 'बृहत् श्लोक समुच्चय' सर्वाधिक प्राचीन है। बुधस्वामी ने नैपाल में रहकर अष्टम या नवम् शतक में इसका अनुवाद किया। अन्य दोनों अनुवाद काश्मीर में ही प्रायः एक ही शताब्दी में लिखे गये।

बृहत्कथा मंजरी—इस ग्रन्थ के प्रणेता क्षेमेन्द्र काश्मीर के राजा अनन्त के आश्रित कवि थे जैसा कि नाम से स्पष्ट है यह बृहत् कथा का संक्षिप्त रूप ही है। इसमें ७,५०० श्लोक हैं। रचना-शैली की दृष्टि से इस ग्रन्थ में स्पष्टता कम किंतु साहित्यिकता पर्याप्त मात्रा में है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल १०३७ ई० के आस-पास माना जाता है।

कथासरित्सागर—सोमदेव विरचित यह ग्रन्थ १८ खंडों में विभक्त है जिन्हें लम्बक के नाम से अभिहित किया गया है। इनके उपविभाग १२४ तरंगें हैं और इनमें २२ सहस्र श्लोक हैं। इसमें मूर्खों, धूर्तों तथा शठों की कथाएँ हैं जो अत्यन्त

रोचक तथा चरित्र-निर्माण के लिए उपादेय हैं। सर्वत्र सीधी-सादी शैली का प्रयोग किया गया है तथा भाव-प्रकाशन में कहीं भी शिथिलता नहीं है।

सोमदेव काश्मीर नरेश अनन्त तथा क्षेमेन्द्र के समकालीन थे फलतः इनका समय भी १०३७ ई० के आस-पास ही माना जाता है।

वेतालपंचविंशतिका–यह २५ कथाओं का एक संग्रह है। इसमें बतलाया गया है कि किस प्रकार एक वैताल राजा विक्रमादित्य को, जो वैताल को पकड़ना चाहता है, २५ कथाएँ सुनाता है. ये कथाएँ अत्यन्त प्राचीन हैं तथा बृहत्कथा-मंजरी और कथा-सरित्सागर में ही सम्मिलित हैं। इनके अतिरिक्त १२वीं शताब्दी में जम्मालादत्त ने गद्य में तथा शिवदास ने गद्य और पद्य रूप में भी प्रस्तुत किया है। यह ग्रंथ पर्याप्त जन-प्रिय रहा है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि इसका अनुवाद बहुत-सी भारतीय भाषाओं में प्राप्त होता है।

इस ग्रंथ में सर्वत्र गद्य का ही प्रयोग हुआ है, कुछ स्थानों पर पद्य भी प्राप्त होता है। ग्रंथ की भाषा सुगम एवं लावण्यपूर्ण तथा शैली सरल, स्वच्छ तथा आकर्षक है।

सिंहासन-द्वात्रिंशिका—विक्रमादित्य से सम्बद्ध कथाग्रन्थों में सिंहासन-द्वात्रिंशिका अथवा द्वात्रिंश पुत्तलिका अथवा विक्रमचरित का भी उल्लेखनीय स्थान है। इसमें ३२ कहानियाँ हैं जिन्हें विक्रमादित्य के सिंहासन में लगी हुई ३२ पुतलियाँ धारा के राजा भोज को सुनाती हैं। इस ग्रथ के तीन संस्करण उपलब्ध होते हैं—(१) केवल गद्यमय (२) केवल पद्यमय (३) गद्य-पद्यमय। किन्तु किसी भी संस्करण में लेखक और समय का निर्देश नहीं है फलतः इसका लेखक और समय अज्ञात हैं। किन्तु इतना होने पर भी इस रचना के रचना-काल का अनुमान किया जा सकता है। प्रत्येक कहानी में धारा के राजा भोज का उल्लेख है अतः इसकी रचना भोज के बाद हुई होगी। भोज का समय १०१८-१०६३ ई० है अतः यह कहा जा सकता है कि इसकी रचना १०६३ के बाद हुई होगी।

शुक सप्तति—यह ७० रोचक कथाओं का संग्रह है, इसके कर्त्ता तथा काल के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। इसमें एक तोता अपनी स्वामिनी को ७० रात

तक एक-एक कहानी करके ७० कहानियाँ सुनाता है। उसकी स्वामिनी अपने पति के विदेश-गमन पर काम-पीड़ित हो दुराचारिणी होना चाहती थी किन्तु वह (तोता) प्रति रात्रि एक कहानी सुनाता रहा और इस प्रकार उसने अपनी स्वामिनी को दुराचारिणी होने से बचाया।

इसके तीन संस्करण उपलब्ध होते हैं तथा १४वीं शताब्दी ई० का फारसी अनुवाद भी प्राप्य है। इतना ही नहीं जैन कवि हेमचन्द, जिनका समय १०८८-११७२ ई० है, को भी इस ग्रंथ का पता था। फलतः कहा जा सकता है कि इसका रचना काल १००० ई० पू० से पहले का है।

बौद्धों तथा जैनियों द्वारा प्रणीत लौकिक कथाग्रन्थ—उपरिलिखित सभी लौकिक कथाग्रन्थ ब्राह्मणों द्वारा रचे गए हैं। किन्तु इन ब्राह्मण लेखकों के अतिरिक्त बौद्धों तथा जैनियों द्वारा प्रणीत लौकिक कथाग्रन्थ भी प्राप्त होते हैं। इन दोनों ही प्रकार के लेखकों का उद्देश्य अपने धर्म का प्रचार करना है। जैनियों द्वारा लिखी गई रचनाओं में यदि सिद्धर्षि विरचित उपमितिभव प्रपंच कथा तथा हेमचन्द्र कृत परिशिष्ट पर्व नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं तो बौद्ध रचनाओं में अवदान शतक, दिव्यावदान तथा जातक माला नामक ग्रन्थों के नाम चिर-स्मरणीय हैं।

o

११ | चम्पूकाव्य

प्रश्न ५०—चम्पूकाव्य का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए उनके विकास-क्रम पर एक निबन्ध प्रस्तुत कीजिए।

चम्पूकाव्य से अभिप्राय ऐसे काव्य से होता है जिसमें गद्य-पद्य का संयुक्त प्रयोग इस प्रकार से हो जैसे संगीत में वाद्य का सम्बन्ध गीत से होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि गद्य और पद्य मिश्रित रचना को चम्पू कहते हैं। इस प्रकार की रचना में गद्य और पद्य को प्रायः समान स्थान दिया जाता है। गद्य का प्रयोग विवरण और वर्णन के लिए किया जाता है तथा पद्य का प्रयोग प्रभावोत्पादक और निश्चित बात कहने के लिए। सामान्यतः गद्य में जो तथ्य विस्तार के साथ वर्णित होता है पद्य में वही संक्षिप्त आकार में परिवर्तित हो जाता है।

चम्पूकाव्य के नाम से अभिहित होने वाले प्रथम ग्रन्थ के दर्शन दसवीं शताब्दी से पूर्व नहीं होते यद्यपि दण्डी (६०० ई०) विरचित काव्यादर्श में चम्पू का लक्षण देखकर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि दण्डी के पूर्व संस्कृत में चम्पूकाव्य की रचना हो चुकी थी। परन्तु उपलब्ध संस्कृत साहित्य का अनुशीलन करने पर सबसे पुराना चम्पू ९१५ ई० में लिखा हुआ मिलता है। इसकी रचना त्रिविक्रम भट्ट ने की थी तथा इसका नाम नल चम्पू है। इसके अनन्तर अनेक ग्रन्थ मिलते हैं। प्रमुख चम्पूकाव्यकारों का परिचय निम्नलिखित है :

त्रिविक्रम भट्ट : उपलब्ध संस्कृत साहित्य में प्राचीनतम चम्पूकाव्य भट्ट विरचित नल चम्पू है, जिसका दूसरा नाम दमयन्ती कथा है। इनका दूसरा चम्पू ग्रन्थ मदालसा चम्पू है किन्तु जो प्रसिद्ध नल चम्पू को प्राप्त है वह किसी अन्य को नहीं। इसमें सात उच्छ्वास हैं और नल तथा दमयन्ती की कथा वर्णित

है। प्रत्येक उच्छ्वास के अन्तिम श्लोक में हरचरणसरोज शब्द है। इसमें नल के मन्त्री सालंकायन ने नल को जो उपदेश दिया है वह कादम्बरी में चन्द्रापीड को दिए गए शुकनास के उपदेश के आधार पर है। इस पुस्तक की शैली क्लिष्ट है और लेखक ने न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनों के भी उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

नल चम्पू के प्रारम्भिक श्लोकों के वाल्मीकि, व्यास, बाण और गुणाढ्य का उल्लेख होने के कारण तथा ६१५ ई० के एक दान-पत्र के आधार पर इनका समय दसवीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है।

सोमदेव सूरि : चम्पूकाव्य परम्परा के दूसरे प्रमुख प्रणेता जैन कवि सोमदेव सूरि हैं। इन्होंने ६५६ ई० में 'यशस्तिलक चम्पू' नामक ग्रन्थ की रचना की। आठ आश्वासों में विभाजित इस ग्रंथ में अवन्तिनरेश यशोधर की कथा वर्णित है। कादम्बरी को आदर्श बनाकर, पुनर्जन्म की पृष्ठ-भूमि पर इस आवागमन के चक्र को समाप्त करने के लिए जैनधर्म की आवश्यकता का प्रतिपादन ही इस ग्रंथ में किया गया है।

इस ग्रन्थ का महत्त्व रोचक कथा, सुरुचिपूर्ण शैली, सरस तथा मनोहर पद्यों अथवा धार्मिक दृष्टि से ही न होकर ऐतिहासिक दृष्टि से भी है। पण्डित चन्द्रशेखर पाण्डेय के मतानुसार इस कृति में अन्य कवियों के नामोल्लेख के साथ कुछ ऐसी काव्य-कृतियों के नाम भी आए हैं जिनका आज कोई पता नहीं।

हरिश्चन्द्र : चम्पूकाव्य-परम्परा में तीसरा उल्लेखनीय ग्रंथ जैन कवि हरिश्चन्द्र-विरचित 'जीवधर चम्पू' है। इस ग्रंथ के प्रणेता के रचना-काल के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। लेकिन गुणभद्र विरचित उत्तर पुराण पर आधृत होने के कारण यह अनुमान किया जाता है कि प्रस्तुत ग्रंथ का लेखक गुणभद्र के बाद हुआ होगा। गुणभद्र का रचनाकाल ८५० ई० माना जाता है। अतः कहा जा सकता है कि जैन कवि हरिचन्द्र ६०० ई० के आस-पास हुए होंगे। इनके सम्बन्ध में दूसरा विवादस्पद प्रश्न है कि धर्मशर्मा-भ्युदय के प्रणेता हरिचन्द्र और इनमें पारस्परिक सम्बन्ध क्या है? वस्तुतः यह

निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि दोनों व्यक्ति (जीवधर चम्पू के प्रणेता हरिचन्द्र एवं धर्मशर्माभ्युदय के प्रणेता हरिचन्द्र) एक ही हैं अथवा भिन्न-भिन्न।

जीवधर चम्पू का साहित्यिक मूल्य उतना नहीं है जितना ऐतिहासिक, किन्तु इतना होने पर भी हम कह सकते हैं कि लेखक माघ और वाक्पति के अनुसरण में पूर्णत: सफल रहा है।

भोज : इस परम्परा में हरिचन्द्र के उपरान्त भोज विरचित रामायण चम्पू का नाम भी लिया जाता है। इसमें रामायण की कथा चम्पू शैली में वर्णित है। वैदर्भी रीति में लिखा गया यह ग्रन्थ केवल एक ही व्यक्ति की रचना नहीं है अपितु इस ग्रंथ में लक्ष्मण भट्ट और वेंकटराज नामक अन्य विद्वानों का भी हाथ है। कहने का अभिप्राय यह है कि यदि धारा नरेश भोज ने इस ग्रंथ का श्रीगणेश कर कथा को किष्किधा काण्ड तक पहुँचाया तो लक्ष्मण भट्ट ने युद्ध काण्ड और वेंकटराज ने उत्तर काण्ड नामक प्रकरणों को जोड़कर पूर्ण किया।

अनन्त : रामायण चम्पू के समान ही एक ग्रंथ 'भारत चम्पू' की रचना भी धारा नरेश भोज के समय में ही की गई। अनन्त कवि विरचित इस ग्रंथ में महाभारत की कथा चम्पू-शैली में वर्णित है।

सोड्ढल : रामायण चम्पू के उपरान्त जिस चम्पू ने साहित्य-जगत् में अत्यंत ख्याति पाई वह सोड्ढल विरचित 'उदय सुन्दरी कथा' चम्पू है। सोड्ढल गुजराती कायस्थ थे और कोंकण के राजा मुम्मुणिराज के आश्रय में रहा करते थे। मुम्मुणिराज का एक शिलालेख १०६० ई० का उपलब्ध होता है, अत: कहा जा सकता है कि सोड्ढल १०६० ई० में विद्यमान थे।

'उदय सुन्दरी कथा' नामक ग्रंथ में प्रतिष्ठान नगर के राजा मलयवाहन और नागराज शिखण्ड तिलक की पुत्री उदय सुन्दरी की विवाह-गाथा वर्णित है। कवि पर बाण का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है क्योंकि उसने बाण की भाँति अपना वृत्तान्त दिया है तथा पूर्ववर्ती कवियों के सम्बन्ध में कई प्रशंसात्मक श्लोक भी लिखे हैं। काव्य-कला की दृष्टि से कवि को लालित्यपूर्ण भाषा में नूतन उपमान प्रस्तुत करने का श्रेय प्राप्त है।

रानी तिरुमलाम्बा : सन् १९२४ ई० में पंजाब में स्वर्गीय लक्ष्मण स्वरूप ने रानी तिरुमलाम्बा विरचित 'वरदाम्बिका-परिणय' चम्पू नामक अमूल्य ग्रन्थ की पाण्डुलिपि साहित्य जिज्ञासुओं के सम्मुख प्रस्तुत की। तिरुमलाम्बा राजा अच्युताराय की विदुषी पत्नी के रूप में प्रख्यात हैं और उनका राज्याभिषेक १५२९ ई० में होना माना जाता है। अतः विद्वानों का विचार है कि इस ग्रन्थ का प्रणयन १५२९-४० ई० के आस-पास हुआ होगा। इस ग्रन्थ में अच्युतराय और वरदाम्बिका के प्रेम और परिणय का चम्पू-शैली में वर्णन है। दीर्घ समासों और जटिल वाक्यों का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि रानी तिरुमलाम्बा का संस्कृत भाषा पर विलक्षण अधिकार था। इस ग्रन्थ से उनकी उर्वर कल्पना-शक्ति का परिचय भी प्राप्त होता है।

तिरुमलाम्बा-परवर्ती चंपूकाव्यकार : रानी तिरुमलाम्बा के इस ग्रंथ के बाद भी अनेक चम्पू ग्रंथों का प्रणयन हुआ, यथा सोलहवीं शताब्दी में कर्णपूर तथा जीव गोस्वामी ने भगवान् कृष्ण की ललित लीलाओं को आधार मानकर आनंद विलास चम्पू तथा गोपाल चम्पू नामक ग्रंथों की रचना की। इसी प्रकार से सत्रहवीं शताब्दी में नारायण ने 'स्वाहासुधाकर चम्पू' नामक ग्रंथ का प्रणयन किया। इसमें पुराणों के आलंकारिक आख्यान अग्नि-पत्नी स्वाहा और चन्द्रमा के प्रणय की कथा का चित्रण किया गया है। इसी प्रकार से १६५० ई० में वेंकटाध्वरि ने विश्वगुणादर्श चम्पू लिखा। इसमें विश्वावसु और कृशानु नामक दो गन्धर्व विमानों पर आरूढ़ होकर विभिन्न देशों के गुण-दोषों का वर्णन करते हैं।

○

१२ | भारतीय दर्शन

प्रश्न ५१—'दर्शन' का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए 'भारतीय दर्शन' नामक विषय पर एक आलोचनात्मक लेख लिखिए।

सृष्टि क्या है तथा उसकी रचना किस प्रकार हुई? मनुष्य क्या वस्तु है? जीवन समाप्त होने पर प्राणी मात्र का कभी क्या और अस्तित्व भी है? ये साधारण-सी समस्याएँ हैं और इनके विषय में कुछ जानने की लालसा प्रत्येक प्राणी को होती है। इन्हीं समस्याओं की पूर्ति के लिए दर्शनशास्त्र की उत्पत्ति हुई। भारत-भूमि को ही यह गौरव प्राप्त है कि विश्व को दर्शनों का संदेश सुनाने वाले जगद्गुरु भारत के ऋषि थे। स्वीडन कांट का कथन है—"हिन्दू रोम और ग्रीक के दार्शनिकों से वरसों आगे बढ़े थे।" हिन्दुओं के संबंध में विद्वान् कालब्रूक स्वीकार करते हैं कि वे शिक्षक थे, शिष्य नहीं।

डा० मैकडानल ने ग्रीस में प्रचलित कथाओं के आधार पर यह अन्वेषण किया है कि थ्लेस, एपीगे, किल्स, डिमाक्रीट्स एवं अन्य दूसरे विद्वानों ने दर्शन-शास्त्र का अध्ययन करने के लिए पूर्व की यात्रा की थी। डाक्टर एन० फील्ड भी बताते हैं कि—"पैथागोरस आदि महान् पुरुषों ने इन विषयों का ज्ञान प्राप्त करने के निमित्त भारतवर्ष की यात्रा की थी। ये ही पीछे ग्रीस के प्रसिद्ध दार्शनिक हुए हैं।···सुकरात और प्लेटो की आत्मा के अमरत्व का सिद्धान्त प्राच्य दर्शन का ही सिद्धान्त है।" वस्तुतः प्राचीन आर्यों में अद्भुत शक्ति थी। जिस क्षेत्र में वह अग्रसर थे उसी में उन्हें विजयश्री प्रसन्नतापूर्वक आलिंगन करती थी और वह समस्त संसार का निश्चित क्षेत्र निश्चित हो जाता था। जिस क्षेत्र में और जिस ओर वे विश्व को झुकाना चाहते वह उसी ओर झुकता और महर्ष उनका अनुकरण करता। इसीलिए आज समस्त विश्व भारत का ऋणी है।

जर्मन दार्शनिक श्लेगल इस बात का समर्थन इन शब्दों में करते हैं— "योरुप का सर्वोच्च दर्शन भारतीय दर्शन के सामने ऐसा ही है जैसा मध्यान्ह मार्तण्ड के सामने टिमटिमाता दीपक।" अब इस बात के सिद्ध करने की विशेष आवश्यकता प्रतीत नहीं होती कि दर्शन का स्रोत भारत की पवित्र भूमि ही है और वही इसके यश तथा गौरव की भागी है।

भारतीय दर्शन मूलतः दो प्रकार का है—१. आस्तिक दर्शन २. नास्तिक दर्शन। आस्तिक वह है जो वेद में श्रद्धा रखे तथा नास्तिक वह है जो वेद-निन्दक हो। कहने का अभिप्राय यह है कि वेदों को प्रमाण न मानने वाले दर्शन नास्तिक और वेदों में श्रद्धा-भाव रखने वाले दर्शन आस्तिक कहलाते हैं।

नास्तिक दर्शन—नास्तिक दर्शन संख्या में तीन हैं—(१) चार्वाक, (२) बौद्ध, (३) जैन। इनका विवरण इस प्रकार है—

चार्वाक दर्शन—यह दर्शन भौतिकवादी है तथा इसके सिद्धान्त उतने ही पुराने हैं जितना कि मानव जगत्। इस दर्शन के अनुसार जो वस्तु प्रत्यक्ष नहीं है उसका कोई अस्तित्व नहीं। संसार में न कोई परमात्मा है और न स्वर्ग आदि अन्य लोक। इतना ही नहीं इस दर्शन की तो मान्यता है—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ।।

अर्थात् इस जीवन में सुख से जीये, ऋण लेकर भी घी पीये क्योंकि शरीर के भस्म हो जाने के बाद ऋण चुकाने के लिए भला किसको आना पड़ता है।

बौद्ध दर्शन—कपिलवस्तु के राजकुमार गौतम ने बौद्ध दर्शन की स्थापना की थी। इस दर्शन के मूलतः चार सम्प्रदाय हैं—(१) वैभाषिक, (२) सौत्रान्तिक, (३) योगाचार, (४) माध्यमिक। सत्ता के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विचार रखने के कारण ही इन चार सम्प्रदायों का जन्म हुआ है। वैभाषिक लोगों के अनुसार जगत् के समस्त पदार्थ चाहे वे अन्तर्जगत् से सम्बन्ध रखते हों, चाहे बाह्य जगत् से सत्य हैं और इस तथ्य का अवबोध प्रत्यक्ष के द्वारा होता है। सौत्रान्तिक मतानुयायियों के अनुसार इस जगत् के समस्त बाह्य पदार्थ सत्य हैं किन्तु वे इस तर्क से सहमत नहीं हैं कि इस तथ्य का अवबोध प्रत्यक्ष के

द्वारा होता है। इसके मतानुसार तो यह अवबोध अनुमान के द्वारा ही हुआ करता है। योगाचार चित्त को ही एकमात्र सत्य मानता है तथा माध्यमिक मतानुयायी इस जगत् के समस्त पदार्थों को शून्य रूप मानते हैं। अन्ततः बौद्ध दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों के सिद्धान्त को निम्न श्लोक में आबद्ध किया जा सकता है—

मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्
योगाचार-मते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बद्धेति सौत्रान्तिकः
प्रत्यक्षं क्षणभंगुरं च सकलं वैभाषिको भाषते।

जैन-दर्शन—वह दर्शन अहिंसा को ही परम धर्म मानता है, पुनर्जन्मवाद और कर्म सिद्धान्त को स्वीकार करता है। यह दर्शन न तो वेदों को ज्ञान का आदि स्रोत मानता है और न ही ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करता है। यह दर्शन पदार्थों की संख्या छः मानता है। जीव, पुद्गल, आकाश, काल, धर्म तथा अधर्म। इसकी दार्शनिक दृष्टि अनेकान्तवादी है अर्थात् सत्य को जानने के लिए अनेक दृष्टियाँ हैं तथा उन सबसे देखने पर ही सत्य का वास्तविक स्वरूप हमें ज्ञात हो सकता है।

आस्तिक दर्शन—आस्तिक दर्शन से अभिप्राय वैदिक दर्शन से है। ये संख्या में छः हैं—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा। संख्या में छः होने के कारण इन्हें षड्-दर्शन के नाम से भी अभिहित किया जाता है। इनका विवरण इस प्रकार है—

न्याय—इस दर्शन के प्रणता महर्षि गौतम हैं। इन दर्शन में बुद्धि का सर्वोत्तम स्थान है। बुद्धि के सहारे ही और इसी के बलबूते पर मनुष्य प्रत्येक बात का ज्ञान प्राप्त करता है। इस दर्शन के अनुसार सोलह तत्त्व हैं जिनका ज्ञान होने से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है।

न्याय दर्शन में आत्मा का सुन्दर विवेचन है तथा इसमें आत्मा को शरीर, मन तथा बुद्धि से भिन्न एक स्वतन्त्र पदार्थ सिद्ध किया गया है। सम्भवतः इसी कारण से विद्वानों में इस दर्शन को बहुत आदर प्राप्त है। भारतीय विद्वानों और

मनीषियों ने यदि अपना यह प्रेम विभिन्न टीकाएँ लिखकर प्रस्तुत किया है तो पाश्चात्य साहित्य-मनीषी श्रीमती मिनिग का विचार है—"इससे गौतम की मानसिक शक्ति और गम्भीरतम प्रश्नों को वर्णन करने की क्रियात्मक शैली का परिचय प्राप्त होता है जो कि मानव-मस्तिष्क को प्रभावित करती है।"

वैशेषिक—इस दर्शन के प्रवर्त्तक महर्षि कणाद हैं और इसका मुख्य अभिप्राय जगत् के पदार्थों के स्वरूप का निरूपण करना है। इस दर्शन के अनुसार पदार्थ सात होते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, विशेष, सामान्य, समवाय और अभाव; द्रव्य नौ होते हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन; कर्म पाँच प्रकार के होते हैं—उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण तथा गमन; गुण चौबीस होते हैं—जिनमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, बुद्धि आदि मुख्य हैं।

यह दर्शन अपने परमाणुवाद के लिए सर्व-प्रसिद्ध है। परमाणु की परिभाषा देते हुए कहा गया है—

जालान्तरगतेभानौ सूक्ष्मं यद्दृश्यते रजः।
तस्य षष्ठितमो भागः परमाणुः स उच्यते॥

अर्थात् सूर्य की किरणें जब झरोखे से होकर मकान में आती हैं तो प्रकाश में उड़ते हुए जो छोटे-छोटे धूलि-कण दिखाई देते हैं उनमें से एक का सातवाँ भाग परमाणु कहा जाता है। ये परमाणु नित्य और अविनाशी हैं। इन्हीं की योजना से पदार्थ बनते हैं और सृष्टि की योजना का निर्माण होता है। जब जीवों के कर्मफल भोगने का समय आता है तब ईश्वर की उस भोग के अनुकूल सृष्टि करने की इच्छा होती है। यही संक्षेप में इस दर्शन का परमाणुवाद है।

वैशेषिक दर्शन पर अनेक भाष्य प्रस्तुत किए गये हैं। इनमें से प्रशस्तवाद उदयनाचार्य, श्रीधराचार्य, वल्लभाचार्य, शिवादित्य मिश्र और विश्वनाथ आदि के ग्रन्थ अति प्रसिद्ध हैं। आरम्भ में न्याय और वैशेषिक दर्शनों की पृथक-पृथक् सत्ता मानी जाती थी किन्तु दसवीं शताब्दी के उपरान्त दोनों दर्शन एक दूसरे में मिल गए हैं जिनका मूल कारण यह है कि सिद्धान्त की दृष्टि से दोनों दर्शनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

सांख्य—इस दर्शन में मूल पदार्थ दो माने गए हैं—प्रकृति और पुरुष। प्रकृति जड़ है तथा पुरुष चेतन। प्रकृति सत्त्व, रजस और तमस इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का परिणाम है। जब इन गुणों में वैषम्य होता है तब भिन्न-भिन्न पदार्थ उद्भूत होते हैं। प्रकृति से महान्, महान् से अहंकार तथा अहंकार से पाँच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। इन तन्मात्राओं से पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्दियाँ, पाँच महाभूत तथा एक मन उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार प्रकृति या उससे बने हुए पदार्थों की संख्या २४ हो जाती है। पुरुष को मिलाकर यह संख्या २५ हो जाती है। इस प्रकार तत्त्वों की संख्या करने के कारण इस दर्शन का नाम सांख्य हो गया।

यह दर्शन मूलतः सत्कार्यवादी है अर्थात् इस दर्शन का मत है कि कारण में पहले से ही कार्य विद्यमान रहता है। कार्य कोई नवीन पदार्थ नहीं है अपितु उसी कारण का एक व्यक्त रूप है। पुरुष और प्रकृति का विवेक न होने से ही संसार है और दोनों के विवेक हो जाने पर मोक्ष।

अन्य दर्शनों की भाँति इस दर्शन पर भी अनेक टीकाएँ एवं भाष्य प्रस्तुत किए गए हैं। पंचशिख विरचित 'षष्ठितन्त्र', ईश्वर कृष्ण विरचित 'सांख्य-कारिका', आचार्य माठर विरचित 'माठरवृत्ति', वाचस्पति विरचित 'तत्त्व-कौमुदी', विज्ञानभिक्षु विरचित 'सांख्य-प्रवचन भाष्य' तथा गौड़पाद का भाष्य इनमें अति प्रमुख हैं।

योग—यह वह दर्शन है, जिसमें चित्त को एकाग्र करके ईश्वर में लीन होने का विधान बतलाया गया है। चित्त की एकाग्रता के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और समाधि साधन हैं। योग की बड़ी ही अपार महिमा है। प्राणीमात्र की चित्तवृत्तियों का निषेध कर त्रयताप से मुक्त होकर उपासना में लीन होने का इससे उत्तम साधन आज तक संसार में प्राप्त नहीं हो सका। केवल यही वह मार्ग है जो मनुष्य को अद्भुत कार्य करने में समर्थ करता है।

सांख्य दर्शन के समान पतंजलि-विरचित इस दर्शन में भी आत्मा और जगत् के सिद्धान्तों का ही प्रतिपादन किया गया है लेकिन फिर भी इन दोनों प्रकार

के दर्शनों में मौलिक भेद हैं। सांख्य दर्शन में जहाँ ईश्वर की सत्ता नहीं मानी जाती वहाँ इस दर्शन में ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया गया है। वाचस्पति मिश्र की तत्त्ववैशाकदी तथा विज्ञानभिक्षु विरचित 'योग वार्त्तिक' इस ग्रन्थ पर प्रसिद्ध टीकाएँ हैं।

पूर्व मीमांसा—इस दर्शन के सूत्रों की रचना महर्षि जैमिनी ने की है और इसका उद्देश्य वैदिक कर्मकाण्ड में उपलब्ध होने वाले विरोधों के परिहार तथा वैदिक वाक्यों के अर्थ का निरूपण करना है। यह दर्शन कर्म पर विशेष बल देता है अतः यह ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता। इस दर्शन के मतानुसार वेद अपौरुषेय तथा नित्य हैं।

मीमांसा दर्शन पर शबरमुनि का भाष्य ध्यातव्य है। इस भाष्य पर भी कुमारिल भट्ट और प्रभाकर भट्ट नामक विद्वानों ने दो प्रकार की व्याख्याएँ लिखी हैं।

उत्तर मीमांसा—इस दर्शन के प्रेरक महर्षि व्यास हैं। इसका विषय आत्मा, ब्रह्म और प्रकृति का विवेचन है जिससे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय है। इसका मत है—

ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापर:।

अर्थात् ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, जीव ही ब्रह्म है, उससे भिन्न नहीं। जीव और ब्रह्म की एकता स्वीकार करने के कारण यह मत अद्वैत के नाम से प्रख्यात है। यह मत प्राचीन काल से अब तक निरन्तर लोकप्रिय रहा है। अनेक विद्वानों ने अपनी मौलिक रचनाओं द्वारा इस मत के साहित्य को पुष्ट किया है। मण्डन मिश्र, पद्मपादाचार्य, वाचस्पति मिश्र और रामानुज जिनमें से प्रमुख हैं। शंकराचार्य का भाष्य इस ग्रन्थ पर प्रामाणिक भाष्य है। वस्तुत: शंकर ही अद्वैत मत के प्रतिष्ठापक हैं।

भारतीय दर्शन की हिन्दू समाज में इतनी चर्चा और मान्यता रही कि दर्शन धर्म का भाग बनकर भी समस्त जनता के मानसिक तथा आध्यात्मिक जीवन का अंग हो गया। दर्शनों के सिद्धान्तों का विकास विद्वानों ने किया और वे समस्त

जनता के कानों में गूँज उठे। प्रत्येक पुरुष आत्मा, पुनर्जन्म, कर्म एवं मोक्ष पर विचार करता था और उसमें विश्वास रखता था।

भारतीय दर्शन का प्रभाव केवल स्वदेश में ही सीमित न रहा अपितु उसका प्रचार अन्य देशों में भी हुआ। बौद्ध धर्म के साथ-साथ वह लंका, वर्मा, स्याम, चीन, जापान, तिब्बत और मंगोलिया तक पहुँचा। मध्यकाल में उसने इस्लाम पर प्रभाव डाला और सूफी धर्म की उत्पत्ति में सहायक बना। १८वीं सदी से भारतीय दर्शन का अध्ययन यूरोप में आरम्भ हुआ और शौपनहावर, डोयसन तथा अनेक विद्वानों पर वह अपनी छाप लगाने में समर्थ सिद्ध हुआ।

०

परिशिष्ट-१

प्रश्न ५२—मैक्समूलर द्वारा स्थापित काव्य के पुनर्जागरण के सिद्धान्त के सम्बन्ध में एक विश्लेषणात्मक निबन्ध प्रस्तुत कीजिए।

संस्कृत साहित्य के इतिहास में मैक्समूलर का काव्य के पुनर्जागरण का सिद्धान्त पूर्णतः खण्डित और अमान्य होने पर भी ऐतिहासिक महत्त्व का अधिकारी है। विक्रम की प्रारम्भिक चार शताब्दियों में विदेशी शासकों के प्रबल आक्रमण के परिणामस्वरूप भारत की आन्तरिक दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई थी, इस युग का राजनीतिक वातावरण भी पूर्णतः क्षुब्ध था जिसके फलस्वरूप काव्योत्थान इस युग में नहीं हुआ। वस्तुतः साहित्य-सृजन के लिए जिस शान्त वातावरण की आवश्यकता हुआ करती है उसकी परछाईं तक भी इस युग में दृष्टिगत नहीं होती। फलतः इस युग को संस्कृत काव्य की घोर निशा का काल माना जाता है और इस निद्रा का भंग तथा कल्पना के मंगलमय प्रभात का उदय माना जाता है गुप्त साम्राज्य के उदय को। गुप्त साम्राज्य ललित-कलाओं की दृष्टि से भारतीय इतिहास का सर्वाधिक सम्पन्न काल है और इसी कारण से मैक्समूलर ने इस युग को संस्कृत काव्य के पुनर्जागरण का युग मानकर विक्रम की आदिम शताब्दियों को कविता के अभाव का युग माना है। मैक्समूलर के इस मत की पुष्टि मैक्डोनल आदि अन्य विद्वानों ने भी की है। मैक्डोनल तो अपनी पुस्तक संस्कृत साहित्य का इतिहास (History of Sanskrit Literature) नामक पुस्तक में लिखते हैं, "भारतीय श्रेण्य काव्य-साहित्य का आरम्भ ७वीं शताब्दी ई० के पूर्वार्ध से प्रारम्भ होता है।"

किन्तु मैक्समूलर के उपर्युक्त पुनर्जागरण के सिद्धान्त का खण्डन डॉ० ब्यूलर और फ्लीट आदि के अनुसंधानों ने किया है। उन्होंने यह सिद्ध किया है कि शक आदि विदेशी जातियाँ भारत में आईं और वे भारतीय हो गईं।

उन्होंने भारतीय शिक्षा, कला, स्थापत्य और मूर्तिकला आदि को प्रश्रय दिया। ऋषभदत्त, कनिष्क और रुद्रदामन आदि संस्कृत के आश्रयदाता हुए हैं। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि विदेशी आक्रमणकारियों ने देश के एक भाग पर ही अधिकार कर रखा था। वे देश के अन्य भागों में संस्कृत के प्रचार और प्रसार को नहीं रोक सकते थे। यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ५४४ ई० में यशोवर्मन् विष्णु:वर्धन ने विदेशियों को पदच्युत किया था न कि विक्रमादित्य ने। विदेशियों को भारत से बाहर निकालने का कार्य गुप्त राजाओं ने ४०० ई० से पूर्व ही आरम्भ कर दिया था।

डॉ० ब्यूलर के मतानुसार तो इस युग में कमनीय स्तुति-काव्यों का प्रणयन भी होता था और वस्तुतः यह तथ्य सत्य भी है क्योंकि इस युग के अनेक ऐसे प्रशस्ति-काव्य उपलब्ध हैं जिनमें दानी राजाओं की यशोगाथा अंकित की गई है। वास्तव में यह युग गद्य-पद्य तथा उभयविध रचनाओं के प्रणयन का युग था। इसी समय के प्रसिद्ध शक क्षत्रप रुद्रदामन के गिरनार शिलालेख (समय १५० ई०) में उस शैली के दर्शन होते हैं जो रोचक तथा भाव-प्रवण होने के कारण गद्य-काव्य के नाम से अभिहित करने के लिए काव्य करता है। इतना ही नहीं आलोचना विषयक ग्रन्थों की रचना तथा इस शास्त्र के सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण भी हमें इस युग में देखने को मिलता है। यहाँ रुद्रदामन स्फुट, लघु, मधुर, शब्द-समय-सम्पन्न, उदार तथा अलंकृत गद्य-पद्य की रचना में प्रवीण बतलाया गया है। गद्य-पद्य के गुण-बोधक ये शब्द नितान्त पारिभाषिक हैं और किसी मान्य आलोचना-सिद्धान्त की ओर स्पष्ट संकेत कर रहे हैं।

नासिक का शिलालेख १४९ ई० के लगभग लिखा गया है। यह शिलालेख संस्कृत का प्राकृत में अनुवाद प्रतीत होता है। इसमें लम्बे-लम्बे समास हैं। श्रेण्य संस्कृत साहित्य में प्राप्त होने वाले अनुप्रास और उपमाओं की भीड़ इसमें प्राप्त होती हैं।

गुप्त काल के दो प्रमुख शिलालेख हैं। प्रथम शिलालेख समुद्रगुप्त की प्रशंसा में उसके आश्रित कवि हरिषेण ने लिखा है। यह इलाहाबाद के अशोक स्तम्भ

पर लिखा हुआ है। यह ३४५ ई० का लिखा हुआ हैं। इसके आरम्भ में आठ श्लोक हैं। उसके बाद लम्बा गद्य भाग है और अन्त में एक श्लोक श्लेष और रूपक अलंकारों से युक्त फड़कती हुई भाषा में है, उदाहरणतः एक चित्र देखिए — "कीर्तिमितस्त्रिदशपतिभवनगमनावाप्तललितसुखविचरणमाचक्षण इव भुवो बाहुरण मुच्छ्रितस्तम्भः।" यहाँ पर कवि को समुद्रगुप्त की विजय-प्रशस्ति से मण्डित यह स्तम्भ भूमि का बाहु प्रतीत होता है जो देवताओं से राजा की विमल कीर्ति के भ्रमण की सुन्दर कहानी कहने के लिए ऊपर उठा हुआ है। दूसरे का लेखक चन्द्रगुप्त द्वितीय का मंत्री वीरसेन है। यह चन्द्रगुप्त की प्रशंसा में लिखा गया है। इसमें चन्द्रगुप्त और वीरसेन दोनों ही विद्वान् बताए गए हैं।

इसके अतिरिक्त इस काल में बहुत से शिलालेख लिखे गए हैं। इनमें से कुछ प्राकृत में हैं और शेष संस्कृत में हैं। इनसे सिद्ध होता है कि इस काल में साहित्यिक रचनाओं का प्रणयन बन्द नहीं हुआ था। इनसे यह भी सिद्ध होता है कि संस्कृत का साहित्यिक भाषा के रूप में प्रचलन था। परवर्ती संस्कृत साहित्य में जो शब्दालंकार और अर्थालंकार प्राप्त होते हैं वे इन शिलालेखों में प्रचुर मात्रा में हैं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि इस काल में साहित्यिक रचनाओं का प्रणयन हो रहा था। ऐसा भी प्रतीत होता है कि उस समय सुयोग्य कवि हुए होंगे किन्तु उनकी रचनाएँ नष्ट हो गई हैं। यह भी सम्भव है कि इस समय बार-बार राजकीय आक्रमण के कारण कवियों के आश्रयदाता राजाओं के लिए यह सम्भव नहीं रहा होगा कि वे कवियों को आश्रय दें। राजाओं के संरक्षण के अभाव में योग्य कवि उत्तम ग्रन्थों की रचना नहीं कर सके होंगे। जब तक भारत का नवीन राजनीतिक इतिहास नहीं लिखा जाता तब तक इस समय की वास्तविक स्थिति के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।

वात्स्यायन विरचित कामसूत्र भी इसी समय की रचना है। यह ग्रन्थ शिष्ट जन-समुदाय का चित्रण करता है। इसमें निर्देश दिए गए हैं कि मनुष्य को किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए, किस प्रकार समय-यापन करना चाहिए और

किस प्रकार अच्छे व्यक्तियों की संगति प्राप्त करनी चाहिए। मनुष्य को किस प्रकार का जीवन व्यतीत करने के लिए किन साधनों को अपनाना चाहिए, इन बातों का भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। परवर्ती लेखकों पर इसका स्थायी प्रभाव पड़ा है। उन्होंने अपने ग्रन्थों में ऐसी घटनाएँ और वर्णन दिए हैं जिनसे काम-सूत्र में लिखे हुए वर्णनों के साथ समता प्राप्त हो। वस्तुतः ऐसे वर्णनों की प्रसंगानुसार आवश्यकता नहीं थी। कामसूत्र में सातवाहन या आन्ध्रभृत्य वंश के एक राजा का उल्लेख आया है। यह राजा अवश्य ही ई० सन् के प्रारम्भ में रहा होगा। आन्ध्र वंश का राज्य २१८ ई० के लगभग समाप्त हुआ है। वात्स्यायन का समय इसी काल के लगभग निर्धारित किया जा सकता है। इससे यह प्रकट होता है कि यह साहित्यिक काल वस्तुतः अन्धकारमय नहीं रहा है।

बौद्ध कवि अश्वघोष ने भी इसी युग में धर्म-प्रचार के हेतु संस्कृत में दो महाकाव्यों का प्रणयन किया। काव्य-कला के द्वारा लोगों के हृदय को बौद्ध धर्म के प्रति आवर्जित तथा आसक्त बनाने की अश्वघोषीय घोषणा क्या इस बात की समर्थ सूचिका नहीं है कि प्रचार के लिए काव्य का प्रयोग उनसे प्राचीन काल से ही होता आया था तथा उन्होंने नवीन धारा की सृष्टि न कर केवल प्राचीन धारा की परम्परा से लाभ उठाने का ही प्रयास किया है। ऐसी स्थिति में नवीन ग्रन्थों के अन्वेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि विक्रम की आरम्भिक शताब्दियाँ संस्कृत काव्य-प्रणयन की दृष्टि से कम आदरणीय नहीं हैं।

प्रश्न ५३—निम्नलिखित पर टिप्पणियाँ लिखिए—

(क) संस्कृत साहित्य में जैन कवियों का योगदान।

(ख) संस्कृत साहित्य में स्त्रियों का योगदान।

(क) संस्कृत साहित्य में जैन कवियों का योगदान—संस्कृत महाकाव्य के इतिहास में जैन पण्डितों द्वारा प्रणीत रचनाओं का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन जैन कवियों ने अपने तीर्थंकरों का चित्रण साहित्यिक तथा अलंकृत शैली में लिखकर संस्कृत भाषा तथा साहित्य के पूर्ण मर्मज्ञ होने का प्रमाण दिया है। लेकिन इतना होने पर भी यह निर्विवाद है कि जैन-साहित्य-मनीषियों द्वारा

प्रणीत रचनाओं की मूल प्रवृत्ति शुद्ध धर्म का उपदेश देना ही है। शुद्ध साहित्यिक चेतना के रूप में प्रणीत की गई रचनाओं की संख्या तो केवल एकाध ही है और वह भी अपवाद-स्वरूप ही। कहने का अभिप्राय यह है कि जैन विद्वानों में जितना मोह अपने धर्म-प्रसार के लिए था उतना साहित्यिक नामों के प्रणयन की ओर नहीं।

संस्कृत भाषा के माध्यम से अपने भावों को अभिव्यक्त करने वाले जैन कवियों की संख्या बहुत लम्बी-चौड़ी है किन्तु विस्तार-भय के कारण हम केवल प्रमुख-प्रमुख कवियों का वर्णन ही आगामी पंक्तियों में करेंगे। अस्तु!

धनेश्वर सूरि—इनका रचनाकाल ६१० ई० है और इन्होंने शत्रुंजय नामक महाकाव्य की रचना की है। १४ सर्गों के निबद्ध इस महाकाव्य में राजाओं के सम्बन्ध में प्रसिद्ध दन्तकथाओं का काव्यात्मक वर्णन है।

वाग्भट्ट—इनका रचनाकाल ११४० ई० है और इन्होंने नेमिनिर्वाण काव्य नामक महाकाव्य का प्रणयन किया है। १५ सर्गों में आबद्ध इस महाकाव्य में जैन तीर्थंकर नेमिनाथ के चरित्र का वर्णन है। काव्यत्व की दृष्टि से यह काव्य प्रसाद तथा माधुर्य गुणों से ओत-प्रोत है।

अभयदेव—इनका रचनाकाल ११२१ ई० है। इन्होंने जयन्त-विजय नामक महाकाव्य का आलेखन किया है। इसमें १९ सर्ग हैं और मगध देश के नरेश जयन्त की विजय का आख्यान लगभग दो सहस्र श्लोकों में वर्णित है।

अमरचन्द्र सूरि—इनका रचनाकाल १२४३-६० ई० माना जाता है। ये जिनदत्त सूरि के शिष्य थे तथा अणहिल पट्टन के राजा बीसलदेव की सभा को सुशोभित करते थे। ये बाल-भारत नामक महाकाव्य के प्रणेता माने जाते हैं। ४४ सर्गों में आबद्ध इस महाकाव्य में महाभारत की कथा अति संक्षिप्त रूप में कही गई है। श्लोकों की संख्या ६९५० है। सम्पूर्ण काव्य में सुबोध भाषा तथा वैदर्भी रीति का प्रयोग किया गया है।

वीरनन्दी—इनका रचनाकाल १३०० ई० है। ये चन्द्रप्रभ चरित नामक महाकाव्य के लेखक के रूप में प्रसिद्ध हैं। इस महाकाव्य की कथावस्तु का आधार

सप्तम जैन तीर्थंकर चन्द्रप्रभ का जीवनचरित् है जो अठारह सर्गों में पूर्ण हुआ है। इस ग्रन्थ में सर्वत्र सरस भाषा का ही प्रयोग किया गया है।

देवप्रभ सूरि—इनका रचनाकाल १२५० ई० है। इन्होंने पाण्डव-चरित नामक काव्य का प्रणयन किया है। कथावस्तु की दृष्टि से यह ग्रन्थ महाभारत पर आधृत है। सम्पूर्ण काव्य की सर्ग-संख्या अठारह है और सभी के सभी सर्ग अनुष्टुप् छन्द में लिखे गये हैं। यह काव्य अत्यन्त सरल होते हुए भी रोचक बन पड़ा है।

वस्तुपाल—इनका रचनाकाल १३वीं शताब्दी है। ये गुजरात नरेश वीर-धवल (१२२९-३९ ई०) के यहाँ मंत्री पद को सुशोभित करते थे, बहुत दयालु थे और विद्वानों के आश्रयदाता थे। इसीलिए इन्हें 'लघुभोजराज' के नाम से भी सुशोभित किया जाता था। इतना ही नहीं इनके आश्रय में रहने वाले सोमेश्वर, हरिहर, अरिसिंह आदि कवियों ने तो इनके उपकारों का वर्णन अपनी कविता में भी किया है।

वस्तुपाल एक दयालु व्यक्ति होने के साथ ही साथ सहृदय काव्य-प्रणेता भी थे। इन्होंने 'नारायणानन्द' नामक महाकाव्य भी लिखा है। इस महाकाव्य में १६ सर्ग हैं जिनमें कृष्ण और अर्जुन की मैत्री, गिरनार पर्वत पर उनकी क्रीड़ा तथा सुभद्राहरण का बड़ा रोचक वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

बालचन्द्र सूरि—इनका रचनाकाल भी १३वीं शताब्दी है। ये 'वसंतविलास' नामक महाकाव्य के रचयिता कहे जाते हैं। इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय वस्तु-पाल का जीवन-चरित है जो उनके पुत्र जैसिंह के मनोविनोद के हेतु लिखा गया था। प्रबन्ध-चिन्तामणि के अनुसार यह महाकाव्य वस्तुपाल को काव्य-कला की दृष्टि से बहुत सुन्दर लगा था और इसीलिए उन्होंने इसके प्रणेता को आचार्य पद के अभिषेक के हेतु एक सहस्र स्वर्ण मुद्राएँ प्रदान की थीं।

देवविमलगणि—इनका रचनाकाल १७वीं शताब्दी है। ये हरि-सौभाग्य नामक महाकाव्य के प्रणेता कहे जाते हैं। इस ग्रन्थ में हरिविजय सूरि के चरित्र

का विस्तृत रूप में आलेखन हुआ है। केवल धार्मिक ही नहीं अपितु ऐतिहासिक दृष्टि से भी इस महाकाव्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सूरि जी ने अकबर को जैन धर्म का उपदेश दिया था जिसका पालन कर उसने धार्मिक पर्वों पर हिंसा का निषेध कर दिया था। इस प्रकार से यह काव्य-ग्रन्थ ऐतिहासिक अनुशीलन में रुचि रखने वाले व्यक्तियों के लिए बड़े काम का है और अकबर-कालीन इतिहास को जानने के लिए तो दीपक-तुल्य ही ठहरता है।

हरिचन्द्र—संस्कृत साहित्य के जैन महाकवियों में सर्वश्रेष्ठ स्थान हरिचन्द्र को प्राप्त है। ये धर्मशर्माभ्युदय नामक महाकाव्य के प्रणेता के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनके इस महाकाव्य को जैन साहित्य में वही आदर और स्थान प्राप्त है जो ब्राह्मण कवियों में माघ-काव्य तथा नैषध-काव्य को। इनका रचनाकाल निश्चित नहीं है और इस सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं किन्तु यह प्रायः मान्य है कि ये कायस्थ जाति के थे और नोमक वंश में उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम आर्द्रदेव और माता का नाम रथ्या देवी था।

२१ सर्गों में निबद्ध धर्मशर्माभ्युदय नामक महाकाव्य में पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ जी का चरित् वर्णित है। इस ग्रन्थ की भाषा बड़ी सुन्दर और शैली अलंकृत है। कवि ने वैदर्भी रीति के माध्यम से रचना पूर्ण की है। इस ग्रन्थ में शब्द-सौष्ठव, नवीन अर्थ और कल्पना के अति सुन्दर चित्र देखने को मिलते हैं।

संस्कृत साहित्य में स्त्रियों का योगदान—संस्कृत साहित्य की सृष्टि में अनेक महिला कवयित्रियों ने भी अत्यधिक योगदान किया है। इनमें विज्जका, सुभद्रा, फल्गुहस्तिनी, मोरिका, विकटनितम्बा, शीला भट्टारिका, रामभद्राम्बा, गंगादेवी आदि प्रसिद्ध हैं और आगामी पंक्तियों में हम इन सभी का परिचय प्रस्तुत करेंगे। अस्तु !

विज्जका—संस्कृत-साहित्य की सर्वप्रसिद्ध कवयित्रियों की गणना करते समय हमारा ध्यान सर्वप्रथम विज्जका की ओर आकृष्ट होता है। इसका कारण

यह है कि मम्मटाचार्य के 'शब्द-व्यापार-विचार' और 'काव्यप्रकाश', धनंजय के 'दशरूपकावलोक' मुकुल भट्ट के 'अभिधावृत्तिमातृका' आदि ग्रन्थों में इनके पद्य उद्धृत किये गए हैं। लेकिन इतना होने पर भी यह ज्ञात नहीं है कि इनका रचना-काल क्या है? इतना ही नहीं विद्वानों में तो इस बात में भी पर्याप्त मतभेद है कि कार्णाटी विजया और विज्जका एक ही हैं अथवा भिन्न-भिन्न। किन्तु यदि इस विवादग्रस्त विषय को छोड़कर शुद्ध कवित्व की दृष्टि से ही विचार किया जाए तो भी विज्जका का काव्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ज्ञात होता है। क्या भाव-पक्ष और क्या कला-पक्ष दोनों ही दृष्टियों से उसका काव्य अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। उदाहरणस्वरूप निम्न पद देखिए जिसमें विरहिणी की मर्मभरी बातों का अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में चित्रण किया गया है—

गते प्रेमाबन्धे हृदयबहुमानेऽपि गलिते।
निवृत्ते सद्भावे जन इव जने गच्छति पुरः॥
तथा चैवोत्प्रेक्ष्य प्रियसखि गतांस्ताश्च दिवसान्।
न जाने को हेतुर्दलति शतधा यन्न हृदयम्॥

सुभद्रा—राजशेखर विरचित निम्न पद से—

पार्थस्य मनसि स्थानं लेभे खलु सुभद्रया।
कवीनां च वचो वृत्ति चातुर्येण सुभद्रया॥

—सूक्ति मुक्तावली

ऐसा प्रतीत होता है कि सुभद्रा नाम्नी कोई कवियित्री काव्य-कला में अति दक्ष थी। लेकिन इतना होने पर भी इन्हें किसी विशेष प्रसिद्धि की प्राप्ति नहीं है। इसका कारण यह है कि इनके किसी काव्य-ग्रन्थ का पता आज नहीं चलता। वल्लभदेव की सुभाषितावली में इनका केवल एक पद्य उद्धृत किया गया है।

फल्गुहस्तिनी—इनके द्वारा प्रणीत काव्य-ग्रन्थों की अनुपलब्धि के कारण ही इनका नाम भी विशेष प्रसिद्ध नहीं है। सुभाषितावली में इनके दो पद्य उद्धृत किए गए हैं। इनमें से प्रथम भर्तृहरि के नीतिशतक और द्वितीय शारंगधर पद्धति में भी प्राप्त होते हैं।

मोरिका—इनके भी केवल चार पद्यों का ही पता लग सका है। ये चार पद्य सुभाषितावली और शारंगधर पद्धति नामक पुस्तकों में सम्मिलित हैं।

इन्दुलेखा—संस्कृत साहित्य की अन्य कवियत्रियों के समान इनका साहित्य भी अन्धकार के गर्त्त में छिपा पड़ा है। इतना ही नहीं इनके जन्म-काल एवं जन्म-स्थान का अवबोध भी अभी तक नहीं हो सका है। केवल वल्लभदेवकी सुभाषितावली में ही इनका एक पद्य प्राप्त होता है।

सारला—यद्यपि इनके नाम से भी केवल एक ही पद्य मिलता है किन्तु धनदेव के उल्लेख से ज्ञात होता है कि इनकी गणना प्रवीण कवियों में की जाती थी।

विकटनितम्बा—इनका जन्म कश्मीर में हुआ था। इनके जीवन के सम्बन्ध में कुछ विशेष ज्ञात नहीं हो सका है लेकिन राजशेखर ने अपनी पुस्तक सूक्तिमुक्तावली में इनकी प्रशंसा इस प्रकार की है—

के वैकटनितम्बेन गिरां गुम्फेन रंजिताः।
निन्दन्ति निजकान्तानां न मौग्ध्यमधुरं वचः॥

—सूक्ति-मुक्तावली

शीला भट्टारिका—शारंगधर पद्धति में धनदेव नामक किसी प्राचीन कवि द्वारा लिखित एक परिचयात्मक पद्य के द्वारा ज्ञात होता है कि ये कश्मीर की रहने वाली थीं। इनकी रचना में मधुरता, शब्दों में सौष्ठव तथा अर्थों में मनमोहकता दीख पड़ती है। शार्दूलविक्रीड़ित छन्द का इन्होंने बड़ा सुन्दर प्रयोग किया है। उदाहरणस्वरूप एक पद्य देखिये—

दूति त्वं तरुणी युवा स चपलः श्यामास्तमोभिर्दिशः
सन्देशः सरहस्य एष विपिने संकेतका वासकः॥
भूयो भूय इमे वसन्तमरुतश्चेतो हरन्त्यन्यत्
गच्छ क्षेमसमागमाय निपुणे रक्षन्तु ते देवताः॥

रामभद्राम्बा—इनके जीवन के सम्बन्ध में केवल इतना ही ज्ञात है कि ये तंजोर की रहने वाली थीं। इन्होंने 'रघुनाथाभ्युदय' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया है जिसमें तंजोर-नरेश रघुनाथनायक के महत्त्व तथा गौरव का वर्णन है।

रानी तिरुमलाम्बा—इनका नाम राजा अच्युतराय की विदुषी रानी तथा 'वरदाम्बिका-परिणय चंपू' के प्रणेता के रूप में प्रख्यात है। इनका रचना-काल १५०६ ई० के लगभग माना जाता है। इनकी रचना के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि वह बहुत पढ़ी-लिखी तथा अनेक कलाओं में पारंगत थीं और संस्कृत भाषा पर इनका विलक्षण अधिकार था। यद्यपि इन्होंने दीर्घ समासों और जटिल वाक्यों का प्रयोग किया है किन्तु फिर भी काव्य में कहीं भी अरोचकता नहीं आने पाई है।

गंगादेवी—यह 'मधुराविजय' या 'वीरकम्पराय चरित्र' नामक ऐतिहासिक महाकाव्य की प्रणेता हैं। इस महाकाव्य में निरूपित घटनाओं का सम्बन्ध विजयनगर साम्राज्य के उस आदिकाल से है जब महाराज बुक्क ने दक्षिणी भारत में फैलने वाले दुर्दान्त यवनों के उत्पीड़न तथा आक्रमण से भारतीय धर्म तथा संस्कृति की रक्षा के लिए एक प्रभावशाली राज्य की स्थापना अपने पराक्रमी भ्राताओं तथा गुरु क्रियाशक्ति और माधवाचार्य की मंत्रणा से की। गंगादेवी उन्हीं के सुपुत्र कम्पण की अर्धांगिनी थीं और उन्होंने अपने वीर पतिदेव की विजय-यात्राओं का बड़ा ही सजीव एवं स्वाभाविक वर्णन प्रस्तुत किया है। प्रत्येक संभव उपाय के द्वारा काव्य को ऐतिहासिक बनाने का सफल एवं स्तुत्य प्रयास किया गया है। लेकिन बड़े क्षोभ की बात है कि यह कृति पूरी प्राप्त नहीं होती।

गंगा देवी के काव्य का आद्योपांत अनुशीलन करने पर ज्ञात होता है कि वे काव्यकला के क्षेत्र में अत्यन्त दक्ष थीं। भावों ने नवीनता, कोमल-हृदयता, प्रकृति के साथ हृदय का पूर्ण सामंजस्य, शब्दों में चमत्कार और अलंकारों की कोमल सजावट सभी कुछ इनके काव्य में देखने को मिल जाता है। उदाहरण-स्वरूप एक-दो चित्र देखिए, कितने सुन्दर बन पड़े हैं अपने आप में—

घटमानदलाखोपुटं नलिनं मन्दिर मिदिरास्पदमं ।
परिपालगतिस्म निक्वणनं परितो यामिकवन्मधुवत् ॥

प्रश्न ५४—'संस्कृत साहित्य में जन-जीवन' नामक विषय पर समीक्षात्मक निबन्ध प्रस्तुत कीजिए।

संस्कृत साहित्य के अनेक आलोचकों का विचार है कि संस्कृत साहित्य के [प्र]णेताओं ने लक्ष्मी के विरद् पुत्रों की गुण-गरिमा का गान करने में ही अपनी [श]क्ति का अपव्यय किया है, जन-जीवन की कोई झाँकी उनके काव्य में देखने को [न]हीं मिलती किन्तु संस्कृत साहित्यानुशीलन के उपरान्त यह तथ्य अत्यन्त उप-[ह]ासास्पद-सा प्रतीत होता है। वस्तुतः संस्कृत साहित्य में जहाँ एक ओर तत्कालीन [रा]जसी वातावरण तथा सभ्य नागरिक जीवन के दृश्य देखने को मिलते हैं वहाँ [दू]सरी ओर सामान्य जन-जीवन की झाँकी भी देखने को मिलती है और आगामी [पं]क्तियों में हम इसी तथ्य की विवेचना करेंगे।

संस्कृत साहित्य का उद्भव अवश्य ही तात्त्विक भावना से अनुप्राणित आश्रम [के] वातावरण में हुआ है किन्तु उसकी समृद्धि राजाओं के दरबार में ही हुई है। [सं]स्कृत के सभी मान्य कवियों का सम्बन्ध तत्कालीन नरेशों के साथ सम्बद्ध रहा [है]। इतना ही नहीं संस्कृत साहित्य के श्रोता भी नितान्त सभ्य, शिष्ट, सुरुचिपूर्ण, [क]ला-प्रवीण, सहृदय नागरिक-जन रहे हैं; कोई सामान्य, कलाहीन, अरसिक [व्य]क्ति नहीं। फलतः संस्कृत साहित्य में ऐसे नागरिक जीवन का चित्रण स्वयमेव [ही] हो गया है। लेकिन इसका यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि संस्कृत कवियों [ने] जीवन के उच्च स्तर से सम्बद्ध कविता के प्रणयन में ही अपनी शक्ति का परि-[च]य दिया है।

सम्राट् विक्रमादित्य के आश्रय में जीवन व्यतीत करने वाले प्रसिद्ध महाकवि [का]लिदास जहाँ विक्रमोर्वशीय में पुरुरवा तथा उर्वशी के अलौकिक प्रेम का अंकन [क]रने में अपनी लेखनी को नियोजित करते हैं वहाँ दूसरी ओर मेघदूत में अलका-[पु]री के कुबेर द्वारा शापित एक सामान्य यक्ष की विरह-वेदना का वर्णन करने से [भी] विमुख नहीं होते। इसी प्रकार से रघुवंश में वे उन ग्वालाओं को भी नहीं

भूलतेजो महाराज दिलीप का सत्कार करने के लिए मक्खन लेकर उपस्थित हुए हैं। इतना ही नहीं जिस मनोयोग से उन्होंने अतुल वैभव-मण्डित प्रासादों का चित्रण किया है उससे भी अधिक वे अग्नि-होम-धूमिल मृग-शावकसम्पन्न आश्रमों के स्निग्ध वर्णन में रमे हैं। वस्तुतः कालिदास की दृष्टि में जगमगाते हुए राज-प्रासादों का उतना मूल्य नहीं है जितना कौपीनधारी तपस्वियों के सुन्दर आश्रमों का है। फलतः उन्होंने आश्रमों के संध्याकालीन दृश्य, मुनिःआश्रम में होने वाले विविध क्रिया-कलापों और वहाँ के शान्त वातावरण के बहुत स्वाभाविक चित्र प्रस्तुत किए हैं और इतना सब कुछ होने पर भी यदि कवि को 'जन-जीवन से विमुख' की उपाधि से विभूषित किया जाए तो यह कवि के साथ अन्याय करना होगा।

केवल कालिदास ही नहीं अपितु भारवि, माघ आदि अन्य कवियों ने भी तत्कालीन जन-जीवन का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। भारवि जो पल्लववंशीय राजा के आश्रय में रहा करते थे, राजनीति के उद्भट विद्वान् थे। शरद्वर्णन-प्रसंग में वे उन दीन-हीन गोपों को नहीं भूलते जो गायों की नितप्रति सेवा करते रहने के परिणामस्वरूप ऋजुता में उनके प्रवीण प्रतीक बने हुए हैं। इतना ही नहीं वे तो इन गोप-गोपियों के सुख-दुःख तक से परिचित हैं। फलतः जहाँ एक ओर वे गायों के पीछे चलने वाले गोपों के सरल हृदय को देखते हैं वहाँ दूसरी ओर प्रातःकाल अपने गोठ के आंगन में मथानी से दही मथने वाली ग्वालिनों को देखना भी नहीं भूलते। कवि को केवल ऐसे हृदयों के आकलन से ही संतुष्टि प्राप्त नहीं होती है अपितु वह 'प्राकृतिक दृश्यों के सुन्दर चित्र भी प्रस्तुत करता है, उदाहरणतः निम्नलिखित पद देखिए—

मृणालिनीनामनुरञ्जितत्विषा विभिन्नमम्भोजपलाशशोभया।
पयः स्फुरच्छालिशिखा पिशंगितं द्रुतं धनुष्खण्डमिवाहिविद्विषः॥

(अर्थात् धान के खेतों में जल कितना सुन्दर मालूम पड़ता है। कमलिनी खिली हैं। कमल-लता के हरे रंग के कारण जल भी हरा हो गया है। कमल के पत्तों के साथ जल की शोभा मिल रही है। खेतों में धानों की पकी-पकी पीली

शिखा सिरे पर हिल रही हैं जिससे जल भी पीला हो गया है। खेत का यह रंजित जल ऐसा मालूम पड़ता है कि मानो वृत्र के शत्रु इन्द्र महाराज का रंग-बिरंगा धनुष गलकर पानी के रूप में बह रहा है।) वस्तुतः कितना सुन्दर चित्र बन पड़ा है! इसी प्रकार का एक और सुन्दर एवं स्वाभाविक चित्र देखिए—

मुखैरसौ विद्रुमभंगलोहितैः शिखाः पिशंगीः कमलस्य बिभ्रती ।
शुकावलिर्व्यक्तशिरीषकोमला धनुःश्रियं गोत्रभिदोऽनुगच्छति ॥

अर्थात् शरद का सुहावना समय है। सुग्गों की पाँत की पाँत उड़ रही है। शिरीष के फूल की तरह कोमल हरे सुग्गों की पाँत मूँगे के टुकड़े के समान लाल-लाल चोंचों में धान की पीली बालियों को लिए हुए आकाश में उड़ी जा रही है। मालूम पड़ता है कि इन्द्रधनुष आकाश में उगा हो।

भारवि के समान ही माघ भी जन-जीवन में अछूते नहीं हैं। वे भी जहाँ एक ओर दुरूह राजनीतिक गुत्थियों के सुलझाने में व्यग्र राजाओं का साक्षात् चित्र प्रस्तुत करते हैं वहाँ दूसरी ओर सबेरे ही सबेरे विशाल वर्तन में बड़ी मथानियों से दूध मथकर मक्खन निकालने वाले ग्वालों तथा रात्रि में पहरा देने वाले चौकीदार के रूपांकन में भी अति सजग दीख पड़ते हैं। इतना ही नहीं वे तो पशु-पक्षियों के आचरण तथा व्यवहार के निरीक्षण में भी पटु तथा समर्थ है। इन्हीं पशु-पक्षियों के आचरण के कारण बेहद तंग होने वाली धान की रखवालिनों की व्याकुलता का वे बड़ा स्वाभाविक चित्र खींचते हैं; यथा—

स व्रीहिणां यावदपासितुं गताः शुकान्मृगैस्तावदुपद्रुतश्रियाम् ।
कैदारिकाणामभितः समाकुलाः सहासमालोकयति स्म गोपिकाः ॥

इस चित्र में कवि का प्रतिपाद्य यह है कि गोपिकाएँ धान के खेत की रक्षा करने में लगी हैं। खेतों के ऊपर दोहरा आक्रमण होता है— एक ओर से सुग्गों का और दूसरी ओर से मृगों का। सुग्गों को हाँकने के लिए ज्योंही वे दौड़कर एक ओर जाती हैं कि दूसरी ओर से मृग खेत को रौंदने लगते हैं और धान को

खाने लगते हैं। ऐसी विचित्र स्थिति में इन धान-रखवालिनों की यह दौड़धूप कवि के हृदय में हँसी की गुदगुदी पैदा कर देती है। इसी प्रकार का एक चित्र कवि ने गायों के दूध दुहने के अवसर पर प्रस्तुत किया है, यथा—

प्रीत्या नियुक्तान् लिहतीः स्तन्धयान निगृह्य पारिमुभयेन जानुनोः।
वर्धिष्णुधाराध्वनि रोहिणीः पयश्चिरं निदध्यौ दुहतः स गोदुहः॥

यहाँ पर कवि का कथन है कि ग्वालों ने गायों के बछड़े को उनके बाएँ पैर में बाँध रखा है। उन्हें वे प्रेमपूर्वक चाट रही हैं। इधर वे लोग अपने घुटनों के ऊपर दोहनी रखकर दूध दुह रहे हैं और इस अवसर पर 'घरघों-घरघों' की आवाज बढ़ती जाती है।

केवल कालिदास, भारवि और माघ आदि ने ही अपने काव्य में जन-जीवन के सुन्दर चित्र प्रस्तुत नहीं किए हैं अपितु अन्य कवियों, नाटककारों और गद्य-लेखकों की रचनाओं में भी यह तत्त्व पूर्णरूपेण देखने को मिलता है। दण्डी के दशकुमारचरित् पढ़ने पर तो ऐसा प्रतीत होने लगता है कि हम उस युग के सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक वातावरण का ऐतिहासिक अनुशीलन कर रहे हैं। अन्तर लगता है तो केवल इतना कि इतिहास-ग्रन्थों में यह सभी तथ्य नीरस से लगा करते हैं किन्तु साहित्य में उन्हें अनेक आख्यानों और संभावित कल्पनाओं के द्वारा सहजगम्य बना दिया जाता है।

लेकिन इतना सब कुछ होने पर भी इस तथ्य का विरोध नहीं किया जा सकता कि संस्कृत साहित्य मूलतः सभ्य नागरिक जनों का साहित्य है। उसके काव्यों और नाटकों में उसी जीवन का प्रदर्शन मिलता है। संस्कृत साहित्य का नागरिक एक छोटे से सरोवर और निकुञ्ज से सुशोभित विशाल घर में निवास करता है। इसमें से एक अन्तर्भाग कहलाता है जो स्त्रियों के लिए है। यह अन्तर्भाग कपोत-पालिका वितर्दिका हर्म्यपृष्ठ आदि से सम्पन्न है। उसका शयनकक्ष दुग्धफेन धवल शय्या से सुसज्जित है; वह पुष्पमाला, सुगंधद्रव्य, चंदन, कपूर आदि की सुरभि में आप्लावित है, वहीं एक ओर वीणा टंगी है। वितर्दिका पर कई पिंजड़ों में शुक, सारिका, कपोत, चकोर आदि पक्षी चहचहाते रहते हैं और

कभी-कभी नगरकामनियों के 'मणित' में 'अन्तेवासित्व' प्राप्त किया करते हैं। नागरिक जीवन के ऐसे दृश्य मेघदूत के यक्ष के निवास-स्थान में, माघ के द्वारिका-वर्णन में तथा मृच्छकटिक के चारुदत्त और वसंतसेना के निवास-स्थलों के चित्रण में देखे जा सकते हैं।

संस्कृत साहित्य का नागरिक संगीत, साहित्य, चित्रकला, नृत्यकला और प्रकृति-निरीक्षण में भी कुशल है। मृच्छकटिक का निर्धन चारुदत्त आज के उच्च मध्यवर्गीय नागरिक से कहीं अधिक रसिक व विलासी है। यह वीणावादन में कुशल है तथा रेनिल के घर पर संगीत-गोष्ठियों में सम्मिलित होता है। इसी प्रकार से उस युग की स्त्रियाँ भी संगीत, काव्य, नृत्य तथा चित्रकला में प्रवीण दीखती हैं।

संस्कृत साहित्य का उपर्युक्त समाज वात्स्यायन के कामसूत्र से पूर्णतः प्रभावित है, क्योंकि नागरिक के निवास-स्थल की उपर्युक्त विशेषताएँ 'नागरिक वृत्त प्रकरण' में स्पष्टरूपेण वर्णित हैं—

"तत्र भवनमासन्नोदकं वृक्षवाटिवावद्धभक्तकर्मकक्षं द्विवासागृहं कारयेत॥"
"वासे च वासगृहे सुश्लक्ष्णमुभयोपधानं मध्ये विनतं शुक्लोत्तरच्छदं शयनीयं स्यात प्रतिशय्यिका च॥"

"नागदन्तावसक्ता वीणा, चित्रफलकं वर्तिकासमुद्गको, यः कश्चित्पुस्तकः कुरकण्टकमाला च॥"

"तत्र बहिःक्रीडाशकुनिपञ्जराणि।"

इसी प्रकरण में वात्स्यायन ने नागरिक की दैनंदिनचर्या का संकेत भी किया है। प्रातःकाल उठकर वह नित्य-कर्म से निवृत्त हो दतौन-स्नान आदि करे, तत्र धूप, माला आदि से सुसज्जित होकर, दर्पण में मुख देखकर, ताम्बूल का बीड़ा लेकर, अन्य कार्य करे। उसे प्रतिदिन करना चाहिए, हर दूसरे दिन पालिश करनी चाहिए, हर तीसरे दिन फेन का प्रयोग करना चाहिए, हर चौथे

दिन क्षौर-कर्म (Shave) करना चाहिए तथा हर पाँचवें या दसवें दिन प्रत्यायुष्य कर्म करना चाहिए। पूर्वपराह्ण तथा अपराह्ण में वह भोजन करे। भोजनोपरांत शुक, सारिका आदि को खिलाए, या लावक, कुक्कुट, मेष आदि की लड़ाई देखे। पीठमर्द, विदूषक आदि के साथ हँसी-मजाक करे और दिन में कुछ विश्राम करे। अपराह्ण में फिर गोष्ठी विचार करे, मित्रों के साथ क्रीड़ादि या काव्य-शास्त्र विनोद करें। रात्रि में घर को धूपादि सुगन्धित द्रव्यों से सजाकर शय्या पर अभिसारिकाओं की प्रतीक्षा करे, उनके पास दूतियों को भेजे या स्वयं जाए। उनके आगमन पर मनोहर आलाप, मण्डनादि से उन्हें संतुष्टि प्रदान करे।

अन्ततः कहा जा सकता है कि संस्कृत साहित्य के सम्बन्ध में यह धारणा बना लेना कि उसमें कोमल एवं कमनीय कल्पनाओं का ही प्राचुर्य है, राजसी वातावरण की ही झलक है, लक्ष्मी के वरद पुत्रों का अंकन है। किसी भी प्रकार से ठीक नहीं। वस्तुतः ऐसा करने से तो संस्कृत साहित्य के अनभिज्ञ होने की संज्ञा से ही विभूषित होना पड़ेगा।

प्रश्न ५५—वैदिक और लौकिक संस्कृत साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कीजिए।

भारतीय वाङ्मय का प्राचीन भाग संस्कृत भाषा में ही उपलब्ध होता है यह संस्कृत भाषा भी दो रूपों में दृष्टिगत होती है। इसका प्राचीनतम रूप वैदिक संस्कृत के नाम से अभिहित किया जाता है और अर्वाचीन रूप लौकिक संस्कृत नाम से प्रसिद्ध है। वैदिक संस्कृत में निबद्ध साहित्य और लौकिक संस्कृत में प्रणीत साहित्य में भी पर्याप्त साम्य-वैषम्य दृष्टिगत होता है। फलतः तुलना-प्रधान इस युग में इन दोनों प्रकारों के साहित्य का भी तुलनात्मक अध्ययन किया जाने लगा है। यह तुलनात्मक अध्ययन प्रायः प्रतिपाद्य विषय, भाषा, शैली, काव्य-बंध आदि की दृष्टि से किया जाता है और आगामी पंक्तियों में हम भी इसी प्रकार का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करेंगे। अस्तु।

प्रतिपाद्य विषय—प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से वैदिक और लौकिक संस्कृत साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि जहाँ वैदिक साहित्य में लौकिक जीवन के स्थान पर धर्मपरक साहित्य का प्रणयन हुआ है वहाँ लौकिक संस्कृत में धर्म-वर्णन के साथ-साथ लौकिक विषयों और लौकिक जीवन को यथेष्ट मात्रा में अपनाया गया है। लौकिक संस्कृत साहित्य में नए-नए देवी-देवताओं की कल्पना-परिकल्पना भी देखने को मिलती है। उसमें जहाँ ब्रह्मा, विष्णु और महेश की सत्ता को स्वीकार कर अग्नि, वायु, वरुण, मरुत्त आदि को गौण स्थान प्रदान किया गया है वहाँ गणेश, कुबेर, सरस्वती, लक्ष्मी आदि कुछ नये देवी-देवताओं को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है इसी प्रकार से वैदिक साहित्य में पुरुषार्थ के चार अंगों—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—में यदि धर्म और मोक्ष की प्रधानता है तो लौकिक संस्कृत-साहित्य में अर्थ और काम की ओर ही विशेष प्रवृत्ति दीख पड़ती है। वास्तव में दोनों साहित्यों की धार्मिक भावनाओं में पर्याप्त अन्तर है। लौकिक काल में उपनिषदों के प्रभावस्वरूप नैतिक भावना ओत-प्रोत है। यहाँ वैदिक धर्म की सरलता निःशेष हो गई है तथा एकेश्वरवाद के स्थान पर त्रिमूर्त्ति (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) का प्राधान्य हो गया है। कुछ अन्य देवताओं कुबेर, गणेश, कार्त्तिकेय, श्री या लक्ष्मी, दुर्गा या पार्वती, सर्प देवता, गंधर्व और राक्षसों आदि की प्रधानता भी देखने को मिलती है। वैदिक काल में ये विशेष भावों या स्थितियों के द्योतक थे। इनकी वह पृष्ठभूमि अब लुप्त हो गई है। यहाँ पर अवतारवाद और अलौकिक घटनाओं में विश्वास प्रचलित हो गया है। इसी प्रकार से वैदिक साहित्य का समाज जहाँ दो प्रकार का समाज है आर्य और दस्यु—विजेता और विजित का—वहाँ लौकिक संस्कृत साहित्य का समाज निश्चित रूप से वर्णाश्रम व्यवस्था को लेकर चलने वाला पौराणिक ब्रह्म-समाज है। इतना ही नहीं लौकिक संस्कृत साहित्य का समाज सामंतवाद का समाज है, सार्वभौम सम्राटों और राजाओं का समाज।

प्रतिपाद्य की दृष्टि से एक अन्य ध्यातव्य तथ्य यह है कि लौकिक संस्कृत साहित्य में जहाँ अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों, पौराणिक गाथाओं तथा लौकिक घट-

नाओं का अत्यन्त कलापूर्ण वर्णन देखने को मिलता है वहाँ वैदिक साहित्य में इन सभी का लोप है। वैदिक साहित्य में तो सरल और स्वाभाविक भाषा में धार्मिक भावों से ओत-प्रोत साहित्य का ही प्रणयन हुआ है, उसमें लौकिक जीवन की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया है।

भाषा-शैली—प्रतिपाद्य विषय के समान ही भाषा-शैली की दृष्टि से भी वैदिक और लौकिक साहित्य में पर्याप्त असमानताएँ दृष्टिगत होती हैं। लौकिक साहित्य की भाषा वैदिक भाषा के समान सरल न होकर पाणिनि के जटिल नियमों में जकड़ी हुई है। यहाँ पर समासों और अलंकारों का बाहुल्य है। इतना ही नहीं कितने ही व्याकरणिक नियम तो ऐसे हैं जो वैदिक संस्कृत से लौकिक संस्कृत तक आते-आते पूर्णत: परिवर्तित अथवा लुप्त हो गए हैं। उदाहरण के लिए वैदिक संस्कृत में अकारान्त शब्दों का तृतीय बहुवचन दो प्रकार का होता है यथा—'देवेभि:' तथा 'देवै:' किन्तु लौकिक संस्कृत में केवल अन्तिम रूप ही ग्राह्य है। इसी प्रकार से वैदिक संस्कृत में अकारान्त शब्दों का प्रथमा द्विवचन 'आ' प्रत्यय के योग से तथा ईकारान्त स्त्रीलिंग शब्दों का तृतीया एकवचन 'ई' प्रत्यय के योग से बनता है जैसे 'अश्विना' तथा 'सुष्टुनी'। किन्तु लौकिक संस्कृत में 'औ' तथा तृतीया एकवचन में 'आ' प्रत्यय का प्रयोग होता है यथा 'अश्विनी,' 'सुष्टु-तया'। इतना ही नहीं वैदिक संस्कृत में यदि सप्तमी का एकवचन अनेक स्थानों पर लुप्त हो जाता है तो लौकिक संस्कृत में इस लोप के दर्शन नहीं होते, वैदिक संस्कृत में लोट् लकार मध्यम पुरुष बहुवचन में त्, तन्, थन्, तात् आदि प्रत्यय लगते हैं यथा 'शृणोत सुनोतन' आदि तो लौकिक संस्कृत में बहुवचन के अन्तर्गत इस लकार में ऐसे रूपों के दर्शन नहीं होते। कहने का अभिप्राय यह है कि लौकिक संस्कृत साहित्य में वैदिक रूपों की समृद्धि का ह्रास हो गया है। वस्तुतः व्याकरणिक दृष्टि से वैदिक और लौकिक संस्कृत साहित्य में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है।

केवल व्याकरणिक दृष्टि से ही नहीं अपितु शब्द-भण्डार की दृष्टि से भी दोनों प्रकार के साहित्यों में पर्याप्त अन्तर है। वैदिक साहित्य के अनेक शब्दों के

अर्थ लौकिक साहित्य में आकर परिवर्तित हो गए हैं। वैदिक साहित्य से भिन्न लौकिक साहित्य में प्रत्ययों के प्रयोग से नए पद बना लिए गए हैं, कुछ नए शब्द भी लौकिक संस्कृत के साहित्य में देखने को मिलते हैं।

वैदिक और लौकिक संस्कृत साहित्य की भाषा का तुलनात्मक अध्ययन करने पर जिस महत्त्वपूर्ण तथ्य की उपलब्धि होती है वह यह है कि वैदिक साहित्य में जहाँ व्याकरण संबंधी कोई बंधन न था वहाँ लौकिक-संस्कृत साहित्य पाणिनि के नियमों में जकड़-सा गया है। इसी प्रकार से वैदिक साहित्य में जहाँ सरल और थोड़े-से छन्दों एवं अलंकारों का प्रयोग हुआ है वहाँ लौकिक संस्कृत साहित्य में बहुत अधिक कठिन अलकारों और छन्दों के दर्शन होते हैं। लौकिक संस्कृत के छन्द तो पर्याप्त परिश्रम के साथ रचे गए हैं, क्योंकि इन छन्दों में प्रत्येक चरण के वर्णों या मात्राओं की संख्या दृढ़ता के साथ स्थिर की गई है। वस्तुतः काव्य-शास्त्र के विभिन्न अंगों-उपांगों से अपरिचित तथा व्याकरण के विभिन्न नियमों से अनभिज्ञ पाठक लौकिक संस्कृत साहित्य का रसास्वादन करने में तनिक भी सफल नहीं हो सकता। लौकिक संस्कृत साहित्य का रचयिता अपने कल्पना-चातुर्य और अपनी लेखन-शैली की पटुता से पाठकों की प्रशंसा प्राप्त करने का प्रयास करता है, प्रायः हृदय का आश्रय न लेकर मस्तिष्क और बुद्धि को प्रभावित करता है।

वैदिक और लौकिक संस्कृत-साहित्य में शैली विषयक कुछ अन्य असमानताएँ भी पर्याप्त मात्रा में देखने को मिलती हैं। उदाहरण के लिए वैदिक संस्कृत साहित्य में जहाँ गद्य और पद्य दोनों का प्रयोग मिलता है वहाँ लौकिक साहित्य में गद्य का लगभग लोप ही हो गया है। केवल दर्शन और व्याकरण ग्रन्थों में सूत्र शैली के परम संक्षिप्त और दुरूह गद्य के ही दर्शन होते हैं। कथा-साहित्य और नाटकों में साहित्यिक गद्य की छटा देखने को मिलती है किन्तु यह गद्य समास आदि की बहुलता के कारण दुरूह-सा हो गया है।

काव्य-बंध—वैदिक और लौकिक संस्कृत साहित्य में काव्य-बंध विषयक

असमानताएँ भी देखने को मिलती हैं। महाकाव्य, गीतिकाव्य, नाटक, जंतु-कथाओं, लोककथाओं और गद्यकाव्यों का जैसा चारू रूप लौकिक संस्कृत साहित्य में देखने को मिलता है वैसा वैदिक संस्कृत साहित्य में नहीं। इस काल में वैज्ञानिक साहित्य के विभिन्न अंगों—शिक्षा, व्याकरण, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद और धर्म में भारतीय पूर्ण उत्कर्ष को पहुँचे।

अन्ततः कहा जा सकता है कि वैदिक और लौकिक संस्कृत साहित्य में प्रतिपाद्य विषय, भाषा-शैली, काव्य-बंध आदि की दृष्टि से पर्याप्त अन्तर है।

o

परिशिष्ट-२

सहायक ग्रन्थ सूची

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास—पं० बलदेव उपाध्याय
२. संस्कृत साहित्य का बृहद् इतिहास—वाचस्पति गैरोला
३. संस्कृत साहित्य की रूपरेखा—पं० चन्द्रशेखर पाण्डेय
४. संस्कृत सुकवि समीक्षा—पं० बलदेव उपाध्याय
५. संस्कृत नाट्य साहित्य—डॉ० जयकिशन प्रसाद
६. संस्कृत साहित्य का इतिहास—कन्हैयालाल पोद्दार
७. संस्कृत साहित्य का इतिहास—डॉ० कीथ
८. संस्कृत साहित्य का इतिहास—डॉ० कीथ
९. संस्कृत नाटक (हिन्दी अनुवाद)—डॉ० कीथ
१०. संस्कृत साहित्य का इतिहास—वरदाचार्य
११. महाकवि भवभूति—डॉ० गंगासागर राय
१२. संस्कृत कवि दर्शन—डॉ० भोलाशंकर व्यास
१३. संस्कृत साहित्य का इतिहास—डॉ० कमलनारायण टंडन
१४. संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० सत्यनारायण पाण्डेय
१५. कालिदास की लालित्य योजना—हजारीप्रसाद द्विवेदी
१६. भारतीय संस्कृति—गुलाब राय
१७. भारतीय नाट्यशास्त्र की परम्परा और दशरूपक—हजारीप्रसाद द्विवेदी
१८. महाकवि भवभूति—डॉ० गंगासागर राय